गद्य-प्रकाश

सद्गुरुशरण अवस्थी, एम० ए०

गद्य-प्रकाश

[हिंदी के श्रेष्ठ गद्य-लेखकों की कुछ कृतियाँ]

संकलनकर्त्ता, संपादक
तथा
भूमिका रूप में गद्य-गाथा लेखक
सद्गुरुशरण अवस्थी, एम० ए०
(विश्वंभरनाथ सनातन धर्म्म इंटरमीडियट कालेज, कानपुर)

प्रकाशक
इंडियन प्रेस, लि०, प्रयाग
१९३४

मूल्य २)

PRINTED AND PUBLISHED BY K. MITTRA AT THE
INDIAN PRESS, LTD., ALLAHABAD

लेख-सूची

संकलन के संबंध में

यह संकलन इंटरमीडियेट कक्षा के हिंदी-विद्यार्थियों के लिये प्रस्तुत किया गया है। इस बात का यथासाध्य प्रयत्न किया गया है कि हिंदी गद्य के प्राचीन और अर्वाचीन प्रतिनिधि लेखकों की शैलियाँ छात्रों के संमुख उपस्थित की जा सकें। इस छोटे-से संकलन में सभी अच्छे गद्य-लेखकों का समावेश करना कठिन था अतएव जो लेखक छूट गए हैं उनकी कृतियों को स्थानाभाव के कारण संमिलित नहीं किया गया। कुछ ऐसे भी लेखकों को छोड़ना पड़ा है जिनकी कोई भी कृति इंटरमीडियट के विद्यार्थियों को पढ़ाने योग्य नहीं मिली। इस संकलन में संभवतः कुछ ऐसी कृतियाँ भी संमिलित हो गई हों जिनके लेखक हिंदी के युग-प्रवर्त्तक शैली-विधायक हैं। परंतु उनकी कृतियाँ पूर्णरूप से इंटरमीडियट के विद्यार्थियों के ज्ञान के अनुकूल नहीं हैं। इन लेखकों की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। ऐसी दशा में इनकी उच्च रचनाएँ संमिलित कर ली गई हैं। परंतु ऐसी कृतियाँ बहुत ही कम हैं। लगभग और सभी लेख इंटरमीडियट के विद्यार्थियों के लिये बिलकुल उपयुक्त हैं। हमने अपने गत छः वर्षों के इंटरमीडियेट कक्षा के विद्यार्थियों के ज्ञान के साक्षात् अनुभव के बल पर यह संकलन प्रस्तुत किया है।

इस संकलन में विभिन्न शैलियों के साक्षात्कार के साथ साथ विभिन्न विषयों का भी समावेश है। इतिहास, प्रबंध, जीवनी, आलोचना, गद्य-काव्य, कहानी, एकांकी नाटक, सभी

साहित्य के अंगों के नमूने विद्यमान हैं। कारुणिक वर्णन, परिहास-पूर्ण दृश्य, मानसिक तथा सामाजिक गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास, काव्य-कला की मीमांसा, रहस्यवाद की व्याख्या इत्यादि इत्यादि सभी विषयों का इस संकलन में समावेश है।

आरंभ में हिंदी गद्य का एक विवेचनात्मक परिचय दिया गया है। बड़े-बड़े लेखकों की शैलियों का—जिनमें प्रस्तुत संग्रह के संकलनकर्त्ता को छोड़ कर सभी लेखक संमिलित हैं—स्वतंत्र विवेचन किया गया है। यह विवेचन संभव है सबको पसंद न हो; परंतु लेखक ने इसे प्रस्तुत करते समय किसी पक्ष-पात अथवा लगाव से काम नहीं लिया है; वरन् अपने अध्ययन के बल पर वह जिस निष्कर्ष पर पहुँचा है उसी की अभिव्यक्ति की है। अतएव उसे विश्वास है कि विद्वान् और निष्पक्ष व्यक्ति उसके विचारों से सहमत होंगे।

संग्रह के अंत में लेखकों का समय और थोड़ा परिचय दे दिया गया है। प्रत्येक पाठ के कठिन स्थलों को भी समझाने का प्रयास किया गया है। हमको विश्वास है कि प्रस्तुत संक-लन सब प्रकार से इंटरमीडियट के विद्यार्थियों के लिये उप-युक्त होगा।

अंत में उन सब लेखकों और प्रकाशकों के प्रति हम अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं जिनकी सामग्री का प्रस्तुत संकलन में प्रयोग हुआ है।

संकलनकर्त्ता

हिंदी गद्य-गाथा

साहित्य 'साहित्यिक' नहीं होता—

लक्षण ग्रंथकारों ने कविता को 'साहित्यिक' बनाने के लिये जिन उपादानों की सृष्टि की है वे साहित्य के प्राण नहीं हैं।

'साहित्यिकता' के विलासी साहित्य के मर्म को नहीं जानते। वे मूल के स्थान में दल और देवता के स्थान में मूर्त्ति की स्थापना करते हैं। कभी कभी तो 'साहित्यिकता' के बोझ में दबकर साहित्य पिस जाता है। यह बात भारतीय काव्य-विधान की ही नहीं है, वरन् पाश्चात्य देशों में भी कुछ अधिक-कम देखने में आती है। हाँ, यहाँ के लोग उसकी निस्सारता बहुत बाद में समझ पाए और पूर्णरूप से आज दिन भी 'साहित्यिकता' के असली मूल्य को आँक नहीं पाए हैं; परंतु पश्चिम बहुत शीघ्र समझ गया। अब 'साहित्यिकता' का आदर्श ही पलट रहा है। उसकी परिभाषा बदल रही है। आज की 'साहित्यिक' कविता—एक भारतवर्ष को छोड़कर—और वह भी पूर्ण अंश में नहीं —प्राचीन 'साहित्यिक' मापदंड के बिलकुल प्रतिकूल है। वह गद्य के निकट पहुँच गई है, नीरसता, कवित्वहीनता के कारण नहीं वरन् उन प्रतिबंधों को उखाड़ फेंकने के कारण जो 'साहित्यिकता' के नाम पर गद्य और पद्य के बीच में खड़े थे। यह एक बार समझ लेना होगा कि अच्छे साहित्य के लिये, चाहे वह गद्य हो अथवा पद्य, पूर्ण मानसिक विकास की आवश्यकता है। गद्य-पद्य का रूप एक हो जाय इसके लिये उतना ही विलम्ब है जितना 'मनुष्य' को पूर्ण मनुष्य हो जाने में देरी है।

गद्य-पद्य का ऐक्य—

गद्य और पद्य का ऐक्य मानव समाज की उन्नति का अंतिम उत्कर्ष है। सभ्यता के चरम विकास में मानवता का जो चरम स्वरूप हमारे समक्ष आवेगा वह न गद्य में लिखेगा और न पद्य में। उसका बोलना और लिखना गद्य-पद्य से परे और गद्य-पद्य का समन्वय होगा। उसमें मर्म का चुटीलापन होगा, उसमें राग का वेग होगा, उसमें मनोवृत्तियों का विस्फोट होगा; परंतु उसमें साथ ही साथ कथन का सुलझाव होगा, चिंतन का नया खंड होगा, प्रतिपादन-प्रणाली में नया तर्क होगा। आज हम जिसे हृदय के उफान का बेसिलसिलापन समझते हैं, उस समय उसमें हम दर्शन की तार्किकता और प्रतिपादन-प्रणाली का क्रम देखेंगे। आज हमारा हृदय-साधु की जटा की भाँति चिपका हुआ है। इसी लिये उसकी प्रेरणा में बिलगाव नहीं। अतएव रागात्मक चित्र उलझे हुए और अतार्किक निकलते हैं। मस्तिष्क की सहायता से चिंतन के प्रकाश में गुंफित होने के पूर्व उन्हें सुलझाना पड़ता है। तब यह बात न रहेगी। बुद्धि का अंतिम चिंतन ही हृदय का कोष होगा। बाह्य पदार्थों के संपर्क से हृदय में जो कसमसाहट उत्पन्न होगी उसमें बुद्धि का चिंतन-कोष ही फूट निकलेगा और उसी की अभिव्यक्ति हम काव्य में देखेंगे। काव्य में और दर्शन में विषय को छोड़कर कोई भेद न रह जायगा। विज्ञान का और कला का स्थूल-भेद नष्ट हो जायगा। रहस्यवाद का स्थान व्यक्त-वाद ले लेगा और छायावाद को बिंबवाद अपदस्थ करेगा। प्रज्ञात्मक और रागात्मक प्रणाली का भेद मिट जायगा। छंदों के प्रतिबंध को अनैसर्गिक समझ कर छोड़ दिया जायगा, और अभिव्यंजन-प्रणाली संगीत की सूक्ष्म गतियों के बल पर स्वतः निश्चित होगी।

अभी युगों तक यह गद्य-पद्य का भेद चलता रहेगा। इस विभेद को मिटा देने के प्रयास तो आज भी परिलक्षित हो रहे हैं परंतु उस

स्वरूप का संकेत जिसकी ऊपर चर्चा की गई है अभी नहीं मिलता। पशु-स्वरूप में तो जीव राग-मय होता ही है, परंतु विकास के सोपान में 'मनुष्य' की परिस्थिति तक पहुँच कर प्राणी चिंतना की चिनगारी को जितना ही फूँक-फूँककर उद्दीप्त करता रहा है, उतना ही अधिक उन्नत होता जाता है। यहाँ तक कि उसे अपनी भावना-शक्ति को नियंत्रित, अनुशासित और परिमार्जित करते करते चिंतनशक्ति की सजगता के अधीन करना पड़ता है। होते होते चिंतनशक्ति ही केवल भावनिधि की वस्तु रह जाती है और मनुष्य अपने पूर्ण स्वरूप में आकर टिकता है।

साहित्य में पद्य की प्राचीनता—

हम देखते हैं कि विश्व में सर्वत्र जहाँ कहीं भी साहित्य संरक्षित है, सबसे पहले पद्य के ही स्वरूप दिखाई देते हैं, गद्य के नहीं। यह क्यों? यह इसलिये नहीं है कि मनुष्य पर संगीत का प्रभाव बहुत पुराना है और संगीत का अनुशासन मानना सभ्यता का चिह्न है। इसका कारण यही है कि प्रत्येक देश के साहित्य के आदि-युग में मनुष्य गद्य-प्रधान युग की अपेक्षा कम सभ्य थे। भावमय, रागमय, भड़भड़मय परिस्थिति में पले हुए व्यक्ति अनिवार्य रूप से पद्य-मय होते होंगे। संभव है कि उन आदिम कृतियों में भी चिंतना की सामग्री हो और इससे उनके विकास और सभ्यता का ऊँचा मोल आँका जा सके; परंतु एक बात निश्चय ही थी कि आकार-विधान का उनका अभिव्यंजन पद्य और कथित संगीत के रूप में उनकी चिंतना की उन्नति की उलटी गंगा बहाता था। साल दो साल के बच्चों के समक्ष माता जो मन में आता है गाती है; इधर-उधर के बाजे टन टन बजाती है और बच्चों को यह सब बहुत अच्छा लगता है। परंतु बच्चे की संगीत-प्रियता का न तो यह अर्थ है कि विश्व में संगीत-कला का

सार्वभौमिक प्रभाव है और न यह अर्थ है कि बच्चे की समझ अथवा सभ्यता इतनी सजग होती है कि वह माता के गानों का कला की दृष्टि से आनंद लेता है। इसका केवल यह अर्थ है कि पशु-स्वरूप के अव्यक्त बेसिलसिले के नाद से प्राणी के भावात्मक स्वरूप का ऐसा सान्निध्य है कि बचपन में जब तक उसमें चिंतना की सजगता उदय नहीं होती, तब तक वह असभ्यों की भाँति अथवा पशुओं की तरह अपने को उससे बहला लेता है। चिंतना के उदय होने पर भी हम जो उसी प्रकार का लगाव क़ायम रखते हैं उसका भी कारण पुरातन असभ्य संस्कार ही है।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि कवि अथवा कविता-प्रेमी, संगीताचार्य्य अथवा संगीत-रसिक असभ्य अथवा अर्ध-सभ्य हैं। जिस काव्य अथवा संगीत के सिद्धांतों को स्थिर करने में चिंतना को शताब्दियाँ लगी हों, जिनके मनन, अनुशीलन और अध्ययन में चिंतना का विकास और भावना का परिष्कार होता है वह असभ्यता की प्रतिकृति नहीं हो सकती। जब हृदय की स्फूर्ति में बुद्धि के ही उत्कर्ष का स्वरूप है तो फिर असभ्यता की बात ही क्या है। स्मरण-शक्ति की सहायता के लिये, कहते हैं यहाँ के विद्वानों ने ज्योतिष, तर्क, वैद्यक आदि सभी विज्ञान के ग्रंथों को पद्यमय स्वरूप दे डाला। इस स्मरण-शक्ति के मूल में पशुवृत्ति है। वह स्मरण-शक्ति जो नाद का सहारा लेकर ही टिक सकती है—असंस्कृत है। छंदों के मूर्त आकार से हट कर अमूर्त पर टिकने का अभ्यास करना शिक्षित मेधा का उन्नत प्रयास है।

संसार के साहित्य में पद्य क्यों सर्वप्रथम मिलता है—इसके और भी कारण हैं। ९९ प्रतिशत भाव-प्रधान लोगों के लिये गद्य का लिखना नीरस, अनाकर्षक और सारहीन था। यदि उनसे बन पड़ता तो गद्य में बोलते भी नहीं। उस समय की बोलियों के प्रमाण कम

मिलते हैं। बहुत संभव है कि थोड़ा टेढ़ापन उनमें भी हो। बोली में भी पद्य-प्रयोग के लोग कैसे उत्सुक थे, इसके कुछ उदाहरण नाटकों में मिल सकते हैं। बोलने के स्थान में पात्र गाते हैं। इस वृत्ति की भर-मार संस्कृत-रूपकों में देखने में आती है। कुछ नाटक तो ऐसे हैं कि जिनमें गद्य भाग से पद्य भाग कहीं अधिक है, और गद्य में सरलता से लिखे जानेवाले इतिवृत्तात्मक स्थलों को भी तुकबंदियों में बाँध दिया गया है। आज-कल भी पिछलगों की भाँति यह दोष नाटकों में वर्तमान रहता है।

प्राचीन काल में स्मरण-शक्ति बड़ी प्रबल थी, अतएव शास्त्रों का बहुत कुछ स्वरूप लिपि-बद्ध कभी नहीं हुआ। गद्य कैसे दिखाई देता। शासन-संबंधिनी आज्ञाओं का उल्लेख कहीं-कहीं थोड़ी-सी पंक्तियों में उदाहरण के रूप में दिखाई देता है। आने जाने की सुविधायें न थीं। रेल, तार और डाक-घर न थे। पत्रों को कैसे भेजा जाता? छापेख़ानों की अनुपस्थिति में पुस्तकों की प्रतिलिपि करना उतना ही दुस्साध्य था जितना गौरीशंकर पर चढ़ना। सभ्यता का जो कुछ विकास हुआ था वह भावना के कटघरे में बंद था, और छंदों के रूप में ही निर्मित हुआ था।

ये सब भाषाओं के लिये एक-से प्रतिबंध थे। परंतु प्रत्येक भाषा के लिये अपने निजी कारण भी हैं। हिंदी भाषा का विकास तो दशवीं शताब्दी से माना जाता है, परंतु उस समय का गद्य नहीं मिलता। भारतवर्ष की भाषाओं की विकास-धारा से कितनी शाखायें फूटीं, कब कब फूटीं और इनका क्या क्या नाम पड़ा इसका उत्तर हमें साहित्य के इतिहास, भाषा के इतिहास और भाषा-विज्ञान की ओर ले जायगा, परंतु जिस शाखा-विशेष को हिंदी नाम दिया गया उसके स्वतंत्र अस्तित्व की घोषणा का पहला शंखनाद पद्य के रूप में था, गद्य में

नहीं। बाद में कितने ही सुंदर काव्य रचे गए, परंतु सब पद्य में। यह क्रम १७वीं शताब्दी तक जारी रहा।

साहित्य में गद्य का महत्त्व—

यह बात निर्विवाद है कि किसी राष्ट्र अथवा युग के साहित्य की आत्मा से परिचय प्राप्त करने के लिये जिज्ञासु प्रायः सदैव उसके काव्य के उपवन में पदार्पण करते चले आए हैं; कविता का अंचल पकड़कर वे साहित्य की महत्ता से साक्षात्कार करते रहे हैं और ज्ञानकोष के पद्यात्मक अंश से प्रभावित होकर उन्होंने साहित्य के मूल्य को आँका है। किंतु इसका यह अभिप्राय नहीं कि जनसाधारण में प्रचलित विचार-विनिमय के साधन अर्थात् गद्य का साहित्य के सृजन-उद्योग में कोई अंश ही नहीं रहता। अपने नित्य-प्रति के संभाषण में जिस कथन-प्रणाली को आधार बनाकर हम अपने हृद्गत भाव, शोक, हर्ष, रोष आदि प्रकट करते हैं; जिसे सभी आबाल-वृद्ध स्त्री, पुरुष, समान रूप से व्यवहार में लाते हैं, उसकी उपादेयता कविता अथवा पद्य के संमुख नगण्य नहीं है। आधुनिक समाज में जब कि शिक्षा, संस्कृति और साहित्य का विकसित और प्रौढ़ स्वरूप हमारे संमुख है, हम देखते हैं कि पद्य ही साहित्य के शृंगार का एकमात्र साधन नहीं है। इस वैज्ञानिक युग में ऐहिकता के प्रति ज्ञानार्जन अनिवार्य-सा हो रहा है। ज्ञान के विविध स्वरूप और विभिन्न क्षेत्रों की ऊहापोह अब हमारा अभीष्ट रहता है। नित्यप्रति जनता में लेख्य विषयों की गणना-वृद्धि होती जाती है। ऐसी स्थिति में साहित्य-सरोवर में जल-विहार करने के हेतु हम पद्य-रूपी एक ही डांड़ के सहारे अपनी जीवन-नौका को लेकर ध्येय तक नहीं पहुँच सकते।

हम अपने साधारण क्रियात्मक जीवन में, अपने आलाप-संभाषण और वाद-विवाद में संसार की ऐहिकता से लिप्त रहते हैं। स्वयं कवितामय होने का अवकाश और सौभाग्य कभी कभी मिलता है।

यही कारण है कि हमारी गति और प्रणाली अधिकांशतः विचारात्मक अर्थात् बुद्धि, अनुभव और दुनियादारी से संबंधित है। जीवन के संघर्ष में कविता उपेक्षित है; इसमें कविता का वहुत कम अंश है। गद्य हमारे लिये बागडोर है, इसका महत्त्व सर्वतोमुखी है।

किसी भी जाति के बौद्धिक विकास की कसौटी उसकी वैज्ञानिक उन्नति होती है। विभिन्न कलाओं का विकास, उद्योग-धंधों की प्रचुरता, सामाजिक उन्नति आदि से ही राष्ट्र शिक्षित कहाता है, अतः हमारे मानसिक स्फुरण में गद्य को महत्ता और उपादेयता सर्वमान्य है। इसके अतिरिक्त स्वतः साहित्य के भी अनेक ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ पद्य की पहुँच नहीं; और यदि ऐसे स्थलों में पद्य अपना पैर रोपता है तो यह उसकी हिमाक़त और लेखकों की उद्दंडता ही समझना चाहिये। पदार्थ-विज्ञान, समाज-विज्ञान (चिकित्सा-क़ानून, अर्थ, राजनीति आदि) तथा अन्यान्य उपयोगी कलाओं का विवेचन यदि पद्यबद्ध सम्मुख आए तो हास्यास्पद और अनुचित होगा। इस संबंध में हमें संस्कृत वालों की झक का स्मरण हो आता है जिन्होंने ज्योतिष, तर्क, मीमांसा आदि को पद्यबद्ध किया था। उनका यह प्रयास अपने समय की समाज-गत रुचि को देखते हुए भले ही युक्तिसंगत कहा जा सके; किंतु यह स्वाभाविक है कि केवल पद्य में बाँधकर हो ज्योतिष, तर्क, धर्म्म-शास्त्र आदि का प्रचार और प्रसार जनसाधारण तक नहीं किया जा सकता। एक शिक्षित राष्ट्र का निर्माण गद्य के बल पर ही होना स्पष्ट है। गद्य ही मानव-जीवन की समीक्षा-प्रणाली है, और यही वास्तविक संसार के चित्रण की उपयुक्त तूलिका।

पद्य के पूर्व-प्रवेश के कुछ और कारण—

साहित्य में गद्य के समुचित स्थान का निर्देश करते समय स्वभावतः प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब गद्य ही राष्ट्र की शिक्षोन्नति का

महत्त्वपूर्ण साधन है तो प्रत्येक देश के साहित्य में पद्य का प्रचार अपेक्षाकृत पूर्वगामी क्यों देखा जाता है ? इस संबंध में हम ऊपर संकेत कर चुके हैं। इस तथ्य की ऊहापोह बहुत कुछ ऐतिहासिक घटना-क्रम पर आधारित है, साथ ही इसके कुछ प्राकृतिक कारण भी हैं। समाज-शास्त्र और सभ्यता का इतिहास इस बात का द्योतक है कि आदिमकाल में जब मनुष्य ने कोई उल्लेखनीय सामाजिक दृढ़ता न अंगीकार की थी हमारी आवश्यकताएँ न्यून थीं, जीवन एक संघर्ष न था और संतोष सहज-प्राप्त था। तत्वचिंतन के स्थान पर आत्मगत-भावोद्वेगों के नैसर्गिक अभिव्यंजन में ही सुख की उपलब्धि थी, तथा ज्ञान का भंडार परिमित था। साहित्य का प्राथमिक स्वरूप ऐसी स्थिति में व्यंजनात्मक हुआ। उसमें विश्लेषण अथवा आलोचना का कोई अंश न होने से भाषा का आरंभ अधिकतर कविता से होता है।

गद्य के आविर्भूत होने में विलंब होने का कारण उस समय की देश की शासन-व्यवस्था अथवा अव्यवस्था से उत्पन्न मनुष्य के जीवन का अस्तव्यस्त और आपदाकुल होना भी है। तब आक्रमण, युद्ध और पलायन नित्य की घटनायें थीं। किसी विषय के गूढ़ चिंतन का किसी को अवकाश न था तथा शांत वातावरण में कुछ दिनों रहकर किसी विधेयात्मक साहित्य का प्रणयन करना एक दुस्तर कार्य था। धर्म अथवा युद्ध ही ऐसे विषय थे जिनसे समाज की रुचि आकृष्ट होती थी। इस कारण भी धर्म-प्राण संस्कृत-साहित्य का रुझान पद्य की ओर ही रहा। समाज का ज्ञान-कोष बहुविषयक न था और न बहुत गहन ही। उस समय एक प्रथा-सी थी वर्णित विषय को संक्षेप में कहने की और ऐसे ढंग से कहने की कि वह जनरव बन जाय। विषय के पद्यात्मक अंश को स्मरण रखना गद्य की अपेक्षा कुछ सरल होता भी है, तथा आशय को संक्षेप में स्पष्ट कर देने की पद्य में कुछ अद्भुत क्षमता होती है। संभवतः पद्य के प्रसार का यह भी एक प्रयोजन रहा है।

हमारा सामाजिक जीवन जब तक पार्थिवतापूर्ण नहीं होने पाता वह कविता का कानन रहता है। सभ्यता के मंडप के नीचे जब तक संसार नहीं आया था, उसकी मानसिक अवस्था दुनियादारी से दूर थी। तब हमारी व्यावहारिक बुद्धि में न अधिक वेग आया था, न विशेष प्रबलता ही दिखाई देती थी। सरल जीवन और अमल धवल मानस के मध्य में वे दिवस काव्योचित वातावरण के विधायक थे। वायु में अंतर की स्वर-लहरी निनादित रहती थी अतः उस समय तक गद्य की आवश्यकता अथवा उपयोगिता कोसों दूर थी। इसका कुछ ऐसा प्रभाव हुआ कि पद्य-रचना की एक दीर्घकालव्यापी बयार-सी बह चली। जब संस्कृत के आधार पर अपभ्रंश भाषाओं में साहित्य का सृजन होने लगा तब भी पद्य ही विषय-प्रकाशन का प्रचलित साधन था।

संस्कृत का साहित्य-कोष यद्यपि पर्याप्त मात्रा में गद्यांश था; किंतु संस्कृत प्रचलित व्यावहारिक बातचीत का माध्यम न थी। लोगों में इसे पढ़ने का धैर्य न था, वे इससे उदासीन थे। अपनी प्रचलित भाषा में पाठ्य पुस्तकों की पद्यात्मक शैली उन्हें ग्राह्य थी, किंतु संस्कृत-विद्वानों के गद्य से वे ऊबते थे। वास्तव में बाण और दंडी प्रभृति संस्कृत के वाग्मीश्वर जैसा गद्य लिखते थे वह था भी अत्यधिक अलंकारिक और आडंबरपूर्ण। इनके गद्य की भाषा पद्य का जामा ओढ़े, कविता-विषयक शुष्क उपादानों से अत्यधिक आवृत है। गद्य का यह वेश जन-रुचि को पसंद न आया और इसका कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि हिंदी लेखकों ने हिंदी गद्य की ओर ध्यान ही नहीं दिया। लोग रीतिकाव्य लिखना ऐसे गद्य से अपेक्षाकृत सरल और सुबोध समझकर पद्य में ही अपनी उक्तियों का चमत्कार दिखाते रहे। संस्कृत गद्य से अरुचि होने के कारण हिंदी-काव्य के क्षेत्र में भी एक ऐसी धारा का उद्गमन हुआ जिसमें अति साधारण विषय वर्णन को पद्य के ढाँचे में ढालकर कविता का रूप दिया गया था।

हिंदी गद्य का आविर्भाव—

वर्तमान प्रचलित गद्य की भाषा (खड़ी बोली) का उद्गमस्थल अथवा आविर्भावकाल का ठीक-ठीक निर्देश करना कठिन है। हिंदी-गद्य का आरंभ विक्रमीय संवत् १४०७ के लगभग माना गया है। यह हिंदी-गद्य वस्तुतः ब्रजगद्य कहाता है। गोरखनाथ ने अपना 'सिष्ट-प्रमाण' इस समय गद्य में लिखा। इस समय के गद्य-लेखकों में गोरखनाथ, गोकुलनाथ, गंगभट्ट, नाभादास, जटमल, अमरसिंह कायस्थ आदि की रचनायें प्रकाश में आ चुकी हैं। इन गद्य-लेखकों की भाषा तथा शैली अत्यंत अनगढ़, अनियंत्रित तथा शिथिल है। वास्तव में इस युग की भाषा के रूप निरूपण की जो कुछ भी सामग्री उपलब्ध हो सकी है, वह पंडिताऊ पोथियों, वैष्णव उपदेशों तथा राजकीय पत्र-व्यवहार में ही देख पड़ी है। यह ब्रजगद्य स्थायी न बन सका। टीकाकारों के हाथ में पड़कर यह अकाल में ही नष्ट हो गया। सत्रहवीं विक्रमीय तक इस ब्रजगद्य का पूर्ण ह्रास हो गया।

गोकुलनाथ-कृत ब्रजभाषा के दो गद्य-ग्रंथ "चौरासी वैष्णवों की बार्ता" तथा "दो सौ बावन वैष्णवों की बार्ता" का उल्लेख भी यहाँ प्रासंगिक है।

किंतु गद्य-लेखन का यथेष्ट प्रचार न होने के कारण, ब्रज-गद्य पनप न पाया। काव्यों की टीकाओं का गद्य इतना लचर, भ्रष्ट और अशक्त दिखाई दिया कि उसकी लड़खड़ाहट और अपांगता ने मूल का भी मूलोच्छेदन कर डाला।

अतः आगे चलकर गद्य में स्थूल ब्रज के स्थान पर खड़ी बोली सुगमता से ग्रहण कर ली गई। यह खड़ी बोली अपने आदिरूप में केवल बोल-चाल में व्यवहृत होती थी। तत्कालीन दिल्ली और मेरठ तथा उसके समीप की प्रचलित भाषा के नमूने खड़ी बोली का प्रामाणिक निर्माण करते हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि वर्तमान हिंदी (खड़ी बोली)

का प्रारंभिक स्थल मुग़ल कालीन दिल्ली का समीपवर्ती प्रांत था। संयोग पाकर खड़ी बोली पहेलियों, मुकरियों और ग्राम्य गीतों में आई। इस समय संस्कृत का गौरव बहुत कुछ लुप्त हो चुका था और मुस्लिम-संस्कृत के अणु तथा उनकी भाषा का रंग हमारी बोली पर अधिकाधिक चढ़ रहा था। वास्तव में उस समय की व्यवहृत भाषा का "हिंदी" नाम मुसल्मानों द्वारा ही दिया हुआ है। सर्वप्रथम खुसरो ने खड़ी बोली में पहेलियाँ गूंथ कर हिंदी को साहित्य में वरता। पंद्रहवीं शताब्दी में कबीर ने भी इसे अपनी कविता में स्थान दिया और उसकी व्यंजनाशक्ति बढ़ाई। किंतु अभी तक इस भाषा में गद्य का निर्माण नहीं के बराबर हुआ था। इस काल में प्रौढ़ गद्य का सृजन न हो सकने का एक कारण यह भी था कि इस समय तक किसी देश-व्यापी आंदोलन की चर्चा न चली थी, न समाज में उपदेश और वाद-विवाद का ही प्रचार दिखाई देता था। खड़ी बोली में अभी तक भावप्रकाशन का यथेष्ट बल भी न आया था। वास्तव में मनोविनोद ही साहित्योन्नति के समारंभ का हेतु बना। खड़ी बोली का आरंभ कहानी-कथाओं द्वारा ही देखा गया है।

बहुत शीघ्र ही खड़ी बोली के क्षेत्र का विस्तार होने लगा। इसका प्रसार उत्तर-भारत तक ही सीमित नहीं रहा, वरन् बंगाल, बिहार और दक्षिण में भी इसने द्रुतवेग से प्रवेश पाया। इसके प्रचार और विस्तार में देश की ऐतिहासिक घटनाओं ने असाधारण योग दिया। दिल्ली की अवनति, मरहठों के उत्कर्ष, और फिर अँगरेज़ों के आगमन से इसके विकास के उपादान संग्रहीत होते गए।

मुसल्मानों की राजकीय सत्ता के छिन्न होते ही उत्तर और दक्षिण दोनों ही ओर से आक्रमण होने लगे और दिल्ली का शासन डगमगाने लगा। अहमदशाह दुर्रानी और मरहठों के आघातों से बचने के लिये दिल्ली और आगरा का वैभव खिसककर बंगाल और बिहार में

जा टिका। इन मुसल्मानों के साथ खड़ी बोली बहुत शीघ्र सुदूर-पूर्व तक व्याप्त हो गई। इन्हीं दिनों अँगरेज़ों की भी बंगाल में प्रभुता और प्रधानता बढ़ रही थी। भारत और भारतीयों के जीवन में अँगरेज़ों ने ज्यों-ज्यों अपने अधिकारों का क्षेत्र-विस्तार किया, एक वैज्ञानिक युगांतर घटित होता गया। एक ओर वाणिज्य और व्यापार का विकास दृष्टिगत होता था; दूसरी ओर आवागमन के विभिन्न नवीन साधनों की उत्पत्ति होती जाती थी। मुद्रणकला का प्रचार सम्यक् रूप से हो ही चला था, अतः समाज में शिक्षित समुदाय की वृद्धि हुई और गद्य-साहित्य की खपत होना अधिकाधिक संभव हो गया। अब भारतीय जनता विभिन्न वैज्ञानिक विषयों से उत्तरोत्तर परिचित हो रही थी; समाजशास्त्र, राजनीति, न्याय, अर्थशास्त्र, चिकित्साशास्त्र आदि विषयों की पुस्तकों की आवश्यकता स्पष्टतर हुई। साथ ही रेल, तार, डाकख़ानों आदि ने हमारे रहन-सहन, आचार-विचार में परिवर्तन पैदा कर दिया। इस नवीन युग के नितांत नवीन वायुमंडल में लोगों की साहित्यिक रुचि में उलटफेर होना स्वाभाविक था। लेखकों में पूर्वकालिक लक्षण-काव्य के प्रति उदासीनता एवं उपेक्षा के भाव उदित हुए और क्रमशः गद्य के समीचीन स्वरूप का कलेवर सँवारा जाने लगा।

इस समय समाज के प्रत्येक अंग में ऐहिक तथा जीवनोपयोगी साहित्य के लिये गद्य अपेक्षित था। अँगरेज़ों को भी पारस्परिक परिचय बढ़ाने के लिये बोलचाल की भाषा का आश्रय लेना पड़ा। ईसाइयत के प्रचार में भी खड़ी बोली ही उपयुक्त माध्यम थी। इस प्रकार खड़ी बोली सरल और आम-फ़हम होने के कारण मुसल्मानों की भाँति अँगरेज़ों द्वारा भी अपनाई गई। मुग़ल-दर्बारियों के ही सदृश अँगरेज़ों को भी अपने वाणिज्य के उत्कर्ष में ईस्ट इंडिया कंपनी के लिये जो बाबू रखने पड़े उन्हें देश की प्रचलित भाषा खड़ी बोली में व्यवहार-कुशल होना

अनिवार्य था। गद्य में विकास और शोधन के चिह्न भी अब स्पष्ट हो रहे थे। उदाहरणार्थ—विरामादि चिह्नों के प्रयोग को लोग समझने लगे थे और व्याकरण-संबंधी नियम-बद्धता स्वीकृत हो रही थी।

प्रथम चार आचार्यों का सापेक्षिक योग—

चारों गद्यकारों का रचना-काल संवत् १८६० का समीपवर्त्ती है। इनमें से पूर्णतः मौलिक गद्य-लेखक इंशा साहब ही ठहरते हैं। आपकी शैली भी स्वतंत्र है। जिस प्रकार इनकी "रानी केतकी की कहानी" का कोई आधार-ग्रंथ न था, उसी तरह इनका आलेख भी किसी पूर्ववर्त्ती के गद्य का अनुकरण नहीं कर रहा है। उसका वेष नितांत नवीन और चाल-ढाल निराली ही है; किंतु इसमें केवल मनोविनोद की ही सृजन-शक्ति थी, अतः एकांगी होने के कारण इसे हम प्रौढ़ गद्य का स्वरूप नहीं स्वीकार करते। इसी प्रकार लल्लूलालजी की रचना भी यद्यपि हिंदी-गद्य का प्रारंभिक साहित्यिक प्रयोग भले ही कहाता है किंतु इसमें व्यावहारिकता की कमी तथा समय से उल्टे लौटने की प्रवृत्ति होने से हिंदी का बोधगम्य स्वरूप नहीं मिलता। आपकी शैली का प्रयोग सार्वभौमिक भी नहीं है। हाँ, मुंशी सदासुखलाल और सदल मिश्र की भाषा में हमें आधुनिक हिंदी का मूल स्वरूप लक्षित हो जाता है। मिश्रजी की शैली लल्लूलालजी की अपेक्षा अधिक गठीली और विशद भी है। व्यंजना और भावप्रकाशन की दृष्टि से वह अधिक सचिक्कण जँचती है। किंतु सदासुखलाल का आविर्भाव चूँकि मिश्रजी से पहले का है, तथा उनमें भाषा-संबंधी उपरोक्त गुणों के अतिरिक्त यह और महत्त्वपूर्ण विशेषता पाई जाती है कि आपने किसी अन्य के आदेशानुसार नहीं, प्रत्युत स्वांतः सुखाय ही अपनी लेखनी से 'भाखा' के लुप्त-प्राय प्रभाव को फिर से जागृत किया है—आपका स्थान अधिक महत्त्वशाली है। शैली की दृष्टि से भी मुंशी

जी की भाषा सर्वत्र व्यवहारोपयोगी है, और इसमें आधुनिक गद्य का आदि-रूप प्रचुर मात्रा में देखने को मिल जाता है। अतएव सदासुख जी को हिंदी-गद्य के निर्माणकों में प्रथम स्थान देना चाहिए।

संवत् १८६० के लगभग हिंदी-गद्य की स्थापना तो हो गई, किंतु विकास का क्रम न आरंभ हो पाया। खड़ी बोली के इन अधिष्ठाताओं के सद्प्रयास की प्रतिक्रिया बहुत दिनों बाद तक न देख पड़ी। गद्य-रचना ने इसके बाद ही एक दीर्घ काल-व्यापी निष्क्रियता का अवकाश ले लिया। सिपाही-विद्रोह (सं० १९१४) के आरंभ तक फिर कोई उल्लेखनीय गद्य का पता नहीं मिलता। विद्रोह के बाद जब देश का सामाजिक और राजनैतिक वायुमंडल बहुत कुछ परिवर्त्तित हो गया और साथ ही समाज के जीवन में कुछ स्थिरता आगई तब हिंदी-गद्य को परंपरागत साहित्य का स्वरूप और गौरव मिला। विगत ६० वर्षीय गद्य-क्षेत्र की निष्क्रियता के कारणों की ओर भी यहाँ संकेत कर देना प्रासंगिक जान पड़ता है।

लगातार ६० वर्ष तक गद्य के अभाव के कुछ कारण—

अँगरेज़ों ने अपने आरंभिक काल, आगमन के दिनों में भारतीय भाषा से परिचित होने के निमित्त हिंदी-लेखकों को प्रश्रय दिया था। उन्हें ईस्ट इंडिया कंपनी में बाबूगीरी तथा कालेज में अध्यापन कार्य देकर उनसे हिंदी सीखी। जब उनकी व्यापार-व्यवहार-संबंधी इस आवश्यकता की पूर्त्ति हो गई तो भाषाविद् गद्य-लेखकों का यह आधार लुप्त हो गया, ऐसी स्थिति में हिंदी-गद्य के विकास का यह द्वार भी बंद हो गया। इसके अतिरिक्त "नासिकेतोपाख्यान" और प्रेमसागर जैसी हिंदी की पुस्तकें जो गिलक्रिस्ट साहब के निर्देशानुसार लिखी गई थीं वे अँगरेज़ों को प्रभावित न कर सकीं। इन पुस्तकों द्वारा हमारी सांस्कृतिक अवस्था का बहुत बुरा चित्र उनको मिला। कंपनी के

कर्मचारियों को अब अँगरेज़ी शिक्षित बंगाली बाबुओं की आवश्यकता थी; अतः उन्होंने अँगरेज़ी पठन-पाठन का क्षेत्र तैयार करने का प्रयास आरंभ कर दिया। मेकाले की शिक्षा-योजना को व्यापक रूप धारण करते ही अँगरेज़ी शिक्षा का प्रसार और आदर होने लगा। इस प्रकार हिंदी न अब अँगरेज़ों के संपर्क में जीविकोपार्जन का साधन थी और न किसी अन्य प्रतिष्ठित राजदर्बार ही की साहित्यिक भाषा। अँगरेज़ों ने जब राज्य-विस्तार की ओर अपनी सारी शक्तियाँ लगा दीं तो देश में भी यत्र तत्र राजनैतिक विपर्यय दृष्टिगत होने लगा। समाज में अशांत वातावरण प्रकट हो जाने से साहित्य-निर्माण का फिर सुयोग कहाँ? इन दिनों देश में कोई धार्मिक आंदोलन भी प्रचलित न था जो विषय के खंडन मंडन करने तथा मतमतांतर को प्रकाश में लाने के लिये गद्य-ग्रंथ लिखे जाते। हाँ, ईसाइयत का प्रसार निर्बाध गति से बढ़ रहा था। ईसाई धर्म-प्रचारकों ने अपने कार्य-संपादन में हिंदी से सहायता भी ली। बाइबिल का अनुवाद सुबोध भाषा में अवश्य हुआ, किंतु शासनकार्य तथा न्यायालयों की बोली तथा लिपि उर्दू और फ़ारसी ही थी। इस समय हिंदी खड़ी बोली का वह रूप विकसित हुआ जो उर्दू लिपि में लिखा जाता था और जिसमें न केवल फ़ारसी और अरबी लिपि की ही प्रधानता रहती थी प्रत्युत उनके व्याकरण का भी हिंदी खड़ी बोली के साथ बेजोड़ मिलाप दिखाई देता था। खड़ी बोली का यह स्वरूप उर्दू भाषा के नाम से विख्यात हो गया। यह उर्दू भाषा कभी कभी हिंदी लिपि में भी लिखी गई; किंतु कचहरियों में उर्दू लिपि का ही अधिकार था। इस प्रकार उर्दू को प्रोत्साहन मिलने से जनता में भी उर्दू के प्रति अनुरक्ति बढ़ी। संवत् १८९० में दिल्ली से एक उर्दू अख़बार प्रकाशित हुआ। सारांश यह कि एक ओर तो मेकाले की शिक्षा-योजना के अनुसार अँगरेज़ी शिक्षा के प्रचार से हिंदी को इस काल में धक्का लग

रहा था, दूसरी ओर हिंदी के समक्ष उर्दू की उन्नति पहले प्रारंभ हो गई।

संवत् १९०२ में राजा शिवप्रसाद ने बनारस से "बनारस अख़बार" निकाला। इसकी लिपि यद्यपि नागरी थी किंतु शब्द-भंडार उर्दू ही। इस समय उर्दू ही शिक्षित वर्ग की खड़ी बोली हो रही थी।

राजा शिवप्रसाद की शैली का विरोध—

राजा शिवप्रसाद ने पाठ्यक्रम के उपयोगी कहानियाँ लिखी हैं जैसे 'राजा भोज का सपना', 'वीरसिंह का वृत्तांत', 'आलसियों का कोड़ा' आदि। किंतु वे अपनी अस्वाभाविक 'आमफ़हम' भाषा को समाज-प्रचलित रूप देने में असफल ही कहे जायँगे। देश की सांस्कृतिक वृत्तियाँ खड़ी बोली को इस परिवर्तित स्वरूप में अपने अंक में भला कैसे स्थान देतीं। लोगों को उसका यह परिवर्तन अखरा और राजा लक्ष्मणसिंह अपने पत्र 'प्रजा-हितैषी' को लेकर सम्मुख आए।

राजा लक्ष्मणसिंह—

राजा लक्ष्मणसिंह के पत्र 'प्रजा-हितैषी' में भी 'अभिज्ञान शाकुंतल' का अनुवाद शुद्ध और सरस हिंदी में प्रकाशित होता था। इसने हिंदी को सुधारने में प्रशंसनीय और महान् उद्योग किया। 'शकुंतला' की भाषा में हिंदी के ठेठ शब्दों के साथ, बहुत दिनों पहले से प्रचलित सरल, सरस संस्कृत-शब्दों का समावेश है। भाषा का शोधन जैसा कुछ आपके हाथों हुआ वह स्मरणीय रहेगा।

इसी समय स्वामी दयानंद आर्य-समाज की पताका लेकर अवतीर्ण हुए। अपने धार्मिक आंदोलन को लोक-व्यापी बनाते हुए उन्होंने हिंदी के भाषा-विषयक संघर्ष में अपना निजी स्थान बना लिया।

स्वामी दयानंद तथा उनके अनुयायी—

स्वामीजी संस्कृत के विद्वान् तथा काठियावाड़-निवासी होने के कारण गुजराती के अच्छे ज्ञाता थे। उनकी हिंदी संस्कृत के पंडितों की है। उसमें रोचकता और शालीनता न होकर, संस्कृत के तत्सम शब्दों के आधिक्य से कर्कशता और रूखापन आ गया है। स्वामीजी 'सब' के लिये 'सर्व' प्रयुक्त करते थे। आपके लिखे 'सत्यार्थ-प्रकाश' की हिंदी वस्तुतः 'आर्यभाषा' है; उसमें खड़ी बोली की सुगठित सजीवता नहीं।

स्वामी दयानंदजी के अतिरिक्त अन्य दो और लेखकों ने आर्यसमाज के मंच से हिंदी लिखी। ये भीमसेन शर्म्मा और ज्वालादत्त शर्म्मा हैं। ये दोनों सज्जन स्वामीजी के विश्वसनीय और निकटवर्त्ती शिष्य थे। आर्यसमाज का प्रचार करते हुए इन्होंने हिंदी का भी प्रचार-कार्य किया। पं० भीमसेन का हिंदी में संस्कृत-शब्दों का समर्थन निराला है। उर्दू शब्दों तक को आपने संस्कृत का जामा पहिनाया, और संस्कृत के धातुरूपों में उनकी उत्पत्ति ढूँढ़ी है। 'शिकायत' के लिये आप 'शिक्षायत' लिखते थे। संस्कृत को ही आपने हिंदी शब्द-कोष का एकमात्र स्रोत स्वीकार किया है।

इस समय तक हिंदी के सभी लेखक अपनी-अपनी शैली रखते थे। हर एक अपने अलग रंग से भाषा पर रंग चढ़ा रहा था। एक ओर यदि राजा शिवप्रसाद उर्दू की हामी भरते थे तो ठीक उनके विपरीत स्वामी दयानंद और भीमसेन आदि संस्कृत को एकमात्र आधार मानते थे। वास्तविक हिंदी का स्वरूप पहिचाननेवाले राजा लक्ष्मणसिंह प्रभृति इने-गिने सज्जन ही थे। ऐसे समय में भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने अपनी प्रतिभा-द्वारा हिंदी को एक युगांतरकारी योग दिया। अब सिपाही-विद्रोह शांत हो चुका था, अँगरेज़ों के शासन की नींव

दृढ़ हो गई थी और समाज में शांत वातावरण देख पड़ने लगा था। अतः अब लेखकों में भाषा-विषयक राष्ट्रीयता का उदय होना स्वाभाविक था।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी—

भारतेंदुजी अपनी असाधारण मेधा-शक्ति-द्वारा साहित्याकाश में खूब चमके। आपके पिता बाबू गोपालचंद्र ब्रजभाषा के बड़े कुशल लेखक तथा कवि थे। पिता द्वारा भारतेंदुजी को बाल्यावस्था में ही काव्यानुरक्ति हुई। सर्व-प्रथम इनकी प्रतिभा ने कविता-कानन में ही विहार किया। युवाकाल में पदार्पण करते करते इन्होंने साहित्य के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अपनी छाप लगा दी। बँगला से रूपांतरित "विद्यासुंदर" नाटक आपकी पहिली कृति है। इसके उपरांत आपने "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" शीर्षक एक मौलिक प्रहसन लिखा। फिर तो "कर्पूरमंजरी", "सत्य हरिश्चंद्र", "चंद्रावली नाटिका", "भारतदुर्दशा", "अंधेर नगरी", "नील देवी" आदि कई नाटकों का प्रणयन किया। ये नाटक ऐतिहासिक, पौराणिक, और सामाजिक सभी वर्ग के हैं।

देश इस समय शिक्षा की ओर द्रुतवेग से अग्रसर हो रहा था। शिक्षित वर्ग की साहित्य के प्रति परिवर्धित अभिरुचि को निहारकर और संभवतः बँगला के नाटक उपन्यासों की ओर दृष्टि डालकर ही उपरोक्त नाटकों की रचना हुई। भारतेंदुजी ने अपने छोटे-से साहित्यिक जीवन में तीन पत्रिकायें निकालीं "कविवचनसुधा" "हरिश्चंद्र मेगज़ीन" अथवा "हरिश्चंद्र चंद्रिका" और "बाला-बोधिनी"। आप स्त्री-शिक्षा के प्रबल पक्षपाती थे। "बाला-बोधिनी" का जन्म स्त्रियों में शिक्षा-प्रचार करने के ही उद्देश्य से हुआ था। इन्होंने इतिहास-विषयक पुस्तकें भी लिखीं। "काश्मीरकुसुम",

"बादशाह-दर्पण" लिख चुकने के बाद वे उपन्यास रचना की ओर झुके; किंतु उनके शीघ्र परलोकगमन से कोई उपन्यास पूर्णरूप से देखने को न मिला।

भारतेंदुजी की प्रतिभा का विकास सर्वतोमुखी था। आपने भाषा और साहित्य दोनों का ही रूप सँवारा। काव्याराधन में संलग्न रहते हुए भी उन्होंने गद्य की भाषा का जैसा महत्त्वपूर्ण परिमार्जन किया है, वह वास्तव में उन्हीं का काम है। उनके नाटकों से हिंदी में एक नवीन क्षेत्र की स्थापना हुई। समाज का जीवन अब जिस प्रकार अधिक शिक्षित और सुसंस्कृत हो रहा था, साहित्य उतना उन्नत न हो पाया था। समाज से साहित्य पिछड़ रहा था। भारतेंदु के मौलिक नाटकों से जन-रुचि संतुष्ट हुई तथा समाज और साहित्य के मध्य संधि स्थिर हुई।

अनेक लोगों के मत से भारतेंदु ने गद्य की सेवा गौण-रूप से ही की है। उनका प्रधान व्यक्तित्व कवि और नाटक-कार का ही है; किंतु तब भी उनके नाटकों का गद्य उनकी हिंदी-विषयक सिद्धांत रूप से स्वीकृत-शैली का परिचायक है। उर्दू और संस्कृत दोनों के ही आवरण से हिंदी के वास्तविक परिधान की आपने रक्षा की है। हिंदी को राष्ट्रीय रंग से रँगने का संकल्प धारण किए हुए देशहितैषी भारतेंदुजी को राजा शिवप्रसाद की उर्दू-दानी अत्यंत हेय मालूम होती थी। इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने उर्दू को कोई स्थान दिया ही नहीं। भारतेंदु-सदृश व्यक्ति से भाषा-विषयक किसी प्रकार का पक्षपात संभव न था। आपने उर्दू शब्दों का व्यवहार किया किंतु एक नवीन सुंदरता से। उर्दू में प्रयुक्त शब्दों को पहले अपने खड़ी बोली का हिंदी स्वरूप दिया और अपनी हिंदी-विषयक राष्ट्रीय भावना की रक्षा करते हुए उनका व्यवहार किया। 'कफन', 'जाफत', 'खजाना' आदि शब्दों के नीचे आप

विंदु नहीं लगाते थे। इसी प्रकार संस्कृत के भी तत्सम शब्दों के स्थान पर आपने सुंदर तद्भव शब्द ही प्रयुक्त किए हैं, जैसे 'हिया', 'भलेमानुस', 'आपुस' 'लच्छन', 'आँचल', 'जोबन', 'अचरज' आदि। जिन बाहरी शब्दों को आपने मिलाया है वे आज हिंदी के निजी हो गए हैं। आपके इस सदुद्योग से हिंदी में स्थिरता के साथ साथ समीचीनता आ गई। वास्तव में इस दृष्टि से भी आपका स्थान अत्यंत महान् है। उर्दू और संस्कृत के बीच संधि-स्थल बनाने में और इन दोनों शैली-विषयक प्रभावों में परस्पर ग्रंथि-बंधन करने में आप ही पूर्ण रूप से सफल हुए हैं। इन सब कारणों से हम कह सकते हैं कि भाषा का मार्जन जैसा कुछ भारतेंदुजी के हाथों हुआ है वैसा आपके पूर्ववर्त्ती अथवा समसामयिक साहित्यकारों में से किसी ने भी नहीं किया। आपकी लिखी हिंदी में शिष्टता और नागरिकता है; यहाँ हमें प्रतापनारायण मिश्र की सी ग्रामीणता नहीं मिलती। नाटकों की भाषा और कथोपकथन सरस, भावमय, कोमल और सरल हैं।

भारतेंदुजी ने गद्य में काव्य का सौंदर्य लाकर एक नई प्रकार की सजीवता प्रवाहित की है जिसके द्वारा जनसाधारण की रुचि उर्दू से हटकर हिंदी की ओर आकृष्ट हुई। आपने ही सर्वप्रथम गद्य की भाषा में हास्य के साथ व्यंग का पुट दिया। भावों की सम्यक् व्यंजना के साथ हास्य और व्यंग की बानगी इनकी शैली में मिलती है। अस्तु, आपकी भाषा में पहली बार वे सब लक्षण देखने को मिले जो आधुनिक गद्य के जीवनदायक अणु कहलायेंगे। आपकी शैली में भावोद्वेग है और गंभीरता भी; हाँ, तथ्य निरूपण करते समय उसमें प्रौढ़ता के साथ क्लिष्टता भी आ गई है। इनकी शैली की यह विशेषता थी कि वह सरस, परिमार्जित और सहृदय होते हुए देश-काल के सर्वथा अनुकूल है।

"हरिश्चंद्री हिंदी" और भारतेंदुजी के संपर्क ने कई लेखक और कवि उत्पन्न किए। उन मित्रों और सहयोगियों का एक ख़ासा 'हरिश्चंद्र-मंडल' बन गया। राजनैतिक उलट-फेर के पश्चात् देश में जो सामयिक सामाजिक परिवर्तन की बयार बही और उसके प्रभाव से देश की भाषा, भाव, रुचि आदि में एक नवीनता के साथ साथ शिक्षित वर्ग की भावनाओं में जो राष्ट्रीयता उदित हुई उन सबका सम्यक् आधार 'हरिश्चंद्र-मंडली' के ज़िंदा दिल लेखकों की लेखनी का ही कौशल है।

प्रतापनारायण मिश्र—

कानपुर के पं० प्रतापनारायण मिश्र यद्यपि भारतेंदु से लेखन-कला-संबंधी बड़ी घनिष्टता मानते थे किंतु फिर भी आपकी शैली उनका अनुगमन नहीं करती है। इनकी भाषा विनोद, कटूक्तियों और कहावतों की वशवर्तिनी है अतः इसमें भारतेंदुजी की शिष्टता और नागरिकता नहीं है। प्रतापनारायण मिश्र एक मौजी और प्रेमी जीव थे। शहर में रहते हुए वे शहर के आचार-व्यवहार की कृत्रिमता से दूर रहते थे। उनकी ग्रामीणता प्राधान्य भाषा में मार्मिक हास्य रहता था। उनकी जैसी वाग्विदग्धता उस समय तक के किसी भी लेखक में नहीं मिलती है। वे केवल साहित्यिक ही न थे, वरन् एक उद्भट समाज-सुधारक और सार्वजनिक जीवन में तत्पर रहनेवाले एक विनोदी नागरिक भी थे। 'ब्राह्मण' में साहित्यवार्ता के साथ साथ मनोरंजन-मिश्रित समाज-शिक्षा रहती थी। आपके लिखे निबंधों की भाषा में प्रौढ़ हास्य, रोचकता और सुबोधता निखरा करती थी। इनकी शैली में पाठकों के प्रति एक आत्मीयता निहित है। पं० प्रतापनारायण मिश्र का सैयद इंशा अल्ला से शैली-विषयक साम्य स्थिर किया जा सकता है। उनके द्वारा सृजित साहित्य में हमें उनका व्यक्तित्व और एक विचित्र चमत्कार मिलता है। उनके

लेख विभिन्न-विषयक होते थे। यह समझना भूल है कि उनकी शैली नितांत हास्यरसात्मक है। गंभीर विषयों पर लिखते हुए आपने बड़ी संयत और सचिक्कण भाषा व्यवहृत की है। उनके लिखे लेखों के शीर्षक से विषय-विभिन्नता और विचित्रता दोनों ही लक्षित हैं जैसे—'समझदार की मौत है', 'मरे का मारैं शाहमदार', 'इसे रोना समझो चाहे गाना', 'बात', 'वृद्ध', 'भौं', 'धोखा' आदि।

उनकी सजीव प्रकृति झलकती है, किंतु अधिकतर इनमें तार्किकता अथवा मननशीलता का अभाव ही देख पड़ता है। आपकी शैली अवश्य एक विशेष प्रकार के चमत्कार से पूर्ण है। उन्होंने गंभीर विषयों पर भी लिखा है जैसे—'काल', 'स्वार्थ', 'शिवमूर्त्ति', 'सोने का डंडा' और 'पौंडा' आदि। किंतु आपकी भाषा परिमार्जित नहीं है। विरामादि चिह्नों का प्रायः अभाव है, व्याकरण-संबंधी भूलें भी आपने की हैं और कहीं कहीं विचित्र लिपि-दोष है। उनके निबंधों में अधिकतर पांडित्य प्रदर्शन की वृत्ति नहीं है, इसके स्थान पर वे तरल हास्य के पेंदे में नैतिकता की शिक्षा जमा देते हैं।

बालकृष्ण भट्ट—

बालकृष्ण भट्ट प्रतापनारायण मिश्र के समसामयिक थे। उन्होंने भी उसी कोटि के निबंध लिखे हैं। आपने अपनी शैली प्रवाहयुक्त बनाने में भाषा की शुद्धता की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। आपने उर्दू का प्रश्रय लिया और वह भी भारतेंदुजी से कहीं अधिक आगे बढ़ कर। फ़ारसी के तत्सम शब्द प्रचुर मात्रा में इनके लेखों में बिंधे पड़े हैं। भाषा को व्यापक बनाने में आप इतने तल्लीन रहते थे कि आपने अनेक स्थलों पर अँगरेज़ी शब्दों में ही भावप्रकाशन किया है। इनकी शैली में इनके व्यक्तित्व की अच्छी छाप है। इनका शब्दभंडार अधिक शिष्ट है और समादृत है। आपके गद्य में काव्य की सुकुमारता और भावप्रवरता है। प्रतापनारायण मिश्र की भाँति इन्होंने भी अपने

लेखों के विचित्र विचित्र विषय चुने हैं, जैसे 'आँख', 'कान', 'नाक', 'बातचीत' आदि; तथा उन्होंने 'कल्पना', 'आत्मनिर्भरता' शीर्षक गंभीर भावात्मक लेख भी लिखे हैं। इनमें एक तीव्र साहित्यिक लगन थी। 'हिंदी-प्रदीप' आपके ही संपादन में प्रकाशित होता था जो क़रीब ३२ वर्ष तक अनवरत रूप से हिंदी की सेवा करता रहा। इस पत्र में विभिन्न-विषयक लेख छपते थे।

आपके गद्य में कहावतों की अपेक्षा मुहाविरे-बंदी अधिक रहती थी। मिश्रजी की अपेक्षा आपका हास्य भी अधिक तीखा होता था। इनके निबंध प्रायः छोटे होते थे, और विशेषतया वे अँगरेज़ी शिक्षित जनता के लिये अच्छी पाठ्य-सामग्री होते थे।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी—

हिंदी के वर्तमान गद्य-लेखकों में महावीरप्रसाद द्विवेदी का पद महान् और असाधारण महत्त्व का है। द्विवेदीजी के आविर्भूत होते ही हिंदी का नवयुग आरंभ होता है। आपकी हिंदी के प्रति सेवाओं में गुरुत्व का दर्शन है। अपने दीर्घकालीन साहित्यिक जीवन में द्विवेदी जी ने लेखकों की वृद्धि और लेख्य विषयों का विस्तार किया। आपने अपनी विभिन्न शैलियों द्वारा अनेक लेखकों की शैलियों का सृजन और मार्जन किया है। द्विवेदीजी संस्कृत के प्रकांड पंडित और अन्य अनेक भाषाओं के अच्छे ज्ञाता हैं। आप विज्ञानादि विभिन्न विषयों के बहुज्ञ समझे जाते हैं। आप पहले एक रेलवे कर्मचारी थे; साहित्य से राग उत्पन्न होते ही आपने त्याग और तपस्या का जीवन धारण कर लिया और प्रयाग से "सरस्वती" संपादित करने लगे। "सरस्वती" के आदि-संपादक के पद से आपने हिंदी की स्मरणीय सेवायें की हैं। हिंदी में गणेशशंकर विद्यार्थी प्रभृति कुशल पत्र-संपादक ने द्विवेदीजी का ही शिष्यत्व ग्रहण कर और उनके निर्देशित मार्ग पर

आरूढ़ होकर संपादकीय गौरव पाया। गंभीर लेखों से लेकर वर्णनात्मक कहानियों तक तथा काव्य में भी आपका अलग एक उच्च आसन है। आपने अपने आदर्श संपादकीय जीवन से एक संपादक के कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व की परिभाषा रच दी है। आपकी सेवायें एकदेशीय नहीं, बहुत व्यापक हैं। वर्तमान हिंदी-संसार द्विवेदीजी से अत्यधिक प्रभावित है और उन्हें आचार्यपद से विभूषित कर संतोष पाता है। गत वर्ष प्रयाग में आपके संमानार्थ साहित्यिकों का एक मेला हुआ था। इस द्विवेदी-अभिनंदन मेले में आचार्य ने जो भाषण दिया था वह हिंदी-प्रेमियों को स्मरण रहेगा। इंडियन प्रेस, प्रयाग से "द्विवेदी-अभिनंदन ग्रंथ" नामक एक वृद्ध ग्रंथ भी अभी प्रकाशित हुआ है, इसे काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने द्विवेदीजी को भेंट किया है।

साहित्य-क्षेत्र में उतरते ही द्विवेदीजी भाषा की अपांगता, स्थूलता और शिथिलता का परिहार करने में लग गए। अभी तक प्रायः सभी गद्य-लेखक व्याकरण के नियमों की अवहेलना करते चले आए थे। आपने अपने प्रबल आंदोलन और परिश्रम से भाषा की इस अनगढ़ता को दूर किया। आपके प्रयास से ही हिंदी-लेखकों ने भाषा में व्याकरण-संबंधी भूलें करना बंद किया, और अपनी अपनी शैली का भी नियंत्रण करने लगे। आचार्य की भाषा में ओज है, उसमें विचारों की व्यंजना की रीति हृदयग्राही और बोधगम्य है। विषय को अत्यधिक सरल और स्पष्ट कर देना आप की शैली की विशेषता है। आप के वाक्यों में विषय-विवेचन का सुंदर और क्रमबद्ध सामंजस्य रहता है। द्विवेदीजी ने छोटी मोटी अनेक पुस्तकें और सैकड़ों फुटकर लेख लिखे, और बहुत-से अनुवाद किए। सन् १९०३ में आपने "सरस्वती" का संपादन आरंभ किया था, तब से आपकी विभिन्न-विषयक रचनायें जैसे निबंध, आलोचना, स्त्रियोपयोगी और बालोपयोगी पुस्तकें हिंद

का भंडार भरती रहीं। आरंभ में आप कवितायें भी सुंदर लिखते थे और आज भी बुढ़ापे में संस्कृत के श्लोक रचते हैं।

आपकी शैली एक नहीं है। गूढ़ विषयों का निदर्शन करते समय आपकी भाषा का वेश साधु और गति संयत रहती है। इस गति में स्थिरता और तरल सरलता का प्रवाह रहता है। आचार्य की ही भाँति आप विषय को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं। आलोचना करते समय आपके वाक्य तीव्र कटाक्ष करते हैं। आपका व्यंग चटपटा न होकर भी चुटीला होता है। शब्द-चयन सदैव उपयुक्तता का अपेक्षित रहता है; उसमें अँगरेज़ी के शब्द भी हमको मिलते हैं, फ़ारसी और संस्कृत के भी। संस्कृत-शब्दों के तत्सम और तद्भव दोनों ही रूपों का प्रयोग रहता है। आपका कथन है कि शिक्षित समुदाय में शिष्ट संभाषण की भाषा ही साहित्य की भाषा है। आपने सरल भाषा में वर्णित विषय को सुबोध बनाने का पांडित्य दिखाया है। आचार्य द्विवेदीजी के संमान में इससे अधिक और कुछ नहीं कहा जा सकता कि उन तक उनके पूर्व के जितने गद्य-लेखक हुए हैं, जिनकी चर्चा हम ऊपर कर आए हैं उनकी समूची साहित्यिक कृतियाँ यदि आज किसी विज्ञ संपादक-द्वारा संपादित कराई जायें तो उनमें अधिकांश परिवर्त्तित हो जायगा, परंतु आचार्य के बायें हाथ से लिखे लेख पर भी किसी को क़लम उठाने का साहस नहीं होगा।

राय बहादुर बाबू श्यामसुंदरदास—

भाषा-विज्ञान, साहित्यालोचन, कविकोविदमाला तथा 'रूपक रहस्य' की सृष्टि करके आपने जिस प्रकार की हिंदी-शैली का जन्म दिया था उससे इनकी 'गोस्वामी तुलसीदास' तथा "हिंदी भाषा तथा साहित्य का इतिहास" की शैली भिन्न है। अभी तक इनकी शैली के संबंध में कुछ लोगों का यह विचार था कि इन्हें 'सौकर्य' प्राप्त नहीं हो सका। यह विचार इनकी पुरानी कृतियों की लेखन-शैली पर आश्रित

था। इनके 'इतिहास' और 'गो० तुलसीदास' के अध्ययन करने के पश्चात् इनकी शैली में जो घोर परिवर्तन हुआ है, वह इनके गौरव के लिये आवश्यक था। 'साहित्यालोचन' अधिकतर एक अनुवाद-ग्रंथ है। उसकी शैली में जो दोष दिखाई देते हैं वे बाबू श्यामसुंदरदास की शैली के दोष न होकर उनके अनुवाद के दोष हैं। किसी बात को बार बार दोहराना और समझाना शिक्षक अपना पहला कर्त्तव्य समझता है। इसी भाव से प्रेरित होकर इस ग्रंथ में पुनरुक्ति-दोष आया है।

राय बहादुर श्यामसुंदरदास की सबसे बड़ी ख़ूबी यह है कि शुद्ध हिंदी तत्सम शब्दों से गुँथे हुए वाक्य साधारण रूप से उनकी लेखनी से बहते निकलते हैं और एक ओर जहाँ वे उर्दू, फ़ारसी इत्यादि के मेल से नितांत बचे रहते हैं उसी प्रकार दूसरी ओर गोविंदनारायण मिश्र के बड़े बड़े समासांत संस्कृत-गर्वित वाक्यों से भी वे बाल-बाल बचते हैं। आपकी शैली में गंभीरता और रूक्षता है। विषय की दुरूहता ने शैली को और भी रूखा बना दिया है। साधारण लोगों की शैली में जो चुहलपन रहता है, उसका यहाँ नितांत अभाव है, इनकी शैली बोझीली है। इसमें प्रज्ञात्मक गुण प्रधान है; इस शैली में व्यंगात्मक गुण नहीं है। जब वे किसी पर आक्षेप करते हैं तो बड़ी धीमी व संकेतात्मक भाषा में अपनी बात कहते हैं। हिंदी-साहित्य के पुनरुत्थान व प्रचार में इन्होंने जितना काम अकेले किया है उतना बहुत-से साहित्य-महारथियों ने मिलकर भी नहीं किया। शैली की दृष्टि से हम इस युग के प्रसिद्ध नाटककार और कवि जयशंकर-प्रसाद को राय बहादुर श्यामसुंदरदास के अनुयायी वर्ग का कह सकते हैं, यद्यपि ध्यान से इन दोनों शैलियों का अनुशीलन किए बिना इस निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है। आपके दोनों नवीन ग्रंथों में शैली का विकट परिवर्तन दृष्टिगत होता है।

रामचंद्र शुक्ल—

हिंदी के सेवकों में आज रामचंद्र शुक्ल का पद निर्भ्रांत रूप से सर्वश्रेष्ठ है। वे ब्रजभाषा के सरस कवि और हिंदी-साहित्य के अद्वितीय समीक्षक और कला-पारखी हैं। भारतीय काव्य-लक्षणों के आधार पर और पश्चिमीय नवीन से नवीन काव्य-विषयक सिद्धांतों को समक्ष रखकर आपने एक नितांत अर्वाचीन समीक्षा-प्रणाली की सृष्टि की है। इसी की कसौटी पर गोस्वामी तुलसीदास, कविसम्राट् सूरदास और मलिक मुहम्मद जायसी की जो विशद आलोचनायें लिखी हैं वे अपनी श्रेणी की हिंदी-साहित्य में दूसरी पुस्तकें नहीं रखतीं। रामचंद्र शुक्ल का हिंदी-साहित्य का ज्ञान बहुत ही विशद और स्पष्ट है। उनके मनोभावों पर लिखे हुए बहुत-से दार्शनिक लेख हिंदी-निबंध-साहित्य की अनुपम निधि हैं। उनकी चिंतना अत्यंत सुलझी हुई है और उनकी अभिव्यक्ति बहुत स्पष्ट है।

शुक्लजी के आविर्भाव के पूर्व जितना भी गद्य-साहित्य लिखा गया है उसमें बहुत कम ऐसा भाग होगा जो विद्वानों के मनन करने और चिंतन करने के योग्य हो अथवा जो विचार मौलिकता, विषय की महत्ता और सफल अभिव्यंजन के बल पर विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं में पढ़ाया जा सकता हो। पं० रामचंद्र शुक्ल की कृतियों ने इस अभाव को एकदम पूर्ण कर दिया है। आपकी शैली अत्यंत गंभीर, मार्मिक और चुटीली है। बड़े बड़े वाक्यों में भी बड़ा भारी सुखद आकर्षण है। उनकी लड़ी का एक एक वाक्य नाचते हुए मयूर के पंख की भाँति एक के बाद एक निकल कर सजता हुआ चला आता है और उनका सामूहिक प्रभाव बड़ा ही गहरा और चिरंतन पड़ता है। उनकी अभिव्यंजना में नितांत प्रचलित शब्दों का प्रयोग त्याज्य नहीं है। उनके छोटे-बड़े वाक्यों से गुंफित शैली संमार्जित गति से भी चलती है और मस्ती से इठलाती भी। आपकी लेखन-शैली में बड़ी

संजीवन-शक्ति है, तथा उसमें कठिन से कठिन और अधिकाधिक दुरूह विषयों को सरल कर देने के लिये अनुपम सौकर्य है। आपकी आलोचना-प्रणाली में युग-परिवर्त्तन प्रतिबिंबित है। आपके बहुत-से अनुयायी उत्पन्न हो गए हैं। आपके वाक्यों में व्यंगात्मक आक्रमण करने की अनुपम शक्ति रहती है और जितने वेग तथा स्फूर्ति के साथ वे अपनी बातों को पाठक के हृत्तल तक उतार देते हैं उतनी ही सरलता से वे दूसरों के मिथ्या सिद्धांतों को भी धराशायी कर देते हैं। वे जितने महान् निर्माणक हैं उतने ही भीषण प्रहारक। उनकी शैली में विधेयात्मक और निषेधात्मक दोनों के एक साथ दर्शन मिलते हैं। इसके अतिरिक्त आपने सैकड़ों शब्दों को गढ़ कर हिंदी में प्रचार कर दिया है। केंद्रित प्रणाली और संकेतात्मक भाषा के कारण इन्हें हिंदी में वही स्थान प्राप्त है जो अँगरेज़ी में प्रसिद्ध विद्वान् लेखक बेकन का है। यद्यपि इनके वाक्य बेकन के सदृश सर्वत्र छोटे छोटे नहीं हैं। मनोभावों के विश्लेषण में आपने जो लेख लिखे हैं वे अँगरेज़ी के मिल के निबंधों से टक्कर लेते हैं। इनमें कारलाइल की साहित्यिकता है और बर्नार्ड शा का तेज और स्फूर्ति।

मिश्रबंधु—

पं० गणेशबिहारी मिश्र, पं० श्यामबिहारी मिश्र और राय बहादुर पं० शुकदेवबिहारी मिश्र सगभाई हैं। इन्होंने समाहार तथा गौण-रूप से हिंदी की जो सेवा की है वह अद्वितीय है। हिंदी-ग्रंथों का जैसा चलताऊ अध्ययन करके इन्होंने जो अनुपम इतिहास "मिश्रबंधु-विनोद" के नाम से प्रस्तुत किया है वह इतना विशद और पूर्ण है कि परवर्त्ती सब अँगरेज़ी और भारतीय सभी हिंदी-विद्वानों ने खुल्लमखुल्ला इनके इतिहास का उपयोग किया है। प्रथम और ऐसा विशद इतिहास का प्रणयन करने के लिये हिंदी-संसार इनका आभारी है। शिवसिंह

सेंगर-रचित शिवसिंहसरोज इतना सिलसिलेवार न था। इसी प्रकार हिंदी के नौ उच्चतम कवियों का एक आलोचनात्मक ग्रंथ "हिंदी-नवरत्न" नाम से आप लोगों ने प्रस्तुत किया है। यह भी एक सुंदर कृति है। परवर्ती समालोचक मिश्रबंधुओं के ग्रंथों में बहुत सार न पावें और इनका वर्गीकरण बहुत कुछ मनमाना ही क्यों न मानें परंतु प्रारंभिक काल में इनके प्रयास के मूल्य और महत्त्व को कोई कम नहीं कर सकता।

मिश्रबंधुओं ने पृथक्-पृथक् और संमिलित रूप से कविताएँ भी लिखी हैं; तथा कुछ निबंध-रचना भी की है। इनकी आलोचना बड़ी निर्भीक रही है और अपने विषय को प्रकट करने में इन्होंने बड़े निस्संकोच भाव से काम लिया है। इनकी शैली बहुत ही सरल और सर्वसुबोध है। शब्दों की लिपि-विन्यास की जटिलता और व्याकरण की दुरूहता के पचड़े में पड़ना मिश्रबंधु हिंदी के लिये ठीक नहीं समझते।

पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी—

ये हिंदी के उन इने गिने लेखकों में हैं जिन्होंने अध्ययन करना पहला काम और लिखना बाद का काम समझा है। द्विवेदी जी के बाद "सरस्वती" का संपादन-भार इन्हीं के कंधों पर आया, और उस समय 'सरस्वती' और इनकी दोनों की ख़ूब धूम रही। इन्होंने रामचंद्र शुक्ल की भाँति आलोचना के नए तथ्यों का शोध किया है। आपने दर्जनों ऐसे प्रबंध लिखे हैं जो मनन करने के और गंभीर साहित्य की वस्तु हैं। आपके विषय इतिहास, दर्शन, साहित्य और आध्यात्म सभी प्रकार के थे और सभी विषयों पर इन्होंने उच्च कोटि की बातें लिखी हैं। इनकी शैली सीधी-सादी और मधुर है; सर्वत्र छोटे छोटे वाक्य देखने में आते हैं। आपकी कुछ कृतियाँ स्वतंत्र और

मौलिक हैं और कुछ अँगरेज़ी के अनुवाद रूप में प्रकाशित हुई हैं। आपने कुछ कहानियाँ भी लिखी हैं। इनके 'साहित्यविमर्श,' 'विश्व-साहित्य', 'पंच-पात्र' आदि उच्च कोटि के ग्रंथ हैं। पदुमलाल का स्थान हिंदी में अंतर्राष्ट्र स्थापित करने की दृष्टि से ऊँचा समझा जायगा।

राय बहादुर हीरालाल—

राय बहादुर श्यामसुंदरदास के संपर्क व मैत्री से राय बहादुर हीरालाल हिंदी-साहित्य की सेवा की ओर अग्रसर हुए। इन्होंने जो कुछ लिखा है वह इतिहास तथा पुरातत्त्व पर लिखा है, और इस विषय के ये अच्छे विद्वान् हैं। इनकी लेखनशैली पर एक ओर इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय राय बहादुर पं० गौरी-शंकर हीराचंद ओझा का प्रभाव पड़ा है और दूसरी ओर राय बहादुर श्यामसुंदरदास का। इसलिये ये छोटे छोटे वाक्य भी लिखते हैं और कहीं-कहीं पर बड़े बड़े वाक्यों का भी प्रयोग करते हैं। इनमें प्रायः सरसता का अभाव है। आपकी शैली बाबू श्यामसुंदरदास की शैली की तरह कृत्रिम तो नहीं है परंतु उसमें साधारण प्रभाव का अभाव है। शैली में यहाँ बल नहीं है, तथा वेग प्रवाह, अथवा स्फूर्ति भी नहीं, परंतु विषय की दृष्टि से और हिंदी-सेवा के नाते राय बहादुर हीरालाल हिंदी के उन्नायकों में स्थान रखते हैं।

आप ग्रियर्सन साहब के एक मित्र हैं। आपने उन्हें भाषा के इतिहास आदि के प्रणयन में समय समय पर विशेष योग दिया है।

पद्मसिंह शर्मा—

पद्मसिंह शर्मा अपनी तुलनात्मक आलोचनाओं से प्रसिद्ध हो गए हैं। उनमें काव्य की अनुभूति थी। आपकी भाषा में एक अजीब तड़क-भड़क रहती थी और हिंदी के साथ उर्दू का अभिन्न मिश्रण

मिलता था। यह सच है कि कला के वे गहरे अनुशीलक न थे। इसका प्रमाण इनकी आलोचनापद्धति और उसकी भाषा में दृग्गोचर है। "आह आह" और "वाह वाह" की बाढ़ आ जाने से इनकी विवेचना-प्रणाली सफल नहीं कही जा सकती और न वह विशेष प्रभावात्मक ही है। इन कारणों से आपका तथ्यातथ्य निरूपण अंतर्भेदी न होकर उच्छृंखल कहा जायगा। वास्तव में आपका प्रवेश और क्षेत्र आलोच्य रचना के शाब्दिक धरातल तक ही व्याप्त है, शब्दों की भावरूपकता अथच कलाकार की आत्मानुभूति तक पहुँचते पहुँचते उनका भाव-प्रकाशन निर्बल पड़ जाता है। कवि की प्रशंसा में वे बहुत कुछ इति-वृत्तात्मक (Matter of fact) ही रहते थे। इसमें संदेह नहीं कि तुलनात्मक आलोचना की परिपाटी हिंदी में वस्तुतः पद्मसिंह शर्मा ही से आरंभ होती है, किंतु उनकी आलोचना मनन-साध्य कहीं पर भी न हो पाई है। इनकी शैली से "एक अभद्र दुर्गंध निकलती है जो वास्तव में गंभीर आलोचनात्मक प्रबंधों के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है।" इसका उदाहरण नीचे के अवतरण से मिल सकता है—

"× × × बिहारीलाल भी तो एक ही काइयाँ ठहरे। वह कब चूकनेवाले हैं पहलू बदल कर मज़मून को साफ़ ले ही तो उड़े। × ×

"वाह उस्ताद क्या कहने हैं। क्या सफ़ाई खेली है। काया ही पलट दी। कोई पहचान सकता है? बात वही है, पर देखिये तो आलम ही निराला है। क्या तानकर 'शब्दबेधी' नावक का तीर मारा है। लुटा ही दिया। एक 'अनियारे' पन ने धवल कृष्ण पक्षवाले सबको एक अनी की नोक में बाँधकर एक ओर रख दिया। और वाह रे 'चितवन'। तुम्हारी चितवन की ताब भला कौन ला सकता है। फिर 'सुंदरी' और 'तरुणि' में भी कहते हैं कुछ भेद है। एक वशीकरन का ख़ज़ाना है तो दूसरी खान है। और 'सुजान' तो फिर कविता की जान ही ठहरा। इस एक पद पर तो एँड़ी से चोटी तक सारी गाथा ही क़ुर्बान है।"

यह है आपकी आलोचनात्मक शैली की भाषा। यहाँ पर हमें "बिना ज़रूरत के जगह जगह चुहलबाज़ी और शाबाशी का महफ़िली-तर्ज़" मिलता है। काशी के दीनजी ने भी आलोचना-पद्धति में बहुत हद तक आपका अनुकरण किया है। किंतु उनके सहज भावमय निबंधों की भाषा-अपेक्षाकृत अधिक संयत और ओजमयी है। आपने अपने अवसान के कुछ पूर्व ही एक व्याख्यान दिया था जो पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ है। इस पुस्तक का नाम है "हिंदी-उर्दू-हिंदुस्तानी" और यह हिंदुस्तानी एकेडमी से प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक में भाषा के संबंध में यथेष्ट चर्चा हुई है; किंतु इसमें वास्तव में उनका स्वतंत्र-अंश बहुत कम है, अधिकांशतः उर्दू के मौलवी मुल्लाओं तथा अन्य विद्वानों के कथन व विचार उल्लिखित हैं।

श्रीयुत गणेशशंकर विद्यार्थी—

मुझे इनके साथ संपादन-कार्य करने का अवकाश मिला है। इनके पतले शरीर से भावुकता छनती थी। इनकी लेखनी में, इनकी वाणी में ओजगुण समान रूप से मौजूद था। इनकी लेखन-शैली संपूर्णरूप से रागात्मक है। उनका अध्ययन हिंदी और उर्दू दोनों ही का था। इसी लिये उनकी भाषा में हिंदी उर्दू की गंगा-जमुनी शैली सर्वत्र दिखाई देती थी। साहित्य का चाहे उनका बहुत गहरा अध्ययन न हो परंतु वे राजनीति के अच्छे विद्यार्थी थे। देश की परतंत्रता की बुराइयों से, ग़रीबों के आर्तनाद से, श्रमजीवियों के उत्पीड़न से श्रद्धेय गणेशशंकर जितना परिचित थे उतने परिचित बहुत कम देश के नेता होंगे। इसी कारण उनका मनोभाव युद्ध का और निर्भीकता का बन गया था। देश की हीनावस्था के चित्र खींचने में उनकी वृत्ति जितनी लीन होती थी, युद्ध भावना उकसाने के लिये उससे भी अधिक। शासन की आलोचना करने में विद्यार्थीजी की व्यंगात्मक ललकार में

आचार्य्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का चुटीलापन है और प्रतापनारायण मिश्र की धुन। वास्तव में इन दोनों लेखकों की गहरी छाप आपकी शैली में है। इनका स्थायी भाव तीव्र अशांति है अतएव जितने भी जिस प्रकार के भी लेख इन्होंने लिखे हैं उनमें इसी भावना की तीव्र अभिव्यंजना है और राजनैतिक कोण से वे सँवारे गए हैं।

श्रीयुत गणेशशंकर सफल पत्रकार थे। 'प्रताप' इसका प्रमाण है। संपादनकला में वे इतने पटु थे कि चाहे जैसा लेख क्यों न हो इधर उधर लेखनी को थोड़ा दौड़ाकर उसे ऐसा सजीव कर देते थे कि मानों वह उन्हीं का लिखा है। उनके पास लिखे हुए बहुत-से नवयुवक आज हिंदी के अच्छे लेखक और पत्रकार बने हुए हैं। पं० बालकृष्ण शर्मा को गणेशशंकर का पूर्ण शिष्य और उत्तराधिकारी कहा जा सकता है। राजनीति की निर्भीकता के साथ साथ उनकी क़लम की निर्भीकता भी बालकृष्ण शर्मा ने उनसे ही सीखी। पं० बालकृष्ण अधिक संस्कृतज्ञ हैं अतएव उनकी आलोचनाओं में बड़े बड़े शब्दों के ढेले अधिक रहते हैं और वाक्यों का लट्ठ भी लंबा रहता है। कुछ आयु के प्रभाव, कुछ उग्रता के प्रभाव और कुछ कुटुंब में अकेलेपन के प्रभाव ने बालकृष्ण को अधिक तीव्र और अधिक मृदु-कटु बना दिया है। इनके दूसरे निकट अनुयायियों में पं० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल और पं० दशरथप्रसाद द्विवेदी कहे जाते हैं। इन दोनों सज्जनों ने संपादन कार्य आपकी ही अधीनता में सीखा, और पृथक् रूप से 'सैनिक' और 'स्वदेश' निजी पत्र निकाले। इन दोनों सज्जनों की शैलियों पर गणेशजी की अच्छी छाप है।

श्रीयुत गणेशशंकर अनुवाद करने में बड़े दक्ष और बड़े तेज़ थे। उन्होंने कुछ राजनैतिक उपन्यासों का विदेशी भाषा से अनुवाद किया है। आपने कुछ विनोदात्मक लेख भी लिखे हैं, और उन पर प्रतापनारायण मिश्र का पूर्ण प्रभाव दिखाई पड़ता है, परंतु भाषा में उन्होंने अपना आदर्श महावीरप्रसाद ही का रक्खा। फ़ारसी शब्दों की अधिकता

और भावात्मक का गहरा प्रभाव होने के कारण आप पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी से भी स्पष्ट रूप से पृथक् दिखाई देते हैं। किंतु उनका कार्य-क्षेत्र राजनीति था, साहित्य नहीं। इस संकलन में श्री गणेशशंकर की लिखी "राणा प्रताप की जीवनी" है। शैली की उपरोक्त विवेचना का यह लेख प्रतिनिधि तो नहीं कहा जा सकता परंतु किसी अंश तक उनकी शैली के तत्त्व इसमें मिल सकेंगे। उनकी कृतियों में सर्वत्र स्पष्टता उनकी एक विशेषता है। बहुधा यह देखा गया है कि प्रज्ञात्मक शैली के लेखकों के अभिव्यंजन में कुछ दुरूहता रहती है, अस्पष्टता और क्रमहीनता आ जाती है परंतु यह बात श्री गणेशशंकर में बिलकुल नहीं है।

बाबू प्रेमचंद—

श्री प्रेमचंद का साहित्यिक क्षेत्र निश्चित है। वे पहले उर्दू में लिखते रहे, बाद में हिंदी की ओर झुके। उन्होंने मर्मस्पर्शी कहानियाँ और सुंदर उपन्यास लिखकर हिंदी की जो सेवा की है वह अनुपम और अतुलनीय है। प्रेमचंदजी ने जितना अकेले लिखा है उतना कई उपन्यासकार मिलकर भी नहीं लिख सके। उत्कर्ष की दृष्टि से और विशदता की दृष्टि से प्रेमचंद हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कहानी और उपन्यास लेखक हैं। इनकी कृतियों को अन्य भाषाओं में अनुवादित होने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है। इधर इनके कुछ नाटक भी क्षेत्र में आए हैं। कुछ लोगों का कथन है कि उनमें प्रेमचंद को सफलता नहीं मिली। हम इस कथन से पूर्ण-रूप से सहमत नहीं।

प्रेमचंदजी के उन्यास हिंदी की स्थायी संपत्ति हैं। आप हिंदी के प्रथम उत्कृष्ट मौलिक उपन्यास-लेखक हैं। वैसे तो भारतेंदुजी के दिनों में ही उपन्यास रचना आरंभ हो गई थी। लाला श्रीनिवासदास को "परीक्षागुरु" लिखे पूरी एक आयु समाप्त हो गई। सैकड़ों अनुवाद

हुए और बीसियों तिलिस्मी और ऐय्यारी के पिटारे खुले, किंतु जो नाम को सार्थक बनानेवाली वस्तु आपने भेंट की उसकी समता पहले तो क्या आज भी किसी में करने की क्षमता नहीं है। प्रेमचंदजी की रचनाओं के समक्ष पहले के उपन्यास ऊसर के ठूँठ जान पड़ते हैं। कथानक, भाषा, भाव, चरित्र-चित्रण आदि सभी बातों में आपके उपन्यास बे-जोड़ ठहरते हैं। आपका चित्रण स्वाभाविक हृदयहारी और भावाभिव्यंजन आत्मा के अन्तस्तल तक के मनोविकारों को मथकर निकाला हुआ नवनीत है। मनुष्य-जीवन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूति का मनोवैज्ञानिक चित्र आप इनके बाएँ हाथ से खिंचवा लीजिए। इनके तत्व-निदर्शन में हमें कला का परिपाक मिलता है और मानवता की तह तक पहुँचने में भावुक दार्शनिकता। लेखनी की इसी विभूति के बल पर आपने औपन्यासिक जगत् में जो स्थान प्राप्त किया है वह स्थायी और अक्षुण्ण बोध होता है।

प्रेमचंद आपका साहित्यिक नाम ~~है~~ था। वास्तव में आपका नाम धनपतराय ~~है~~ था। आप अँगरेज़ी के अतिरिक्त फ़ारसी के भी पंडित हैं। पहले आप उर्दू के एक लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक थे। "ज़माना" में प्रकाशित आपकी रचनायें उर्दू-जगत् में हवा बाँध देने वाली होती थीं। जब आपने हिंदी को अपनाया तो उर्दू पत्र-पत्रिकाओं ने चीत्कार करना आरंभ कर दिया था। प्रारंभ की लिखी आपकी हिंदी में अनेक दोष देखे गए हैं। भाषा में व्याकरण-संबंधी व्यतिक्रम प्रायः लोग निहारा करते थे। किंतु इन सबके होते हुए आपकी शैली में जो प्रवाह रहता है उसके वेग में इन कंकड़ों पर बहुत कम दृष्टि ठहरती है। उर्दू की रवानी इनके कथनोपकथन को सजीव बनाए रहती है। कथानक में प्रसंगबद्धता और विषय को मोड़ देने में स्वाभाविकता और चातुरी रहती है। पाठकों को एक उलझन में डालकर भी उनका कौतूहल आपकी मुट्ठी में बंद रहता है। प्रायः उनके वाक्य आशय की ओर

संकेत करके ही शांत हो जाते हैं; जिससे कि प्रसंग में एक विचित्र सुंदरता आ जाती है। चार, छः वाक्यों के बाद एक मर्मभेदिनी उक्ति गूँथ देना आपकी विशेषता है। यही नहीं, व्यंग में आपकी फ़ब्तियाँ ग़ज़ब ढाती हैं। मुस्लिम संस्कृति से आप विशेष आकृष्ट दिखाई देते हैं। संभवतः यही कारण है कि इस्लाम के धार्म्मिक कृत्य, सैद्धांतिक कर्म्मों आदि पर आपके विचार सहानुभूतिसूचक और सुंदर हैं। आपका लिखा "कर्बला" नाटक इसकी पुष्टि करता है।

आपकी लेखनी का रुझान बहुधा यथार्थवाद की ही ओर रहता है। आपके इतिवृत्तात्मक कथानकों में विचित्रता अथवा चमत्कार भले ही न हो, किंतु उनमें विश्व की गंभीर दार्शनिक अनुभूति रहती है। इस दृष्टि से उनकी दृष्टि में भी मर्म है। आपके लिखे उपन्यासों की संख्या शायद मैथिलीशरण जी की काव्यकृतियों से भी अधिक होगी। दर्जनों उपन्यासों के साथ साथ जिनके नाम किसी भी इतिहास-ग्रंथ में ढूँढ़े जा सकते हैं, आपने सैकड़ों कहानियाँ लिखी होंगी। एक सफल कहानीकार के लिये जो संसार का विस्तृत ज्ञान अपेक्षित है वह आप में प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। एक ओर यदि आप दीन समाज में जीर्ण वस्त्रों से शरीर ढकनेवाली मानवता का चित्र अंकित करते हैं, जिससे हृदय में करुणा का उद्रेक होता है तो अन्यत्र सत्ताधारी धनिकों का निर्दय व्यापार हमें क्षुब्ध कर देता है। जिस सरलता से आप ग्राम्य जीवन खींचते हैं उसी ख़ूबी से सभ्य नागरिकों का राग और द्वेष वर्णन करते हैं।

मौलिक ग्रंथों के अतिरिक्त आपने गाल्सवर्दी के कई अँगरेज़ी नाटकों का तथा अन्य फ़्रेंच उपन्यासों का हिंदी अनुवाद किया है। किंतु आपकी साहित्यिक प्रतिष्ठा में इन अनुवादित पुस्तकों का विशेष योग नहीं समझा जाता। आप बड़े सहृदय व्यक्ति हैं, बेचारे फ़र्मायशों के मारे परेशान रहा करते हैं। यही कारण है कि आपकी कुछ कृतियाँ

फ़र्मायशी उपज होने के कारण आपके नाम को सार्थक बनानेवाली नहीं हुई हैं। आपका जीवन बड़ा व्यस्त रहता है। श्री गणेशशंकर विद्यार्थी की तरह कृशगात होने पर भी आप इतना लिखते हैं और साथ में मासिक 'हंस' और साप्ताहिक 'जागरण' जो उच्च कोटि के पत्र हैं, संपादन भी करते हैं। आप बहुत दिनों तक 'माधुरी' के भी संपादक रह चुके हैं।

अन्यत्र हम आपकी लिखी एक कहानी "सोहाग का शव" शीर्षक दे रहे हैं। मनुष्य के उत्थान-पतन का मनोवैज्ञानिक और सजीव चित्र आप जिस मार्मिक शैली से व्यंजित करते हैं, इसकी झाँकी विद्यार्थियों को इस कहानी में यथेष्ट मात्रा में मिलेगी।

बाबू जयशंकर 'प्रसाद'—

छोटी कहानियों, उपन्यासों, नाटकों और कविताओं में सर्वत्र प्रसाद जी की शैली में एक ही रवानी है। वह संस्कृत के तत्सम शब्दों से लदी हुई मंद-मंद चलती है। कहीं कहीं पर नाटकों में यह शैली अस्वाभाविक-सी मालूम होती है, परंतु यह कोई नहीं कह सकता कि उनके गहरे दार्शनिक विचारों को और उनके तीव्र अंतर्द्वंद्व को प्रकट करने के लिए यह शैली कृत्रिम है अथवा उपयुक्त नहीं है। प्रसादजी ऊँचे कलाकार हैं और इन्हें अपनी अभिव्यक्ति को सँवारने की आदत है। आपकी भाषा की दुरूहता कविता को और भी कठिन बना देती है। पुरातत्व के अच्छे विद्वान् होकर और संस्कृत-साहित्य का अच्छा अध्ययन करने के कारण, तत्सम स्वरूप हिंदी के शब्द उनकी प्रणाली के अंग हो रहे हैं। आपकी लेखन-शैली पर कदाचित् श्यामसुंदरदास का प्रभाव पड़ा है।

संस्कृत शब्दों से विभूषित प्रसादजी की शैली में संस्कृत-शैली के दोष नहीं हैं, न उसमें आवश्यकता से बड़े वाक्य हैं और न लंबे-लंबे

'समस्त-पद'। जहाँ एक ओर अपनी शैली के कारण जयशंकरप्रसाद की कृतियों में सर्वसाधारण से दूर जाने की वृत्ति दिखाई देती है तथा वस्तु की जटिलता और दुरूहता इस खाई को और भी चौड़ी किए है वहाँ दूसरी ओर शैली की नवीनता के ही कारण आप जटिल और दुर्बोध्य दार्शनिक व मनोवैज्ञानिक विषय सुलझा सके हैं। इनकी कृतियाँ विशिष्टों की आदर-भाजन बन गई हैं। इनकी शैली में मनोविकारों का अट्टहास चाहे न हो परंतु नियंत्रण का संमार्जन अवश्य है। कुछ भी हो इनके जीवन का जो स्थायी रस है उसे अभिव्यक्त करने में यह शैली अनुपम रूप से सफल हुई है। अपनी लेखन-प्रणाली से बाबू जयशंकर-प्रसाद इस युग के शैली-प्रवर्त्तक लेखक समझे जाते हैं। शैली के दुर्बोध और जटिल होने के कारण उनको लोग छायावादी कवि के नाम से पुकारते हैं; यद्यपि यह नितांत भ्रामक है। आपकी "आँधी" और "आकाश-दीप" अच्छे कहानी-संग्रह हैं, और "कंकाल" एक उत्कृष्ट मौलिक उपन्यास है। आपने चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त, अजातशत्रु आदि कई नाटक लिखे हैं। यद्यपि ये नाटक रंगमंच के योग्य नहीं हैं, किंतु साहित्य के प्रभावपूर्ण ग्रंथ हैं।

पं० विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक'—

'कौशिक' जी इस युग के प्रतिष्ठित गल्पकार हैं। मुझे उनके संपर्क का अवकाश प्राप्त है। आपने उपन्यास-रचना भी की है। आपकी विख्याति का कारण वास्तव में आपकी छोटी-छोटी कहानियाँ ही हैं। आपकी गणना इस युग के पुराने कहानी-लेखकों में की जाती है। इनकी कहानियों का क्षेत्र भी सर्व-देशीय है। समाज-सुधार पर लिखते समय आप उपदेशक न होकर एक भुक्त-भोगी का मर्मोद्घाटन करते हैं। ग्राम्य जीवन का यथार्थ स्वरूप प्रकट करते हुए आप किसानों का हर्ष, शोक, उनकी रुचि, आकांक्षाएँ, उनकी चेष्टायें और उनकी

निर्बलता पात्रानुरूप भाषा में देहाती (तकिया कलाम) और कथन-विधि स्थान स्थान पर गुंफित कर सजीवता और मार्मिकता उत्पन्न कर देते हैं। इसके अतिरिक्त आप गार्हस्थ्य-जीवन का चित्र खींचने में भी असाधारण कुशल हैं। आपका राग-द्वेष का मनोवैज्ञानिक चित्रण एक अस्पष्ट प्रलाप न होकर, सरल, सुस्पष्ट भावानुरूप भाषा में हृदय-स्पर्शी होता है। कहा जाता है कि आपकी कहानियों की सफलता का आधार पात्रों के कथोपकथन हैं। उनकी कहानी का पात्र यदि मुसलमान है तो उसके संभाषण में हमें मुस्लिम संस्कृति की शिष्टता मिलेगी, यदि वह एक वेश्या है तो उसकी कलुषित-वृत्ति का यथार्थ निदर्शन मिलेगा; और यदि पात्र एक मद्यप है तो उसके विकृत-मस्तिष्क की सुस्पष्ट रूप-रेखा और विक्षेप-जनित स्वभावतः असंगत वाक्यावली के दर्शन होते हैं। कौशिकजी एक बहुज्ञ हैं, और वे मनुष्य की अंत-र्वृत्तियों का अध्ययन और अनुभव रखते हैं। इसमें संदेह नहीं कि आपके कथोपकथन अत्यंत उत्कृष्ट, नितांत मौलिक, स्वाभाविक और सजीव होते हैं। हम साहसपूर्वक कह सकते हैं कि कथोपकथन लिखने में कौशिकजी अद्वितीय हैं।

आप अँगरेज़ी तथा बँगला-साहित्य के अच्छे जानकार और फ़ारसी के विद्वान् हैं। प्रेमचंदजी की भाँति आपने भी आरंभ में उर्दू में ही अपनी प्रतिभा चमत्कृत की। उर्दू में लिखी गई आपकी अनेक कहानियाँ आज हिंदी में रूपांतरित हो चुकी हैं। आपका कहना है कि हिंदी-लेखक को भाषा में प्रवाह और प्रभावात्मक मार्दव उत्पन्न करने के लिये उर्दू की रवानी से अभिज्ञ और अभ्यस्त होना अपेक्षित है। इन्होंने आलोचनात्मक निबंध और वर्णन-विषयक पुस्तकें भी लिखी हैं।

आपने "दुबेजी की चिट्ठी" के नाम से व्यंग मिश्रित हास्यरस के बहुत से लेख लिखे हैं। ये लेख पुस्तकाकार दो भागों में प्रकाशित हो चुके हैं। हिंदी में आज-कल हास्यरस के निबंध और कहानी-लेखकों

की संख्या उँगली पर है। गोंडा के श्री जी० पी० श्रीवास्तव ने, यद्यपि हिंदी में हास्यरस के निबंधों और प्रहसनों का एक ढेर लगा दिया है, किंतु उनमें प्रत्युत्पन्नमति होते हुए भी उनका हास्य अधिकांश में भोंडा और अशिष्ट होता है। उनके पाठकों का केवल एक वर्ग है—धनी-मनचले जवान, और उनकी भी संख्या न्यून है। इनकी "लंबी दाढ़ी" यद्यपि इस बात की परिचायक है कि लेखक में हास्यसृजन की शक्ति और प्रतिभा है किंतु खेद है कि इनकी गति अधोगामिनी ही रही। इस दिशा के दूसरे लेखक मिर्ज़ा अजीम बेग़ चग़ताई यद्यपि हास्य-पूर्ण अच्छी कहानियाँ लिखते हैं, किंतु उनकी लेखन-शैली में उर्दू का प्राधान्य रहता है। श्री जगन्नाथप्रसाद और अन्नपूर्णानंद हास्यरस के सिद्धहस्त लेखक हैं। साहित्य के इसी विभाग को इन्होंने विशेष रूप से अपनाया है। इसके विपरीत कौशिकजी की लेखनी अनुशासित गति से फूलों के साथ व्यंग के भी ढेले फेंकती हुई शालीनता की मेड़ के भीतर रह कर निर्दिष्ट पथ पर बढ़ती है। इनकी हास्य की शैली में हमें प्रतापनारायण मिश्र की ज़िंदादिली की झलक मिलती है। आपने उपन्यास और कहानियों के अतिरिक्त कई रंग-मंच के योग्य सुंदर नाटक और कुछ प्रहसन भी लिखे हैं।

हम इनका जो अवतरण अन्यत्र दे रहे हैं, उसमें शैली की उल्लिखित विशेषता यथेष्ट मात्रा में मिल सकेगी।

माखनलाल चतुर्वेदी—

इस युग के युग-प्रवर्तक लेखकों में 'भारतीय आत्मा' का स्थान बहुत ऊँचा है। हिंदी-साहित्य ने अभी उनके कवि के रूप में ही दर्शन किए हैं। परंतु उन्होंने गद्य भी बहुत लिखा है। वह बहुत प्रकाशित और बहुत अप्रकाशित है। आपका अप्रकाशित गद्य प्रकाशित से कहीं अधिक सुसंपन्न और कीर्तिमान् है। चतुर्वेदीजी का गद्य क्या है, वह बिना छंद का पद्य है। हिंदी उर्दू शब्दों का धड़ल्ले से

प्रयोग किया गया है। उनके अप्रकाशित गद्य-माधुरी का रसास्वादन बहुत-से साहित्यिकों ने किया होगा। उनका अप्रकाशित "साहित्य-देव" विषय और अभिव्यंजन दोनों ही दृष्टि से हिंदी की अनुपम निधि है। साधारण प्रकार से आपकी भाषा चोट करती हुई चलती है। उनकी मस्ती में सहज परिलक्षणा नहीं है। उनके व्यंग कई तह में लपेटे होते हैं और फिर भी उनमें सीधा सादापन होता है। राष्ट्रीय भावना उनका चिरंतन स्वरूप है परंतु साहित्य के सर्वतोन्मुखी स्वरूप को वे ख़ूब पहचानते हैं। उनकी शैली पूर्णरूप से संकेतात्मक है। परंतु उनकी अभिव्यंजना का स्वरूप चाहे कितनी ही कोठरियों के भीतर क्यों न बंद रहे उसका आकार और उसकी छाया प्रत्येक साहित्य-रसिक की परख में आ जाता है। इस दृष्टि से वे दुरूह नहीं हैं।

अन्योक्ति-विधान का आश्रय लेना आज-कल के युग की एक चाल है। गद्य और पद्य दोनों ही क्षेत्रों में लोग इसका प्रयोग करते हैं। परंतु जो कवि अथवा लेखक अन्योक्ति के प्रयोग में इतने लिप्त हो जाते हैं कि पग-पग पर अन्योक्तियों में ही बोलते हैं, वे संकेतात्मक न होकर पहेली बुझाने लगते हैं। उनकी उक्तियों में व्यतिक्रम आ जाता है; उन्हें विफल प्रयास समझना चाहिये। आज-कल के प्रसिद्ध कवि सुमित्रानंदन पंत में भी कहीं-कहीं पर यह दोष बेतरह प्रविष्ट हो गया है जिससे उनकी कविता बहुत कुछ नष्ट समझनी चाहिये। परंतु इस दोष से माखनलालजी कविता और गद्य दोनों ही में मुक्त हैं। आप संकेतात्मक होकर भी स्पष्ट हैं। कहीं छोटे, कहीं बड़े, कहीं साधारण और कहीं प्रश्नवाचक उनके वाक्य बड़े मीठे और बड़े चुटीले होते हैं। ऊँचा से ऊँचा दर्शन, और गहरा से गहरा समीक्षा-तत्व वे इसी काव्यात्मक प्रणाली और संकेतात्मक भाषा में कहते चले जाते हैं। उनकी शैली में भारी तन्मयता है। उसका प्रज्ञात्मक गुण रागात्मक पिटारी के भीतर बंद रहता है।

रायकृष्ण दास—

हिंदी-गद्य में काव्य की धारा बहानेवाले प्रतिष्ठापात्र लेखकों में राय कृष्णदास का उच्च स्थान है। इनकी भावप्रकाशन की प्रणाली में विचित्रता लक्षित है। परोक्ष के प्रति अपनी अनुभूति को जिस भावुकता से आप व्यक्त करते हैं उसमें कला दृग्गोचर होती है। आपने उर्दू का पूर्ण बहिष्कार नहीं किया है, व्यावहारिक हिंदी को अपनाया है। कहीं-कहीं पर आपने उर्दू के मुहावरों तक को हिंदी का झोलंगा पहनाया है। आपकी शैली में बनारस के भी चलते हुए शब्द हमें मिलते हैं। इनका भावाभिव्यंजन सरल, सुंदर और गठीला है। दीर्घ समस्त पदों का आश्रय लिए बिना तथा क्लिष्ट संस्कृत तत्समता को भी बचाते हुए आपने विवेचन में हृदय-स्पर्शी सुंदरता सजा दी है। आपकी रचनायें सर्वांग काल्पनिक हैं, उनमें प्रसादजी की लोकोत्तर स्फूर्त्ति है।

राय साहब का शब्द-चयन भी शुद्ध, सार्थक, अनूठा है। और दुरूह नहीं है। वाक्यों में परस्पर सुंदर सामंजस्य और शैली में मनोरम प्रवाह है। आपकी 'साधना' अपने ढंग की एक उत्कृष्ट कृति है। आपके गद्य-खंड अधिकांश में अन्योक्तिमय हैं। अतएव वाच्यार्थ की ओर अधिक ध्यान न देकर ध्वन्यार्थ को ही प्रधान मानना चाहिये। उनके इन खंडों से रवींद्रनाथ की 'गीतांजलि' से किसी अंश तक साम्य स्थिर किया जा सकता है।

उपोद्‌घात—

वर्तमान हिंदी-साहित्य गद्य का विकसित स्वरूप है। "आधुनिक काल में गद्य का आविर्भाव सब से प्रधान साहित्यिक घटना है।" संवत् १९५७ से आज तक "इस थोड़े से काल में हमारे साहित्य के भीतर जितनी अनेकरूपता का विकास हुआ है, उतनी अनेकरूपता का विधान कभी नहीं हुआ था।" इस साहित्योदय की अरुणिमा हमें

भारतेंदुकाल में ही मिल गई थी। उस समय अनेक पत्रिकाएँ निकलीं। किंतु मनोरंजक साहित्य का सृजन ही उस काल की प्रचलित धारा थी। समाज-शास्त्र तथा इतर विषयों का उन्नयन नहीं देख पड़ा था। शीघ्र ही अँगरेज़ी शिक्षा के प्रसार से हिंदी-गद्य विस्तृत होने लगा। साहित्य की विभिन्न विचार-धाराएँ हिंदी में अवतीर्ण हुईं और कुछ ही समय में शिक्षा, अर्थशास्त्र, इतिहास, भ्रमण, उद्योग-व्यापार, चिकित्सा, कृषि, भौतिक विज्ञान, पदार्थ-विज्ञान आदि विज्ञान के अन्यान्य क्षेत्रों की चर्चा हिंदी-गद्य में होने लगी। स्त्री-शिक्षा और धर्मसंबंधी पुस्तकें तथा उपदेशात्मक सामग्री में सबसे पहले गद्य लिखा गया। इस काल में हिंदी-गद्यकारों को संस्कृत, फ़ारसी, अरबी के अतिरिक्त अँगरेज़ी तथा देश की इतर प्रांतीय भाषाओं और साहित्य से अभिज्ञ विद्वान् मिले।

उपन्यास—

हिंदी-भाषा-भाषी जनता सर्वप्रथम बंग-साहित्य की ओर झुकी। उपन्यास-धारा का स्रोत बहुत काल पर्यंत बंगाल ही रहा। आरंभ के अनेक नाटक भी बँगला अनुवाद ही हैं। साहित्य के इस उत्थान में व्याकरण की शुद्धता, भाषा-सौष्ठव तथा शैली की अनेकरूपता का विकास हुआ। लेख्य विषयों का क्षेत्र क्रमशः बढ़ रहा था अतः भाषा में प्रौढ़ता और गंभीरता के साथ समीचीनता झलकने लगी। अनुवादों के साथ ही साथ मौलिक ग्रंथों का प्रणयन भी द्रुतवेग से होने लगा। उपन्यासों में तिलिस्म और ऐय्यारी की बहुत कुछ मौलिक रोचकता देश को केवल बहुत दिनों तक बहलाए ही नहीं रही, वरन् इससे भाषा की भी बड़ी उन्नति हुई। "चंद्रकांता" जैसे उपन्यासों के जितने संस्करण हिंदी में प्रकाशित हुए होंगे, उतने अन्य किसी भी पुस्तक के शायद ही हुए हों। जिस प्रकार बँगला अनुवादों के लिये लोग बाबू

गदाधरसिंह, रामकृष्ण वर्मा, कार्त्तिकप्रसाद खत्री और गोपाल-राम गहमरी की कृतियाँ खोजा करते थे, उसी भाँति अब देवकी-नंदन खत्री की पुस्तकों को तड़पने लगे। हिंदी के मौलिक उपन्यास-कारों में आपका नाम पहले लिया जाता है। आम-फ़हम भाषा में कौतूहलोत्पादक घटना का वर्णन इन ग्रंथों की ख़ूबी है।

मौलिक उपन्यासों का परिचय प्राप्त करने के पूर्व अनुवादों का कुछ उल्लेख कर देना इस स्थल पर आवश्यक है। वास्तव में आज तक जितने अधिक उपन्यास अनूदित हुए हैं, उतनी मात्रा में अन्य किसी भी विषय के ग्रंथ नहीं हुए। इस युग के बंगला अनुवादकों में रूपनारायण पांडेय और ईश्वरीप्रसाद शर्मा उल्लेखनीय हैं। इन लोगों ने बंकिम बाबू, रमेशचंद्र दत्त, चंडीचरण, शरच्चंद्र, रवींद्रनाथ, राखालदास आदि ख्यातिनामा बंगाली लेखकों की रचनाएँ अनूदित की हैं। पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी और बा० रामचंद्र वर्मा ने मराठी उपन्यासों का अनुवाद किया। श्री गिरधर शर्मा नवरत्न और बा० प्रवासीलाल वर्मा तथा शांतिकुमारी वर्मा मालवीय ने संयुक्त गुजराती उपन्यासों के अनुवाद किए हैं। श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय ने उर्दू से 'वेनिस का बाँका' का अनुवाद किया। रूसी, फ्रेंच और अँगरेज़ी के उपन्यास अनुवादकों में सर्वश्री रुद्रनारायण अग्रवाल, छविनाथ पांडेय, प्रेम-चंद, गणेशशंकर विद्यार्थी, ऋषभचरण जैन, राजबहादुरसिंह आदि उल्लेख्य हैं।

मौलिक उपन्यासकारों में देवकीनंदन खत्री के बाद सर्वश्री किशोरीलाल गोस्वामी, मेहता लज्जाराम, अयोध्यासिंह उपाध्याय व्रजनंदनसहाय, प्रेमचंद, वृंदावनलाल वर्मा, विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, जयशंकरप्रसाद, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, चंडीप्रसाद 'हृदयेश', इलाचंद्र जोशी, चंडिकाप्रसाद मिश्र, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, चतुरसेन शास्त्री, निरालाजी, तेजरानी दीक्षित आदि का नाम प्रसिद्ध है।

यहाँ पर कुछ उपन्यासों का भी नामोल्लेख करना प्रासंगिक होगा। किशोरीलाल गोस्वामी ने छोटे मोटे ६५ उपन्यास लिखे; किंतु वे बहुत कुछ वैसे ही हैं जैसी कि आज-कल नौटंकी की किताबें। इनकी मौलिकता विषैले तल पर टिकती थी। इनकी भाषा कुछ दिनों तक तो सरल हिंदी रही, किंतु फिर बाद की रचनाओं में उर्दूदानी बेतरह खटकती है। श्री प्रेमचंदजी के मुख्य उपन्यासों में सेवासदन, प्रेमाश्रम, कर्मभूमि, रंगभूमि, कायाकल्प, गबन, और प्रतिज्ञा का नाम आता है। आपका "फ़िसान-ए-आज़ाद" का हिंदी-रूपांतर "आज़ाद कथा" भी बड़ा रोचक है। आपके कहानी-संग्रह एक दर्जन से भी अधिक निकल चुके हैं। श्री चंडीप्रसाद 'हृदयेश' का 'मंगल-प्रभात' एक सुंदर कृति है। जयशंकरप्रसाद का 'कंकाल' भी एक उच्च कोटि का सामाजिक उपन्यास है। वृंदावनलाल वर्मा का 'गढ़कुँडार', 'लगन', 'कोतवाल की करामात' तथा अन्य कई उपन्यास पठनीय हैं। कौशिकजी की 'भिखारिणी' और 'माँ' भी सुंदर हैं। 'माँ' अपने ढंग की बड़ी अनूठी रचना है।

चरित्र-चित्रण प्रधान, संवाद-प्रधान, तथा कथानक-प्रधान सभी प्रकार के उपन्यास आज रचे जा रहे हैं। सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्म्मिक सभी विषयों को उपन्यास का विषय सुगमता से बनाया जा रहा है। प्रेमतत्व की मार्मिक गवेषणा मनोवैज्ञानिक ढंग से आज-कल के उपन्यासों में मिलती है। श्री रवींद्रनाथ के प्रभाव से एक ऐसा दल उपन्यास और कहानी-लेखकों में उदय हो गया है जो अभिव्यंजना में मौलिकता के साथ-साथ अंतर्द्वंद्व की अच्छी झाँकी दिखाता है, और कथानकों को गौण स्थान देकर मनोभावों और मनोविकारों की सूक्ष्माति-सूक्ष्म निदर्शन कराना अपनी कला का अनिवार्य अंग समझता है। इस समय के अभावों और उत्पीडनों का अच्छा प्रतिबिंब उपन्यासों और कहानियों में दिखाई देता है।

कहानी—

उपन्यास-रचना के साथ-साथ अँगरेज़ी और बँगला में गल्पों की भाँति हिंदी में भी कहानियों के दर्शन हुए। हिंदी में कहानी की धारा की उत्पादक तथा प्रथम उद्गम-स्थल "सरस्वती" है। सर्वप्रथम "सरस्वती" के प्रबंधक बाबू "गिरजाकुमार घोष" ने "लाला पार्वती-नंदन" के नाम से छोटी-छोटी कहानियाँ लिखीं। शीघ्र ही अन्यान्य पत्र-पत्रिकाओं में भी कहानियाँ निकलने लगीं। जनसाधारण का जीवन-संघर्ष अधिक व्यस्त हो चला था, अतएव उसकी रुचि उपन्यासों से भी अधिक कहानियों की ओर आकृष्ट हुई। फलतः हिंदी में मौलिक कहानीकारों का आदर होने लगा। अधिकांश कहानियाँ समाजगत विषयों का ही खंड-चित्र होती हैं। इन कहानी-लेखकों में श्री प्रेमचंद, बद्रीनाथ 'सुदर्शन' तथा कौशिकजी की कहानियाँ लोगों को अधिक पसंद आईं। इनकी कहानियाँ मधुर, ओजस्वी, मनोवैज्ञानिक और हृदय-स्पर्शी होती हैं। पीछे से कहानी-क्षेत्र में अन्य कई प्रतिभावान् लेखक उतरे। सर्वश्री ज्वालादत्त शर्मा, जयशंकरप्रसाद, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, विनोदशंकर व्यास, ज़हूरबख़्श, मुंशी कन्हैयालाल, इला-चंद्र, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, ऋषभचरण जैन, राय कृष्णदास, चंडिका-प्रसाद मिश्र, बालकृष्ण शर्मा, प्रवासीलाल वर्मा, रामचंद्र टंडन, रघु-पतिसहाय, श्रीराम शर्मा, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', जगमोहन गुप्त, मोहनलाल महतो, चतुरसेन शास्त्री, क्षितींद्रमोहन मुस्तफ़ी, शिवरानी देवी आदि इस युग के कुशल-कहानी लेखक अपनी भावपूर्ण कृतियों से हिंदी-संसार को प्रभावित कर रहे हैं। कहानियाँ भी उपन्यासों की भाँति हिंदी में अनूदित हुई हैं। रूसी, फ्रेंच, अँगरेज़ी, और बँगला की कहानियाँ प्रतिमास पत्र-पत्रिकाओं में निकलती हैं। इधर कुछ दिनों से कई कवियों की भी प्रवृत्ति कहानी-कला की ओर बढ़ रही है। श्री सुभद्राकुमारी चौहान, और सियारामशरण गुप्त के कहानी-संग्रह

निकल रहे हैं। आज-कल हिंदी-साहित्य में कहानियों का ऐसा वेग है कि मासिक पत्रों में कहानी-अंक निकलते हैं और कुछ लोग कवि-सम्मेलनों की भाँति कहानी-सम्मेलन करते हैं।

हिंदी में कहानी का भविष्य बहुत उज्ज्वल दिखाई देता है। कुछ ऐसे विद्वान् और सहृदय व्यक्ति कहानी लिखने लगे हैं जिनके कारण कहानी-क्षेत्र में युगांतर की एक लहर आ गई है। अद्वितीय एकांत संवेदना के ताने के साथ-साथ नितांत मौलिक अभिव्यंजना के सुघड़ बाने से मिलाकर जो कहानी-पट प्रस्तुत हो रहा है वह चिरंतन जीवन की सूचना रखता है और उसमें कहानी-कला के सारे गुण विद्यमान हैं। कहानी-लेखन-कला पर भी पुस्तकें लिखी जाने लगी हैं और कहानी-लेखन को पृथक् कला की भाँति लोग अध्ययन करते हैं। कहानी आज कई स्वरूपों में दिखाई देती है।

नाटक—

हिंदी में नाटक-रचना अपेक्षाकृत बहुत पहले आरंभ हो चुकी थी। 'नहुष', 'आनंद रघुनंदन', 'शकुंतला' भारतेंदुजी से पहले लिखे जा चुके थे। भारतेंदुकृत तथा भारतेंदुकाल के अन्यान्य लेखकों द्वारा प्रणीत नाटकों का उल्लेख अन्यत्र हो चुका है। हिंदी के पुराने नाटकों में श्री सत्यनारायण कविरत्न का "मालती-माधव" और "उत्तररामचरित" अनूदित नाटक में साहित्यिक गुण हैं। कानपुर के राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' कृत "चंद्रकला भानुकुमार नाटक" अपने समय के मौलिक नाटकों में विशेष प्रतिष्ठित है। इसका गद्य-खंड भी बहुत सुंदर है। किंतु अभिनय योग्य न होने से इन नाटकों का साहित्यिक मूल्य केवल पाठ्य पुस्तकों की तालिका में ही रह गया है। काशी के रामकृष्ण वर्मा तथा गोपालराम गहमरी ने उपन्यासों के साथ नाटकों का भी बँगला से अनुवाद किया। राय बहादुर लाला सीताराम ने संस्कृत के कई नाटकों

का हिंदी में अनुवाद किया है। इसके अतिरिक्त हिंदी के आधुनिक काल के लेखकों में श्री रूपनारायण पांडेय, नाथूराम प्रेमी आदि कुछ सज्जनों ने बंकिम बाबू, द्विजेंद्रलाल राय, गिरीश घोष आदि के नाटकों का अनुवाद कर चुके हैं। भारतेंदुकाल से ही अभिनय-कला की ओर साहित्यिक जन आकृष्ट हो चले थे। अतः काशी तथा अन्य स्थानों पर हिंदी का रंगमंच भी देखने को मिलने लगा। इन अभिनय योग्य नाटक-लेखकों में विश्वंभरनाथ "व्याकुल", नारायणप्रसाद बेताब, राधेश्याम कथावाचक, हरीकृष्ण जौहर, तुलसीदत्त शैदा, माधव शुक्ल आदि का नाम उल्लेख्य है। विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक ने भी पार्सी अल्फ्रेड कंपनी के लिये नाटक लिखे हैं।

आधुनिक युग के साहित्यिक नाटककारों में श्री जयशंकरप्रसाद, गोविंदवल्लभ पंत, बदरीनाथ भट्ट, माखनलाल चतुर्वेदी,[1] मैथिलीशरण गुप्त प्रसिद्धि-प्राप्त लेखक हैं। श्री प्रेमचंद और उग्रजी ने भी नाटक लिखे हैं। भाषा और भावप्रदर्शन की दृष्टि से प्रसादजी के नाटक उच्च कोटि के हैं। माखनलाल चतुर्वेदी का कृष्णार्जुनयुद्ध अभिनय और साहित्यिकता दोनों अंगों को पूरा करता है; और इस दृष्टि से यह एक अनूठी कृति है। बदरीनाथ भट्ट का 'दुर्गावती' तथा पंतजी का 'वरमाला' रंगमंच पर भी सफल हुए हैं। सियारामशरण गुप्त ने अभी छोटे-छोटे कई नाटक लिखे हैं; आपका 'पुण्य पर्व' एक सुंदर नाटक है। लक्ष्मी-शंकर मिश्र के कई नाटकों ने नाटक-रचना की संख्या-वृद्धि की है; किंतु आपका प्रयास सफल नहीं कहा जा सकता।

टाकीज़ की वर्तमान प्रभुता के कारण प्रतिक्षण नाटकों की अभिवृद्धि हो रही है। कुछ बड़े बड़े साहित्यिक, कंपनियों के लिये अभिनेय नाटक तैयार करने में लगे हैं। किंतु जिस प्रकार नितांत साहित्यिक नाटकों में अनभिनेय हो जाने की आशंका रहती है, वैसे ही रंगमंच पर भी साहित्य का गला खूब घोंटा जाता है। इधर कुछ दिनों से

कहानी का अनुकरण करके एकांकी नाटक भी ज़ोर-शोर से लिखे जा रहे हैं। सुमित्रानंदन पंत ने काव्य-क्षेत्र से मन बदलने के लिये 'ज्योत्सना' नामक एक नाटक लिखा भी है जिसके पात्र मनुष्येतर प्रकृति के सुकुमार प्राणी ही अधिकतर हैं। अब सुना जाता है कि उन्होंने एकांकी नाटक भी लिखे हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने भी एक आध एकांकी अभिनय लिखे हैं, जो अधिकतर चुटकुले ही हैं। प्रसादजी का 'एक घूँट' नामक एकांकी नाटक बहुत सफल कहा जा सकता है। अन्यत्र हम इस रचना के एक अंश को प्रस्तुत कर रहे हैं।

निबंध-लेखन—

निबंध-रचना का प्रथम आभास हमें भारतेंदु-काल में मिला। किंतु उस समय की प्रबंध-रचना गंभीर गवेषणा-पूर्ण विषयों पर न होकर साधारण वर्णनात्मक ढंग की होती थी। प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट आदि के लेख्य विषय रोचक और शैली चमत्कार-पूर्ण होती थी। इन निबंधों से लोगों को विचार-विमर्श का संकेत मिला। भाषा का ज्यों-ज्यों विकास हो रहा था, उसमें प्रौढ़ता आ रही थी, उसके साथ ही विचार-पद्धति का भी उन्नयन होता गया। विचारों में समीचीनता का प्रकाश हमें सर्वप्रथम आचार्य द्विवेदीजी के समय समय पर 'सरस्वती' में लिखे निबंधों में मिला। उनका "बेकन-विचार-रत्नावली" तथा पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री का "निबंध-मालादर्श" आदिकाल के निबंध संग्रह हैं। ये दोनों निबंध-संग्रह अँगरेज़ी और मराठी से अनूदित हैं। द्विवेदीजी के लिखे कई लेख-संग्रह शीघ्र ही निकले जैसे 'सुकवि-संकीर्तन', 'विचित्र चित्रण', 'अद्भुत आलाप' आदि। ये लेख अत्यंत साधारण विषयों पर लिखे गए हैं, अथच यह सामग्री मननशील नहीं है। माधवप्रसाद मिश्र और बालमुकुंद गुप्त की निबंध-रचना का हम अन्यत्र उल्लेख कर

चुके हैं। माधवप्रसाद मिश्र अपने समय के विद्वान् और उत्कृष्ट निबंध-लेखक थे। बालमुकुंद गुप्त के "शिव शंभु का चिट्ठा" की भाषा में भी परिष्कृत व्यावहारिकता और शिष्ट विनोद है। इसी काल में गोविंदनारायण मिश्र ने काव्यात्मक क्लिष्ट संस्कृत की प्रबलता अपने निबंधों में दिखाई। बालमुकुंद गुप्त के सदृश ही जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने हास्य-रसात्मक निबंध-रचना की है। वर्तमान हिंदी के गद्य-क्षेत्र में निबंधों का सम्यक् उन्नयन हुआ है। अनेकानेक विभिन्न विषयक लेख आज हमारी नित्य प्रति की पाठ्य सामग्री का सृजन करते हैं। गद्य के इस अंग की न्याय-पूर्ण विवेचना, हमें भय है, इस प्राक्कथन की सीमा का अतिक्रमण कर देगी, फिर भी केवल सूक्ष्म संकेत द्वारा इस दिशा में प्रकाश डालना हम इस स्थल पर अपेक्षित समझते हैं।

(क) गद्य-काव्य—

अन्य भाषाओं के संपर्क से और भारतवर्ष के शिक्षित नवयुवकों में गंभीर चिंतना का स्वभाव उत्पन्न हो जाने के कारण अब लोगों की रुचि हलके व साधारण प्रबंधों से हटकर गंभीर विषयों के लिखने की ओर अग्रसर हुई है। श्रीबालकृष्ण शर्मा सदृश विद्वान् और भावुक युवकों ने साधारण विषयों पर साहित्यिक प्रबंध लिखने का प्रयास किया, किंतु वे हलके न रह कर बड़े गहरे, दार्शनिक और आध्यात्मिक प्रबंध बन गए।

कविता में गद्य लिखने की परिपाटी यद्यपि इस युग की नितांत नई चीज़ नहीं है तो भी जितना अधिक कविता में गद्य आज-कल लिखा जाता है, उतना पहले कभी नहीं देखा गया। इस क्षेत्र में पं० माखन-लाल चतुर्वेदी सर्वश्रेष्ठ हैं। अन्योक्तिमय बहुत-से गद्यखंड राय कृष्ण-दास ने लिखे हैं और वे सुंदर हैं। मोहनलाल महतो व बालकृष्ण शर्मा

तथा अन्य अनेक लेखक इस क्षेत्र में लिख रहे हैं। वियोगीहरिजी इस क्षेत्र के बहुत पुराने लेखक हैं, परंतु उनका विषय केवल अध्यात्म और भक्ति है। कविता में गद्य के लेखकों पर रवींद्रनाथ तथा उनकी गीतांजलि का बहुत गहरा प्रभाव है। केवल माखनलाल चतुर्वेदी अपनी उद्‌भावना में मौलिक हैं। इधर वृंदावनलाल वर्मा की भी वृत्ति इस ओर झुकती देख पड़ती है। छोटे छोटे टुकड़ों के अतिरिक्त कविता-मय गद्य में एक बड़ा अन्योक्ति-मय ग्रंथ भी देखने में आया है जो अपने विषय, भाव और अभिव्यंजना में पूर्णरूप से मौलिक है।

(ख) आलोचना—

हिंदी में प्रबंध-रचना की दूसरी धारा आलोचना के रूप में निर्मित हुई है। आलोचना का सूत्रपात पद्‌मसिंह शर्मा और मिश्र-बंधुओं ने किया, और बहुत-से प्राचीन लेखकों ने यह परिपाटी स्थिर रक्खी। आलोचना के कई विधान इस समय प्रचलित हैं, और साहित्य के इस दल में जितने अधिक अनधिकारी प्रविष्ट हुए हैं उतने अन्य किसी दल में नहीं हैं। लोग परस्पर अपना वैर-भाव और दल-बंदी का बदला आलोचना की ओट से निकालते हैं। हिंदी में समालोचना भारतेंदु के समकालीन बदरीनारायण प्रेमघन के समय से दिखाई देती है। उनके पत्र "आनंद-कादंबिनी" में श्री निवासदास ने 'संयोगिता-स्वयंवर' की एक अच्छी आलोचना की है। "कालिदास की निरंकुशता" लिखकर महावीरप्रसाद द्विवेदी ने "विक्रमांक-देवचरित्र' और 'नैषध-चरित्र-चर्चा' दो समीक्षाएँ लिखीं। ये समीक्षायें प्रारंभिक युग की प्रेरणा के नाते आदरणीय हैं। हिंदी-कवियों की सर्वप्रथम मिश्र-बंधुओं ने 'हिंदी-नवरत्न' में आलोचनायें की हैं, और यह उनका एक बड़ा भारी ग्रंथ है। पद्‌मसिंह शर्मा ने तुलनात्मक आलोचना के नाम पर कविवर बिहारी के ऊपर एक बड़ा भारी ग्रंथ तैयार किया

है। यह आलोचना आभ्यंतरिक न होकर बाह्य तथ्यों पर आश्रित है। कृष्णबिहारी मिश्र की देव और बिहारी तथा मतिराम पर लिखी गई आलोचनायें कवि की अन्तर्प्रवृत्तियों की उपेक्षा नहीं करतीं, अतएव वे अच्छी हैं। इनके आलोचनात्मक प्रबंध बड़े हो गए हैं और पुस्तक के रूप में दिखाई पड़ते हैं। इस युग के सर्वश्रेष्ठ समालोचक काशी के पं० रामचंद्र शुक्ल हैं। उनकी आलोचना में केवल गुण-दोष का ही कथन नहीं है। उन्होंने पूर्वीय व पश्चिमीय समालोचना-सिद्धांत का अच्छा समन्वय किया है। उन्होंने कवियों की अन्तर्दृष्टि की प्रवृत्ति और प्रेरणा का बड़ी सहानुभूति से अनुशीलन किया है। आपकी जायसी और तुलसी की समालोचनाएँ बढ़कर पुस्तकाकार हो गई हैं, परंतु सूर के ऊपर लिखी हुई आलोचनाओं का अच्छा प्रबंध है। आज-कल शुक्लजी की आलोचना-परिपाटी के बहुत-से अनुयायी हो गए हैं और उनकी लेखनी से हिंदी के कीर्त्तिमान् लेखकों व कवियों पर बहुत सुंदर और तत्वपूर्ण समालोचनायें निकल रही हैं। मायाशंकर याज्ञिक की रहीम की कविता, और भगवानदीन की देव और बिहारी के झगड़े के लेख भी समालोचना के नाम से पुकारे जाते हैं। सूरपञ्चरत्न, केशव-पञ्चरत्न, अन्योक्तिकल्पद्रुम और दोहावली पर भगवानदीन ने सँभल कर लिखा है, और वह अच्छा है। बाबू श्यामसुंदरदास की कबीर-ग्रंथावली भी अच्छी समालोचना है। राजबहादुर लमगोड़ा के लेखों में से यदि भावुकता निकाली जा सके तो वे समालोचक के अच्छे उदाहरण हो सकते हैं। पं० रामप्रसाद शुक्ल की 'प्रसाद की नाट्य-कला' 'नागरिक हिंदी कहानियों की भूमिका' अच्छी समालोचनायें हैं। 'कबीर का रहस्यवाद' नामक रामकुमार वर्मा-लिखित ग्रंथ अच्छा ग्रंथ है। 'साहित्यालोचन', 'विश्वसाहित्य-विमर्श', डा० गंगानाथ झा का 'कवि-रहस्य' तथा रामकृष्ण शुक्ल का 'कवि-जिज्ञासा' अच्छे ग्रन्थ हैं। कालिदास कपूर की छोटी पुस्तक से भी पता चलता है कि

आलोचना का मर्म वे समझते हैं। वैसे तो प्रत्येक पत्र-संपादक अपने को योग्य समालोचक समझता है परंतु कुछ पत्र प्रयत्न करके अच्छी समालोचनायें प्रकाशित करते हैं। साप्ताहिक पत्रों में 'कर्मवीर' सत्समालोचना के लिये विख्यात है। समालोचना-तत्व से अनभिज्ञ कुछ लोग योंहीं अपनी लेखनी घिसा करते हैं। इसी प्रकार, जयशंकर-प्रसाद को अपमानित करने की दृष्टि से एक पुस्तक निकली है जिसमें उनके दो नाटकों की कथित समीक्षा की गई है।

(ग) लक्षण-ग्रंथ—

यद्यपि अभी तक ऐसा कोई लक्षण-ग्रंथ नहीं निकला है जो पूर्ण रूप से मनोवैज्ञानिक ढंग का हो, और जिसमें प्रत्येक प्रकार के पारिभाषिक शब्द की व्याख्या की गई हो; तो भी लक्षण-ग्रंथों की बाढ़-सी आ गई है। अलंकार, पिंगल और रस के बहुत-से ग्रंथ तो संस्कृत से ज्यों के त्यों अनुवाद हैं; कुछ के रचयिताओं ने हिंदी के श्रेष्ठ कवियों की कृतियों से उदाहरण दिए हैं, और कुछ ने अपने निजी उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। केशव के समय से तथा उनसे भी पहले भारतीय हिंदी-साहित्य के युग में जो रीति-काल हुआ है, उसके अधिकांश कवियों ने अपनी कविता का प्रयोग काव्य-लक्षणों के उदाहरण-स्वरूप किया है। उस काल के लेखकों के नाम किसी भी ऐतिहासिक ग्रंथ में मिल सकते हैं। साहित्य-दर्पण की विमला टीका उक्त ग्रंथ को समझने के लिये एक अच्छी वस्तु है। श्री कन्हैयालाल पोद्दार का काव्य-कल्पद्रुम एक अच्छा ग्रंथ है। रामशंकर शुक्ल रसाल का अलंकार-पीयूष और अप्रकाशित 'रस-निरूपण' भी अब के ढंग के विशद ग्रंथ हैं। भारतीय भूषण नामक अलंकार का एक ग्रंथ अभी हाल में देखने में आया है। लाला भगवानदीन का "अलंकारमंजूषा" और अध्यापक रामरत्न का अलंकार-प्रबोध बहुत दिन से व्यवहृत हैं।

इधर कालेजों के पाठ्य-क्रम में सम्मिलित कराने की दृष्टि से बहुत लोगों ने लक्षण-ग्रंथों के संक्षिप्त संस्करण निकालने शुरू कर दिए हैं। इस दिशा में श्री रामकृष्ण का "काव्य-जिज्ञासा" निकालने का प्रयास स्तुत्य और सफल है। पिंगल-शास्त्र पर भी आपने इस ग्रंथ में अच्छा प्रकाश डाला है। परंतु वह बालकों ही की सामग्री है। बालकों के पढ़ाने के उद्देश्य से ही ज्योतिःप्रसाद मिश्र 'निर्मल' तथा प्रयाग-निवासी उदीयमान कवि 'सरस' जी ने पिंगल-शास्त्र पर प्रारंभिक पुस्तकें लिखी हैं।

(घ) व्याकरण और भाषा-विज्ञान—

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिंदी-व्याकरण की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट कर व्याकरण लिखने की ओर लेखकों की अभिरुचि उत्पन्न की। कामताप्रसाद गुरु सुप्रसिद्ध वैयाकरण हैं। अंगरेज़ी विद्वान् केलाग साहब ने भी हिंदी का एक मोटा व्याकरण रचा है लेकिन वह अंगरेज़ी भाषा में है। इधर स्कूलों की पाठ्य पुस्तकों में समन्वित होने के लिये बहुत-सी व्याकरण-पुस्तकें रची गईं। अँगरेज़ी शिक्षा के प्रभाव से अधिकांश व्याकरण अँगरेज़ी ढंग के ही हैं, इनमें पं० गंगा-प्रसाद का व्याकरण अच्छा है। कुछ व्याकरण साक्षात् प्रणाली के भी बनाए गए हैं; और स्कूलों में इनका सम्मान है। बा० घमंडीलाल शर्मा ने एक अच्छा व्याकरण प्रस्तुत किया है। प्रयाग के दारागंजी-साहित्य-मंदिर का व्याकरण रत्नाकर भी एक अच्छा ग्रंथ है। व्याकरण की पुस्तकों की संख्या इतनी बढ़ गई है और बढ़ती जा रही है कि उनका नाम लिखना और व्याकरण-लेखकों का परिचय देना असंभव है। प्रबंध-रचना-विज्ञान की भी अनेक पुस्तकें देखने में आ रही हैं। उनमें अँगरेज़ी ढंग की प्रबंध-रचना-प्रणाली का विधान समझाया गया है। प्रयाग के अग्रवाल प्रेस ने इस विषय की दो पुस्तकें छापी हैं। इन

पुस्तकों में बड़े-बड़े प्राचीन लेखकों की कृतियों में से टुकड़े दिए हुए हैं और छात्रों को उन पर दिए हुए अभ्यासों को करना है। ये पुस्तकें पाठ्य पुस्तकों में संग्रहीत हैं। स्वामी सत्यदेव-लिखित "लेखनकला" भी एक सुंदर और उपयोगी पुस्तक है।

भाषा-विज्ञान की ओर हिंदी के लेखकों का ध्यान उसी समय गया जिस समय हिंदी पढ़ने की अभिरुचि अँगरेज़ी विद्वानों ने दिखलाई। बहुत-से अँगरेज़ी विद्वानों ने हिंदी का अच्छा अनुशीलन कर उसका व्याकरण और उसका भाषा-विज्ञान तैयार किया। इस संबंध में सर जार्ज ग्रियर्सन का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। सर्वश्री मंगलदेव शर्मा, श्यामसुंदरदास, नलिनीमोहन सान्याल, रामचंद्र शुक्ल तथा धीरेंद्र वर्मा भाषा-विज्ञान के अच्छे पंडित हैं, और इन्होंने हिंदी-भाषा-विज्ञान प्रस्तुत करके हिंदी की सेवा की है। श्री धीरेंद्र वर्मा की पुस्तक अभी हाल में ही हिंदुस्तानी-एकेडमी से निकली है; इसमें ध्वनि-विषयक कुछ ऐसे नवीन और मौलिक विचार प्रकट किए गए हैं, जो इसके पहले के ग्रंथों में न थे। इधर कुछ और लेखक भी इस ओर लिख रहे हैं।

(ङ) इतिहास—

हिंदी-गद्य और दिशाओं में भी उन्नति के पथ पर है। राजपूताने के इतिहास के लेखक सर्वश्री राय बहादुर, महामहोपाध्याय गौरीशंकर, हीराचंद ओझा, डा० वेणीप्रसाद, डा० ईश्वरीप्रसाद, विश्वेश्वरप्रसाद रेउ, राय बहादुर हीरालाल, जनार्दन भट्ट, काशीप्रसाद जायसवाल, रामप्रसाद, जयचंद्र विद्यालंकार, कृष्णबलदेव वर्मा प्रभृति विद्वान् इतिहास की अच्छी सेवा कर रहे हैं। लक्ष्मीकांत त्रिपाठी भी इतिहास पर कुछ लिखा करते थे, परंतु मालूम होता है इधर आपकी लेखनी ने विश्राम ग्रहण कर लिया है। हिंदी-साहित्य का इतिहास भी बहुत-से विद्वानों ने उपस्थित किया है। सर्वश्री मिश्रबंधु, रामनरेश त्रिपाठी,

श्यामसुंदरदास, रामचंद्र शुक्ल, रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', नंददुलारे वाजपेयी, मुंशीराम, सूर्यकांत, रमाकांत, जगन्नाथप्रसाद इत्यादि सज्जनों ने हिंदी का इतिहास उपस्थित करके एक बड़ी कमी को पूरा किया है। नए नए इतिहास-ग्रंथ लिखे जा रहे हैं, और लेखकों में नए नए दृष्टि-कोण की प्रेरणा है।

(च) जीवनी-साहित्य—

इतिहास साहित्य का एक प्रसिद्ध अंग जीवनी-लेखन है। जीवनी लिखने की परिपाटी पुरानी होते हुए भी हिंदी के लिये नवीन ही है। जीवनी-लेखन के आदर्श में एक स्वरूपता कभी नहीं रही। इस देश के ऋषि-मुनियों ने अपनी जीवनी को लेखनीबद्ध कभी नहीं कराया। नाशमान् और नगण्य मांसपिंडों का स्थायी इतिहास रखना प्रयोजन-शून्य था। दूसरी ओर कवि और नाटककारों का मस्तिष्क अपनी अद्वितीय प्रतिभा और विद्वत्ता से ऐसा वातुल रहता था कि उनकी कृतियों के आरंभ में गर्वोक्तियों की भरमार है। इस आत्म-श्लाघा की अहंकारमय गाथा में जीवनी-तत्व के बहुत कम कण संग्रहीत हो पाते थे, परंतु फिर भी लपेट में कुछ वार्त्तायें आ ही जाती थीं।

इतिहास के निर्माण की जब से मनुष्य को चिंता हुई तभी से जीवनी-निर्माण का युग भी आरंभ हुआ। यह समय हिंदी के गद्य-साहित्य के परे का है इसी लिये जीवनी-लेखन-क्षेत्र में हिंदी-गद्य को अग्रसर होने में कोई हिचकिचाहट नहीं हुई। यह सत्य है कि जीवनी लिखने की अथ श्री इतिहासज्ञों ने ही की परंतु इसका विस्तार उनके विस्तार से बढ़ गया। प्रत्येक लिखनेवाले व्यक्ति ने अपने श्रद्धास्पद को अमर करने की चेष्टा की। हिंदी में जीवनियों के कई स्वरूप दिखाई देते हैं।

१—केवल इतिवृत्तात्मक रूप में जन्ममरण तथा जीवन की अन्य घटनाओं को अंकित करनेवाली जीवनियाँ।

२—किसी इतिहास अथवा दूसरे प्रकार के ग्रंथ में किसी संदर्भ विशेष में आई हुई आंशिक स्वरूप में नायक को व्यक्त करनेवाली जीवनियाँ।

३—किसी आंदोलन विशेष को सहायता पहुँचाने वाले किसी विशेष कोंण से सँवारी हुई जीवनियाँ।

४—किसी को हेय ठहराने के लिये लिखी हुई जीवनियाँ। तथा।

५—तथ्यातथ्य-निरूपण द्वारा नायक का वास्तविक स्वरूप समक्ष रखने-वाली जीवनियाँ।

जीवनी लिखने से सर्वथा अनभिज्ञ, केवल चिट्ठी-पत्री को एकत्रित कर देनेवाले और प्रत्येक प्रकार की घटना का जमघट उपस्थित कर देनेवाले लेखकों की लिखी जीवनियाँ प्रथम कोटि में आती हैं। ऐसी जीवनियों की भरमार है। सत्यनारायण कविरत्न की जीवनी इसी कोटि की है।

दूसरे वर्ग में साहित्य के इतिहासों में, राजनीति के इतिहासों में, धर्म्म के इतिहासों में लिखी हुई जीवनियाँ आती हैं।

राष्ट्रीय, धार्म्मिक, आर्थिक इत्यादि आंदोलनों को सहायता पहुँ-चाने के लिये कुछ बड़े व्यक्तियों की जीवनियों को विशेष दृष्टिकोण से लिखा गया है। ये तीसरे वर्ग में आती हैं।

चौथे वर्ग की जीवनियों की बहुलता तो नहीं है परंतु नितांत अभाव भी नहीं है। इनका सृजन दलबंदियों के कारण हुआ है।

पाँचवें वर्ग की जीवनियाँ वास्तव में उच्च कोटि की साहित्यिक निधि हैं। परंतु अभी बहुत कम ऐसी जीवनियाँ हैं। लोगों की अभिरुचि अब अच्छी जीवनियों के लिखने की ओर बढ़ रही है।

ईसा मसीह, मुहम्मद, गौतमबुद्ध, कृष्ण, राम, इत्यादि इत्यादि विभूतियों की एक नहीं सैकड़ों जीवनियाँ मिलेंगी। सब बड़े राजनैतिक नेता और साहित्यिक महारथी, धर्मप्रवर्तक तथा उन्नायक, जातिसुधारक और व्यापारी-शिरोमणि, विशिष्ट वैज्ञानिक तथा अद्वितीय कलाविद्, अनुपम कलाकार तथा धनकुबेर, जाति-संगठन-कर्त्ता, तथा निर्भीक योद्धा, प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ तथा कुशल संपादक इत्यादि इत्यादि, सभी ख्यातनामा व्यक्तियों की जीवनी हिंदी में उपस्थित है। किसी सभा का कोई सभापति हुआ नहीं कि चित्र के साथ उसकी जीवनी समाचार-पत्र में निकल गई। इधर आत्म-कथाओं के लिखने की भी परिपाटी चल निकली है। वास्तव में एक निश्छल और निष्कपट व्यक्ति की आत्म-कथा से प्रामाणिक दूसरे की जीवनी नहीं हो सकती। महात्मा गाँधी की लिखी हुई हिंदी में अनुवादित उनकी आत्म-कथा हिंदी की अच्छी वस्तु है। इधर प्रेमचंदजी ने 'हंस' पत्र का आत्म-कथांक निकाल कर कुछ अच्छे साहित्यिकों की आत्मकथायें तथा संस्मरण संग्रहीत कर लिए हैं। बालकों पर प्रभाव डालने के लिये अच्छी-अच्छी कहानियाँ सरल साहित्य में लिखी जा रही हैं। बालकों के पत्रों को छोड़कर कुछ अन्य साहित्य-सेवी भी ऐसी जीवनियाँ लिखवा रहे हैं और लिख रहे हैं। प्रयाग के बाबू केदारनाथ गुप्त ऐसे ही उत्साही सज्जनों में हैं। बालचर-संस्था इस ओर काफ़ी योग दे रही है। स्कूल से लेकर कालेजों तक अपाठ्य और पाठ्य पुस्तकों के लिये बहुत-सी सुंदर सुंदर जीवनियाँ लिखी गई हैं और लिखी जा रही हैं। योग्य महिलाओं की भी जीवनियाँ निकल रही हैं। समाचार-पत्रों से इस दिशा में बड़ी सहायता मिलती है। वास्तव में नीर-क्षीर-विवेकी विज्ञ इतिहास-लेखकों की लेखनी से लिखी हुई जीवनियाँ उच्च कोटि की हैं और उन पर विश्वास किया जा सकता है। हिंदी-संसार अब जीवनी-निर्माण के महत्त्व और उसके मर्म को थोड़ा बहुत समझ गया है।

(छ) अन्य विभाग—

हिंदी में अर्थशास्त्र की सामग्री अच्छी मात्रा में तैयार हो रही है। अर्थशास्त्र में ग्रंथ भी लिखे गए हैं और लेख भी लिखे जा रहे हैं। डा० प्राणनाथ विद्यालंकार, भगवानदास केला, जी० एस० पथिक प्रभृति विद्वानों ने अर्थशास्त्र की ओर ध्यान देने के साथ साथ, उद्योग-धंधों और व्यापार-संबंधी ज्ञान की पुस्तकें भी लिखी हैं। श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, रामनिधि तथा कन्हैयालाल गोयल जैसे कुछ विश्वविद्यालयों के प्रोफ़ेसरों ने इस दिशा में लिखना-पढ़ना आरंभ कर दिया है। यदि इंटरमीडियट का माध्यम भी हिंदी होगई तो इस विषय में अच्छी-अच्छी पुस्तकें देखने में आ जायँगी।

तर्कशास्त्र की ओर श्री गुलाबराय का ध्यान बहुत दिनों से आकृष्ट है। आपने पूर्वीय और पश्चिमीय तर्कशास्त्रों का समन्वय करने का प्रयास किया है। इस दिशा में पुस्तकें तथा लेख भी निकल रहे हैं।

भूगोल-संबंधी लेख भूगोल पत्रिका में देखने में आते हैं। श्री रामनारायण मिश्र इस क्षेत्र में अच्छा उद्योग कर रहे हैं। भूगोल की अच्छी-अच्छी मौलिक पुस्तकें भी देखने में आई हैं।

धार्म्मिक साहित्य का उदय बहुत पूर्व हो चुका था। संस्कृत के धर्म-ग्रंथों का खूब आदर हुआ और हो रहा है। मनुस्मृति, नीति और वैराग्य-शतक, गीता, महाभारत, रामायण तथा स्मृतियाँ और संहिताएँ सभी हिंदी में मिलती हैं। बाबू भगवानदास, स्वर्गीय लाला कन्नोमल तथा गंगाप्रसाद उपाध्याय और गिरधर शर्मा ने भी अब दर्शन में हिंदी की कमी पूरी करना आरंभ कर दी है। हिंदी में आज दिन यूनानी और भारतीय सभी दार्शनिकों के विचार अनूदित हो चुके हैं। कुछ नये पश्चिमीय दार्शनिकों के विचार भी अनुवादित हो रहे हैं। पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी, चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद आदि विद्वानों ने

धर्म्म-संबंधी सरल ग्रंथ लिखे हैं। इधर सनातन धर्म्म के स्तंभ स्वामी दयानंद ने भी कई धार्म्मिक ग्रंथ हिंदी में लिखकर उसकी श्रीवृद्धि की है। आपके ग्रंथ अनुपम और शैली मार्मिक और प्रभावशाली होती है। बंगाली होने पर भी स्वामीजी का हिंदी पर अद्भुत अधिकार है।

राजनैतिक लेखकों का इस युग में साम्राज्य दिखाई देता है। देश की परिस्थिति ही ऐसी है कि राजनीति विद्वानों के लिये विशेष महत्त्व रखती है। वास्तव में हिंदी की जो कुछ भी उन्नति इस युग में हुई है, उसका बहुत कुछ श्रेय यहाँ की राजनैतिक परिस्थिति पर है। आज-कल जितने राजनैतिक प्रबंध और कविताएँ निकलती हैं, उतना अन्य सारा साहित्य मिल कर भी शायद ही हो। कुछ बड़े-बड़े प्रतिभासंपन्न लेखक समाचार-पत्रों में राजनैतिक लेख लिखते हैं। सर्वश्री बाबूराव विष्णु-राव पराड़कर, बनारसीदास चतुर्वेदी, लक्ष्मण नारायण गर्दे, अंबिका-प्रसाद वाजपेयी, प्रो० इंद्र, रमाशंकर अवस्थी, वेंकटेश नारायण तिवारी, माखनलाल चतुर्वेदी, द्वारकाप्रसाद मिश्र, श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, दशरथ-प्रसाद द्विवेदी, बालकृष्ण शर्मा तथा स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी ने अच्छे राजनैतिक लेख लिखे हैं। इन महानुभावों की अपनी अपनी निजी शैली है। पालीवालजी की शैली पर गणेशशंकर विद्यार्थी की शैली की अच्छी छाप है। बालकृष्ण शर्मा की लेखनी इस क्षेत्र में बड़ी तीव्र चलती है। रमाशंकर अवस्थी एक सिद्धहस्त और पटु लेखक हैं।

भ्रमण और विवरण-संबंधी लेख तथा पुस्तकें भी हिंदी में लिखी गई हैं। शिवप्रसाद की पृथ्वी-प्रदक्षिणा, हेमचंद्र जोशी के योरप भ्रमण के पृष्ठ, श्रीराम शर्मा के शिकार के अनुभव, कौशिक जी रचित संसार की स्त्रियाँ, स्वामी सत्यदेव के इधर-उधर के लेख हिंदी की अच्छी संपत्ति हैं।

बालोपयोगी व महिलोपयोगी

हिंदी-साहित्य की उन्नति के साथ-साथ बालोपयोगी व स्त्री-उपयोगी साहित्य की भी उन्नति हुई है। कुछ ऐसे समाचारपत्र निकल रहे हैं जिनका उद्देश्य केवल बालक-बालिकाओं व स्त्रियों की उन्नति करना है। स्त्रियों की उन्नति में प्रयाग के 'चाँद' ने सराहनीय योग दिया है; 'स्त्रीदर्पण' भी स्त्रियों के लिये अच्छा पत्र गिना जाता था, बालिकाओं के लिए 'सहेली' और बालकों के लिए 'बानर', 'बाल-सखा' 'विद्यार्थी' इत्यादि बहुत-से पत्र निकलते हैं। ठाकुर श्रीनाथसिंह, देवीदत्त शुक्ल, रामनरेश त्रिपाठी, बालसाहित्य के अच्छे मर्मज्ञ हैं। भूपनारायण दीक्षित, रामनारायण मिश्र, ज़हूरबख़्श इत्यादि बहुत-से विद्वान् सज्जन बाल-साहित्य के निर्माण में बहुत योग दे रहे हैं। प्रयाग के 'हिंदी प्रेस' के स्वामी पं० रामजीलाल शर्मा ने बाल-साहित्य के निर्माण में प्रभावशाली योग दिया है।

स्त्रियों का साहित्य पर्याप्त बढ़ गया है। स्वयम् स्त्रियाँ आज अच्छी-अच्छी लेखिका हैं। कामशास्त्र, शिशु-पालन, गार्हस्थ्यशास्त्र, शरीर-विज्ञान, पाकशास्त्र, सीना पिरोना इत्यादि सभी विषयों पर अच्छी पुस्तकें और लेखमालाएँ निकल रही हैं। प्रयाग की यशोदा देवी स्त्रियों की मानसिक और ऐहिक उन्नति के लिये अच्छे साहित्य की सृष्टि कर रही हैं। उमा नेहरू ने भी हिंदी-गद्य की अभिवृद्धि की है। कृष्णकांत मालवीय ने स्त्रियोपयोगी अच्छे अच्छे ग्रंथ लिखे हैं। कानपुर के डा० रामनारायण वर्मा तथा डा० प्रसादीलाल झा ने प्रसूति-विषयक दो अच्छी पुस्तकें लिखी हैं। आज लगभग सभी प्रतिष्ठित मासिक पत्रों में स्त्री और बाल-साहित्य के बड़े बड़े स्तंभ रहते हैं।

जब से स्कूलों में हाई स्कूल-परीक्षा तक हिंदी का माध्यम स्वीकार हुआ और जब से विश्व-विद्यालयों में हिंदी को उचित स्थान मिला है तब

से शिक्षकों का एक वर्ग अच्छी अच्छी पाठ्य पुस्तकें प्रस्तुत करने में संलग्न है। इधर अनेक अच्छी पाठ्य पुस्तकों के दर्शन हुए हैं, और उन पर जो भूमिका अथवा आलोचना संकलन-कर्ता द्वारा लिखी जाती है, उसे देखते हुए ये पुस्तकें हिंदी-साहित्य की अभिवृद्धि करती हैं। पाठ्य पुस्तकों के आरंभिक कुशल लेखक बा० श्यामसुंदरदास और द्वारका-प्रसाद चतुर्वेदी कहे जा सकते हैं। इधर संकलन-कर्त्ताओं में बहुत-से शिक्षित नवयुवक प्रविष्ट हो गए हैं, और उन्होंने अच्छी पाठ्य सामग्री का प्रणयन किया है। गद्य-साहित्य में इन युवकों का योग किसी न किसी अंश में लाभप्रद प्रमाणित होगा।

हिंदी-गद्य की उन्नति में और भी साधन काम कर रहे हैं। देश की वर्तमान परिस्थिति में जो आंदोलन समय समय पर उठा करते हैं, उनका माध्यम बनकर हिंदी-गद्य बहुत उन्नति कर रहा है और इसका प्रसार भी निरंतर बढ़ता जा रहा है। देश की राष्ट्रीय महासभा ने भी अपने मंच से हिंदी को राष्ट्र-भाषा होना स्वीकार कर लिया है। यह हिंदी-गद्य की आशातीत उन्नति के लक्षण हैं। इधर टाकीज़ के अभिनयों के साथ-साथ हिंदी का प्रचार भी बढ़ रहा है। इन अभिनयों में साहित्यिकता यद्यपि नाम को भी नहीं होती, फिर भी लगभग सभी नई टाकीज़ कंपनियों में हिंदी के ही अधिकांश नाटक अभिनय किए जाते हैं। इन नाटकों की रोचकता देश में सर्वत्र हिंदी का प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ा रही है।

विज्ञान—

इतिहास-लेखकों ने हिंदी के विज्ञान-साहित्य की यथेष्ट चर्चा नहीं की। वास्तव में हिंदी के इतिहास-लेखकों का गद्य और पद्य के काव्य साहित्य से ही अधिक उलझाव रहा। इससे शेष बची हुई अभिरुचि शैली-विवेचन में व्यय कर दी गई। एक साहित्य अथवा

इतिहास-प्रेमी वैज्ञानिक विषयों से अधिकतर उदासीन रहता है। अतएव उन विषयों पर निकले हुए लेख अथवा पुस्तकों का उसे बहुत कम पता रहता है। ऐसी दशा में संकलित जानकारी के लिये वह दया का पात्र है। परंतु इस क्षमा-याचना के कारण वह अपने दायित्व से मुक्त नहीं हो सकता। हिंदी-साहित्य के किसी भी अंग की उन्नति की ओर एक सच्चा इतिहास-लेखक उपेक्षा नहीं कर सकता।

वास्तव में जिन हिंदीप्रेमी महारथियों ने विज्ञान-साहित्य की श्री-वृद्धि की है वे हमारी विशेष कृतज्ञता के भाजन हैं। उनका कार्य बड़ा ही दुस्तर रहा है, और है। उन्हें अपनी अभिव्यक्ति में उतनी स्वतंत्रता नहीं है जितनी साहित्य के अन्य स्वरूपों की अभिव्यंजना में है। उनकी सबसे बड़ी कठिनाई है वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दों का अनुवाद करना। इसी संबंध में अभी तक हिंदी-प्रेमी विज्ञान-वेत्ताओं में दो दल रहे हैं। कुछ सज्जनों ने जिनमें 'विज्ञान' पत्र के संपादक श्री सत्यप्रकाश भी विशेष उल्लेखनीय हैं यही ठीक समझा कि विज्ञान के पारिभाषिक शब्द शुद्ध संस्कृत धातुओं और शब्दों से गढ़ लेना चाहिए जिससे हिंदी की आत्मीयता नष्ट न हो। दूसरी ओर विज्ञान के धुरंधर विद्वान् और हिंदी में विज्ञान-विषयक मौलिक लेखक डाक्टर निहाल-करण सेठी पारिभाषिक शब्दों को ज्यों का त्यों हिंदी में सम्मिलित करने के पक्ष में थे। दूसरे वर्ग का मत आज-कल प्रधानता पा रहा है। झाँसी हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर विज्ञान-परिषद् के मंच से सभापति श्री हीरालाल खन्ना का भाषण भी निहालकरण सेठी के ही मत का समर्थन करता है। अँगरेज़ी पारिभाषिक शब्दों को ज्यों का त्यों हिंदी में संमिलित कर लेने से हिंदी में राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता स्थापित होती है। इस लाभ के समक्ष हिंदी सी जीवित भाषा के लिए आत्मीयता की आड़ में संकीर्णता का प्रचार

करना संकुचित भावना को प्रचार करना है। इस संबंध में श्री हीरालाल खन्ना ने क्या कहा है उसकी ओर संकेत कर देना यहाँ आवश्यक है।

.........."वे किसी भी भाषा के शब्द नहीं। इन पर किसी भी जाति का कोई विशेष अधिकार नहीं है। इँगलैंड, फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका और यहाँ तक कि जापान में भी इन्ही शब्दों का प्रयोग होता है। ये शब्द अंतर्जातीय हैं। इनके प्रयोग से किसी भाषा का अपमान नहीं समझा जाता और न किसी के स्वाभिमान में किसी प्रकार का फ़र्क़ आता है। विद्वानों का जो कुछ निर्णय हो वह हम सब को मान्य होना चाहिए। इस संबंध में उनके सम्मुख मैं दो बातें रखना चाहता हूँ। वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दों का निर्माण राष्ट्रीय दृष्टि से होना चाहिए। विविध प्रांतों और भिन्न भिन्न संस्थाओं की सहकारिता के बिना राष्ट्रीय विज्ञान का आदर्श स्थापित और पूर्ण होना कठिन है। संसार के सब देशों में सहकारिता से ही ज्ञान की वृद्धि हुई है और हमारे देश में भी इसके बिना काम न चलेगा। वैज्ञानिक भाषा का मुख्य भाग पारिभाषिक शब्दों का ही होता है। अतएव राष्ट्रीय दृष्टि से यह परमावश्यक है कि प्रांतीय भाषाओं के वैज्ञानिक शब्द एक से हों। पारिभाषिक शब्दों की एकता के कारण समस्त देशीय भाषाओं में वैज्ञानिक पुस्तकों का समझना और अनुवाद करना बड़ा सरल काम हो जायगा। अभी तक किसी भी भारतीय भाषा का वैज्ञानिक साहित्य प्रौढ़ता को प्राप्त नहीं हुआ है। इसलिये ऐसी अवस्था में पारिभाषिक शब्दों को एकसा बनाने का प्रयत्न करना उचित ही प्रतीत होता है।"

विज्ञ सभापति ने अपने इस मंतव्य को कार्यरूप में परिणत करने के लिये अपने वक्तव्य में एक व्यावहारिक सलाह भी दी है। वास्तव में यदि हिंदी के पारिभाषिक शब्दों में राष्ट्रीयता या अंतर्राष्ट्रीयता का ध्यान न रक्खा गया तो अध्यापकों और विद्यार्थियों के मध्य केवल एक

विशेष कठिनाई ही न उपस्थित होगी, वरन् विज्ञान के प्रचार में एक बड़ी भारी रुकावट पड़ जायगी। यदि हिंदी-साहित्य-लेखक 'थर्मामीटर' के लिये 'तापमापक यंत्र' और उर्दू-साहित्य-लेखक 'मिकयासुल-हरारत' लिखने लगें तो बेचारे अध्यापक और विद्यार्थियों में भाषा-संबंधी वही अस्तव्यस्तता दिखाई देगी जो बेबिलोनिया के आकाशचुंबी-स्तंभ निर्माण के समय राज व मज़दूरों में प्रविष्ट हो गई थी।

हिंदी के सभी विज्ञान-साहित्य-लेखक इस बात में एकमत हैं कि वैज्ञानिक पुस्तकों की भाषा सरल और सुबोध होनी चाहिये, और विज्ञान के जटिल स्वरूपों को व्यवहार की प्रयोगात्मक परिधि में बाँध कर उपादेय बनाना चाहिये। विज्ञान में आज जो उत्तमोत्तम पुस्तकें निकल रही हैं उनमें इस बात का विशेष ध्यान रक्खा गया है, अतएव वे पुस्तकें उपयोगी और अच्छी सिद्ध हुई हैं। हिंदी में जितने भी विज्ञान-लेखक हैं उन सबके एक प्रकार से पथ-प्रदर्शक और उन सबसे अधिक विचित्र प्रतिभा-संपन्न व्यक्ति श्री रामदास गौड़ दिखाई देते हैं।

श्री रामदास गौड़—

श्री रामदास गौड़ ने जिस साहित्यिक शैली का विज्ञान के प्रचार में आश्रय लिया है, वह किसी भी इतर विज्ञानलेखक, अथवा अन्य किसी भी भाषा के विज्ञान-लेखक में नहीं दिखाई देता। एक ओर तो आपने हिंदी-साहित्यिकों के लिये काव्यपरिपूर्ण भाषा में अपने विषय को सँवारा है, दूसरी ओर विषय को इतना सरस, आकर्षक और सर्व-सुबोध बनाया है कि प्रत्येक ज्ञान-परिमाण उससे लाभ उठा सकें। उनकी भाषा में अपूर्व प्रवाह है, काव्योपम सरसता है। ऐसी शुद्ध सुसंस्कृत हिंदी बहुत-से हिंदी के साहित्य-निर्माणकों में भी नहीं मिलती। अनूठी उपमाओं और रूपकों से गुंफित आपकी शैली पाठकों की अभिरुचि को गुदगुदाती चलती है, साथ ही बड़े-बड़े वैज्ञानिक तथ्यों को, भाषा की चिक्कणता और सरलता से हृदय तक पहुँचा देती है।

श्री रामदास गौड़ का विज्ञान-साहित्य के बृहत् निर्माणकों में चाहे उच्च स्थान न हो परंतु हिंदी-साहित्य के विज्ञान-क्षेत्र में वे अनिवार्य रूप से आचार्य्य हैं। विज्ञान-साहित्य के प्रचार-प्रसार में आपका वही स्थान है जो हिंदी-साहित्य के युग-प्रवर्तक-निर्माणकों में पं० महावीर-प्रसाद द्विवेदी का है। श्री रामदास गौड़ ने सैकड़ों की संख्या में हिंदी में विज्ञान-विषयक लेख लिखे हैं। विज्ञान के गहन विषयों को उनकी लेखनी के स्पर्श से ही लोक-प्रियता और एक अद्भुत चमत्कारपूर्ण सर-सता मिल गई। आपने विज्ञान-साहित्य के निर्माण में बहुत-सी मौलिक पुस्तकें चाहे न लिखी हों किंतु बहुत-से मौलिक लेखक अवश्य उत्पन्न कर दिए। इनके विज्ञान-मंडल में विज्ञान-लेखकों का एक बड़ा भारी कुटुंब है, जिसने हिंदी में विज्ञान की अनन्य सेवा की है और कर रहा है। "विज्ञान"-पत्र के संपादक के पद से, विज्ञान-मंडल के संरक्षक के रूप में, और विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर की स्थिति से आपने विज्ञान-विषय की उन्नति का साधन एकमात्र हिंदी ही बनाया है।

आपने केवल विज्ञान-विषयक शतशः लेख ही नहीं लिखे, "विज्ञान" पत्र में वंदना-रूप में सैकड़ों कवितायें भी रची हैं। गर्मी और बरसात पर एक कविता "विज्ञान" में प्रकाशित है। "सभ्यता की पुकार" शीर्षक आपका लेख भाषा की दृष्टि से बड़ा सुंदर है। रचना को सर्व-सुबोध बनाने के लिये आपने जंतु-जगत् का "भुनगा-पुराण" शीर्षक लेखों में सुंदर विश्लेषण किया है। भुनगा-पुराण की लेखन-शैली बड़ी मधुर और आकर्षक है।

भाषाशैली में कैसा सामंजस्य है, विनोद और तथ्य का कितनी सुंदरता से ओतप्रोत है। गौड़ जी ने ज्ञान की घूँटी एक अपूर्व सरलता से कंठ में उतार दी है।

विज्ञान का आधार बाहरी प्रयोग-शाला है, स्वरूप बाहरी भौतिक है; किंतु काव्य का आधार आभ्यंतरिक धरातल है और उसके आलंबन

अमूर्त भावनाएँ और विचार रहते हैं। इस दृष्टि से काव्य और विज्ञान का परस्पर विरोध है, परंतु अटूट चिंतना दोनों में ही आवश्यक है। विज्ञान का कोई भी प्रयोग बिना उत्तम चिंतना के सफल नहीं हो सकता है। और इसी प्रकार काव्य का कोई भी स्वरूप जिसमें चिंतना का अनुपम समावेश न हो, उत्तम नहीं कहा जा सकता। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चिंतना के बिंदु पर विज्ञान और काव्य दोनों रेखायें मिल जाती हैं। अतएव वह मनस्वी जो चिंतनशील है और एक अच्छा दार्शनिक है, विज्ञान-पंडित होते हुए भी कवि हो सकता है। श्रीरामदास इसी कोटि के व्यक्ति हैं। आपकी उच्च दार्शनिकता विज्ञान को काव्य का कलेवर दे देने में अद्वितीय रूप में सफल हुई है। इनकी शैली में कोरे काव्य की अलसता का बहिष्कार है, और विज्ञान के रूखेपन से भी वह बिलकुल अछूती है। इससे तरल प्रवाह और मार्दव के साथ सरसता-सरलता का घनत्व है।

विज्ञान-विषयक कुछ पुस्तकें—

श्री रामदास गौड़ के पश्चात् विज्ञान-विषयक अन्य जितने लेखक हैं उनमें यह साहित्यिकता नहीं है और न हिंदी में विज्ञान-साहित्य के लिये वैसी पक्की धुन। परंतु रामदास गौड़ के वैयक्तिक उज्ज्वल चरित्र ने हिंदी-प्रचार की आँधी को और भीषण बना दिया, परिणाम यह हुआ कि बड़े बड़े विद्वानों की अभिरुचि हिंदी में मौलिक ग्रंथों के प्रणयन की ओर हुई जिससे हिंदी का महत्त्व बढ़ गया।

हिंदी-साहित्य में विज्ञान आज-कल सब प्रकार से पूर्ण तो नहीं कहा जा सकता परंतु प्रत्येक दिशा में उन्नति हो रही है। ज्योतिष विषय में कुछ स्फुट लेखों के अतिरिक्त मनोरंजन-पुस्तक-माला की "ज्योतिर्विनोद" साधारणतया अच्छी पुस्तक है। गणित-ज्योतिष एक रूखा विषय है; सर्वसाधारण की रुचि उस ओर नहीं है। संस्कृत के ज्योतिषाचार्य

हिंदी लिखने की ओर कम ध्यान देते हैं, और कुछ विद्वानों को छोड़कर, वास्तव में वे हिंदी में अच्छी पुस्तकें लिख भी नहीं सकते। संस्कृत के ज्योतिषियों में प्रयोग-बुद्धि की कमी और साधनों का अभाव है। मान-मंदिर के यंत्रों के आधार पर यदि वे चाहें तो मौलिक ग्रंथों की रचना हो सकती है।

स्कूलों में हिंदी माध्यम हो जाने के साथ-साथ हिंदी में वैज्ञानिक पुस्तकों की रचना होना अनिवार्य था परंतु जब तक विश्व-विद्यालयों में हिंदी माध्यम नहीं होता तब तक मौलिक ग्रंथों के प्रणयन के लिये प्रोत्साहन का द्वार बंद-सा है। स्कूलों में हिंदी का माध्यम होने पर भी बहुत-से अध्यापक अँगरेज़ी पुस्तकों से ही आज दिन विज्ञान पढ़ाते हैं। वैसे तो बहुत पहले १८६० ई० में विज्ञान की पहली पुस्तक 'सरल-विज्ञान-विटप' नाम से प्रकाशित हुई थी। काशी के पं० मथुराप्रसाद ने विज्ञान-संबंधिनी कई छोटी छोटी पुस्तकें लिखी हैं। मुंशी नवलकिशोर ने भी साहित्य-सेवा में अच्छा हाथ बटाया था। सन् १८८३ में आपने 'रसायन'-संबंधी एक ग्रंथ प्रकाशित किया। लक्ष्मीशंकर मिश्र का 'त्रिकोण मिति'-विषयक ग्रंथ भी अब काफ़ी पुराना हो चुका है। परंतु इनका अध्यवसायपूर्ण उपादेय कार्य 'काशी-पत्रिका' का निकालना था जिसने साहित्य के साथ-साथ विज्ञान की उन्नति में भी हाथ बटाया। श्री बापूदेव शास्त्री की बीज-गणित पुरानी होते हुए भी अपने युग में अद्वितीय पुस्तक थी; परंतु सुधाकर द्विवेदी की गणित-संबंधी 'चलनकलन' तथा 'चलराशि-कलन' नामक दोनों पुस्तकें आज भी अनोखी समझी जाती हैं। सुधाकर द्विवेदी की भाषा का पंडिताऊपन इन ग्रंथों में अधिक नहीं आया है फिर भी भाषा की उत्तमता की दृष्टि से इन पुस्तकों की समीक्षा करना व्यर्थ है। एक पुरानी-सी पुस्तक 'सूर्य-करण-मीमांसा' भी देखने में आई है, लेखक का नाम मुझे स्मरण नहीं। यह पुस्तक

साधारण दृष्टि से अच्छी है। महेशशरणसिंह ने महात्मा मुंशीराम का प्रोत्साहन पाकर गुरुकुल कांगड़ी की अध्यक्षता में विज्ञान-विषयक कई पुस्तकें लिखीं। उधर काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने वैज्ञानिक कोष का निर्माण कराया। परंतु विज्ञान-संबंधी कार्य को तेज़ी के साथ आगे बढ़ाने का श्रेय प्रयाग के विज्ञान-परिषद् को ही है। भौतिक और रसायन दोनों भागों में विज्ञान की अच्छी पुस्तकें रची गईं। गत १५ वर्षों से निकलने वाले 'विज्ञान' नामक मासिक पत्र ही ने क्या कम सेवा की है? सैकड़ों विज्ञानविषयक लेख और सहस्रों विज्ञान में अभिरुचि रखने वाले पाठक पैदा कर दिए। इधर प्रयाग के डाक्टर गोरखप्रसाद ने विज्ञान की अच्छी सेवा की है और विद्वानों ने उनका उचित समादर भी किया है। इनकी 'फोटोग्राफ़ी' नामक पुस्तक जिसका प्रकाशन इंडियन प्रेस ने किया है, अपने विषय की मौलिक एवं उत्कृष्ट पुस्तक है। इसी प्रकार हिंदुस्तानी एकेडमी द्वारा प्रकाशित इनका 'सौर्य-परिवार' एक सुंदर चित्रों से समन्वित अच्छा ग्रंथ है। 'सूर्यसिद्धांत' नामक एक और पुस्तक दो भागों में निकली है; विद्वानों ने इसका आदर किया है। संस्कृत और अँगरेज़ी से अनुवाद तो बहुत हुआ है। हिंदुस्तानी एकेडमी ने व्रजेश बहादुर का जंतु-जगत् भी एक अच्छा ग्रंथ छापा है। इसी संस्था ने बा० देवदत्त अरोड़ा नामक विश्वंभरनाथ सनातनधर्म्म कालेज के एक अध्यापक की 'चर्म'-संबंधी एक दूसरी अच्छी पुस्तक प्रकाशित की है। शकर मिलों की जब से बाढ़ हुई है तब से शकर पर अच्छा साहित्य लेखों के रूप में प्रकाशित हो रहा है। बा० रामरक्षपाल संघी के लेख इस विषय में बेजोड़ होते हैं। आज मासिक पत्रिकाओं के विज्ञानांक निकलने लगे हैं। कृषि-विज्ञान-संबंधी एक साप्ताहिक पत्र 'हलधर' निकल रहा है। इसी प्रकार कल-कारख़ानों से संबंध रखने वाली काफ़ी पुस्तकें और लेख निकल रहे हैं।

श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव—

विज्ञान-विषयक लेखकों में रामदास गौड़ के बाद, गोपाल दामोदर तामस्कर का नाम आता है। इन्होंने 'विज्ञान' के संपादन-कार्य में काफ़ी अभिरुचि दिखलाई, परंतु विज्ञान-साहित्य की अधिक श्री वृद्धि श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव ने की है। इनके लेख इतने सुंदर और इतने व्यावहारिक होते थे कि उन्होंने विज्ञान विषय की ओर बड़े वेग से लोक-रुचि उत्पन्न की। गौड़जी के बाद अन्य किसी लेखक में गौड़जी की प्रतिभा, उनकी काव्योपम अभिव्यंजन-प्रणाली, तथा उनकी सरसता और सजीवता न थी, किंतु सरलता को इन लोगों ने ख़ूब अपनाया है। इसी से विज्ञान की उन्नति इन लोगों द्वारा अबाध गति से होती रही। श्रीवास्तवजी में यद्यपि गौड़जी के सदृश ओज न था, किंतु प्रसाद गुण इनकी रचनाओं में यथेष्ट है।

अन्य लेखक—

डाक्टर गणेशप्रसाद ने मेस्टन महोदय के सम्मुख जो हिंदी में व्याख्यान देकर हिंदी में वैज्ञानिक उन्नति हो सकती है, इस बात को सिद्ध किया था, वह भी हिंदी में एक अच्छा प्रयास था। बाबू सालिग्राम भार्गव के वैज्ञानिक लेख भी सरल होते हैं। व्रजराजजी की भाषा में कुछ रूखापन रहता है; इसके प्रतिकूल डा० निहालकरण सेठी की भाषा सरस और सरल है। श्री ज्योति-प्रसाद मिश्र 'निर्मल' के विज्ञान-संबंधी लेखों की भाषा बहुत अच्छी है। निर्मलजी एक साहित्यिक व्यक्ति हैं, परंतु उनके लेखों में विषय की गंभीरता नहीं है। इसके विपरीत गंगाप्रसादजी के लेख गंभीर होते हैं। श्री जयदेव शर्मा विद्यालंकार तथा कविराज प्रतापसिंह एक ढर्रे के लेखक हैं, यद्यपि इनके विषय पृथक् पृथक् हैं। पं० जगपति चतुर्वेदी विज्ञान विषय के बड़े उत्साही लेखक हैं और यह उनके गौरव की बात है कि किसी विश्व-विद्यालय के साधन

बिना ही उन्होंने कुछ पुस्तकें रच दी हैं। श्री मनोहरलाल भार्गव और कृष्णगोपाल माथुर ने भी विज्ञानपत्र में अच्छे और मौलिक लेख लिखे हैं। श्री राजनारायण भटनागर का भी विषयों का चयन अच्छा था। श्री सत्यप्रकाश के लेख गहरे होते हैं; उनके लिखने का ढंग भी साहित्यिक है। आपकी शैली में गुरुता और चिंतना में दुरूहता आ गई है। अनुवादकों में सय्यद मोहम्मद अली बुरे नहीं हैं; किंतु मुसल्मान लेखकों में मेंहदीहुसेन नासरी का स्थान विज्ञान-लेखकों में उच्च है। करामात हुसेन कुरेंसी ने भी अच्छे लेख लिखे हैं। समाहार रूप से सर्वश्री लज्जाशंकर झा, चंद्रमौलि सुकुल, मुकुटविहारीलाल, देवीप्रसाद मुंसिफ़, कानपुर के हरनारायण बाथम अपने लेखों में किसी न किसी ढंग से विज्ञान विषयों की चरचा करते रहे हैं। श्री संपूर्णानंद की कृतियों में अधिक स्फूर्त्ति और रोचकता रहती है। शेषनाग त्रिपाठी ने भी पहले अच्छे-अच्छे लेख लिखे हैं। कृष्णदेवप्रसाद गौड़ इधर विज्ञान से हटकर हिंदी-कविता और गद्य-साहित्य-लेखन की ओर अधिक झुक रहे हैं। सर्वश्री बाबूराम अवस्थी, चिरंजीलाल, तेजशंकर कोचर, गोमतीप्रसाद अग्निहोत्री ने किसी समय 'विज्ञान' पत्र में काफ़ी और अच्छे लेख लिखे थे। श्री राधामोहन गोकुलजी की लेखनी विचित्र शक्ति-संपन्न है। राजनीति में प्रवेश करके क्रांति फूँकने की क्षमता रखने वाली समाज की रूढ़ियों के ध्वंस में वैसा ही प्रभाव रखती है। नास्तिकता का प्रतिपादन कड़े तर्क के साथ करते हुए आप अन्यत्र विज्ञान-प्रचार को महत्व देते हैं। गोकुलजी ने विज्ञानसंबंधी काफ़ी लिखा है। हिंदी के प्रसिद्ध विद्वान् रघुनंदन शर्मा ने भी 'अक्षर-विज्ञान' नामक एक पुस्तक लिखी है। यह यद्यपि पूर्णरूप से वैज्ञानिक कृति तो नहीं कही जा सकती, किंतु विज्ञान के इस अंग की पूर्त्ति का अच्छा प्रयास है।

उपरोक्त अंतिम दोनों लेखकों को छोड़ कर रामदास गौड़ के बाद जितने विज्ञान विषयक-लेखक हुए हैं, सबकी भाषा नितांत सरल और

सुबोध है। इनमें प्रज्ञात्मक गुण प्रधान है। हृदय को स्पर्श न करके वह केवल मस्तिष्क को ही तृप्त कर सकती थी। हृदय और मस्तिष्क दोनों को लपेट में लाने का गुण केवल रामदास गौड़ में है।

श्री हीरालाल खन्ना—

इधर श्री हीरालाल खन्ना की भी लेखनी में हमें कुछ साहित्यिकता का आभास मिलने लगा है। यद्यपि खन्नाजी सर्वत्र सरलता और विज्ञान में असाहित्यिकता की दुहाई देते देखे जाते हैं, किंतु वे स्वतः उतना सरल नहीं लिखते जितनी दूसरों से आशा करते हैं। झाँसी-साहित्य-संमेलन के विज्ञान-परिषद् के सभापति के पद से दी हुई उनकी वक्तृता का एक अंश देखिए—

"विज्ञान हमें बताता है कि प्रकृति अपने कार्यों में सर्वव्यापकता का लिहाज़ रखती है और किसी एक व्यक्ति की कुछ रियायत नहीं करती वरन् उन व्यक्तियों को अपने कार्य-साधन का मार्ग बनाती है। प्रत्येक वस्तु चंचल अवस्था में है, बिगड़ने के बाद फिर बनती है और बनने के बाद बिगड़ती है। ऐसी दुनिया में जहाँ प्रत्येक वस्तु मरती है, उसके लिये शोक करना व्यर्थ है।"

अस्तु, यह स्थल कुछ क्लिष्ट चिंतना के कारण थोड़ा कड़ा हो गया है, ऐसा कहा जा सकता है! किंतु यदि साहित्यिक भाषा का बलात् बहिष्कार न किया गया होता तो इस गद्य-खंड का संघटात्मक गुण नष्ट नहीं हो सकता था। ख़ैर संभाषण का अंतिम अंश देखिए—

"हमारे विश्वविद्यालयों से भास्कराचार्य्य और आर्य भट्ट के समान नररत्न और लीलावती सी विदुषियाँ उत्पन्न हों। यदि प्रत्येक गृहस्थी में एक मोटर हो जाये, यदि प्रत्येक नवयुवक एक वायुयान रख सके, यदि प्रत्येक मनुष्य की दीपावली प्रतिदिन विद्युत् सजावे तो भी हमारे

देश में विज्ञान-ज्ञान की खोज का अंत न हो। विज्ञान के व्यवहार के दूषित परिणाम से यहाँ के लोग बाल बाल बचे रहें। हमारा अतीत साक्षी है कि हममें विज्ञान ने कभी भी पौरुषहीनता, आलसता एवं विलासिता उत्पन्न नहीं की, और न आध्यात्मिक उत्कर्ष से ही हमें उसने वंचित रक्खा। उच्च विचार और सरल जीवन भारत का निजी है। विज्ञान के ध्वंसकारी व्यवहार पाश्चात्य देशों तक ही सीमित रहें। घात प्रतिघात के दांव पेंच में उलझा हुआ जीवन अशांति से परिणीत व्यक्तियों के लिये ही चरम उत्कर्ष हो सकता है। हमारे आदर्श व्यक्तियों का संपूर्ण समाहार इसका ज्वलंत उदाहरण है कि भारत के लिये विज्ञान-ज्ञान शारीरिक उपभोग की वस्तु कभी नहीं रहा।

भरद्वाज मुनि के सूक्ष्म विज्ञान-तत्व के व्यावहारिक चमत्कार के इंद्रजाल में आमंत्रित भरतजी की क्या दशा थी इसको स्वयं कवि-सम्राट् गोस्वामी तुलसीदासजी के मुख से सुनिए—

'संपति चकई, भरत चक, मुनि आयसु खिलवार।
तेहि निशि आश्रम पींजरा, राखे भा भिनुसार॥'

भरत भारत के अभिधान प्रेरक ही नहीं आदर्श के प्रेरणा भी हैं।

इस शैली को कौन सरल कहेगा? यहाँ खन्नाजी पूर्णरूप से साहित्यिक हैं। हिंदुस्तानी के प्रचार के लिये आप चाहे जो कहें, किंतु साहित्य के प्रौढ़ स्वरूप के निर्माण में हिंदुस्तानी की अयोग्यता का इनके इस गद्य-खंड से अधिक अच्छा प्रमाण और दूसरा नहीं चाहिए। श्री हीरालाल खन्ना ने अन्यत्र सरल और सुबोध भी पर्याप्त लिखा है। इनकी छोटी-छोटी कहानियों में भाषा-सारल्य का सर्वत्र साम्राज्य है। इधर आपने कुछ विज्ञान-ग्रंथों का अनुवाद, तथा स्वतंत्र रचना की है। प्रकाशित होने पर आपकी भाषा-शैली की समीक्षा की जा सकेगी।

हिंदी-गद्य में अँगरेज़ों का योग—

गद्य-साहित्य के विकास में अँगरेज़ विद्वानों ने भी समय समय पर अच्छी सेवायें की हैं। अतएव यहाँ पर उन विद्वानों का नामोल्लेख आवश्यक है। कलकत्ते के जान गिलक्रिस्ट साहब ने आरंभ में श्री लल्लूलाल तथा श्री सदल मिश्र को गद्य-लेखन की ओर प्रेरित किया था। अँगरेज़ों के आगमन काल में ईसाई धर्म्म-प्रचारकों और पादरियों ने हिंदी में जो अनेक पुस्तिकायें रची थीं उनका उल्लेख हम अन्यत्र कर चुके हैं। हिंदी में बाइबिल के लेखन में मि० विलियम केरी, मि० वार्ड और मि० मार्शमेन का सत् प्रयास, हिंदी-गद्य के इतिहास में एक प्रभावपूर्ण घटना रहेगी। बाइबिल के अतिरिक्त इन सज्जनों ने सिरामपुर में एक प्रेस खोल कर रामायण तथा अन्य पुस्तकें लिखीं और प्रकाशित की थीं। बाइबिल का हिंदी रूपांतर सन् १८०९ ई० में हुआ था। सन् १८१८ तक प्रायः सभी ईसाई-धर्म-पुस्तकों का हिंदी अनुवाद तैयार होगया। सिरामपुर से सन् १८३६ में "दाऊद के गीत" नाम की एक अच्छी पुस्तक निकली। मिर्ज़ापुर से भी शेरिंग साहब की प्रधानता में आरफ़ेम प्रेस से कई पुस्तकें प्रकाशित हुई। गद्य के अतिरिक्त, इस काल के दो ईसाई कवि भी प्रसिद्ध हैं—'आसी' और 'जान'।

जान गिलक्रिस्ट साहब के सहयोगी कप्तान अब्राहम लाकेट, प्रोफ़ेसर टेलर और डाक्टर हंटर का नाम भी उनके हिंदी-प्रेम के लिये प्रसिद्ध था। जान गिलक्रिस्ट साहब ने अपने फ़ोर्ट विलियम कालेज में हिंदी-पुस्तकों के मुद्रण हेतु एक प्रेस भी खोला था। इसी प्रेस से एक और उल्लेखनीय पुस्तक "मुक्ति-मुक्तावली" नामक जान क्रिश्चियन द्वारा लिखी प्रकाशित हुई है। इस प्रकार हिंदी गद्य की आरंभिक धारा में ईसाई अँगरेज़ों की सेवायें उसी प्रकार स्मरणीय रहेंगी जिस प्रकार आज हम मुसलमान हिंदी-लेखकों की कृतियों से प्रभावित हैं।

बीसवीं सदी के गद्य-विकास में भी ईसाइयों का योग प्रभावपूर्ण है। आक्सफ़ोर्ड के प्रोफ़ेसर डाक्टर ग्रियर्सन ने हिंदी-साहित्य का जो महत्वशाली इतिहास तैयार किया है उसकी महत्ता आज भाषाविदों पर अच्छी तरह अधिकार किए है। आज भी हिंदी के अँगरेज़ लेखक हमारे साहित्य का भंडार भरते हैं। श्रीयुत चार्ली एफ़ एंड्रयूज़ साहब बहुधा हिंदी में लेख लिखते हैं। श्रीयुत पाल्टेंड एस० जे० की भी हिंदी-भक्ति सराहनीय है। कानपुर के रेवरेंड किड ने समय समय पर लेख और कवितायें लिखी हैं। उपरोक्त अँगरेज़ विद्वान् गद्य लेखकों के अतिरिक्त डाक्टर ग्रियर्सन जैसे अनेक अँगरेज़ों का एक पृथक् समुदाय भी है जिन्होंने अँगरेज़ी में ही हिंदी-साहित्य पर यथेष्ट मात्रा में लिखा है। मिस्टर के० और मिस्टर ग्रीव्स ने हिंदी के सुंदर इतिहास अँगरेज़ी में लिखे हैं; तथा मिस्टर केलाग ने हिंदी-व्याकरण अँगरेज़ी में लिखा है। डा० वाट्सन भी हिंदी के अच्छे भक्त हैं।

हिंदी की संस्थायें और पत्र—

काशी, प्रयाग, तथा अन्य नगरों की कुछ संस्थाओं ने, हिंदी की बड़ी सेवायें की हैं। 'काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा' तथा 'प्रयाग-हिंदी साहित्य-संमेलन' दोनों हिंदी की बड़ी पुरानी संस्थायें हैं। प्रांतीय सरकार ने हिंदी उर्दू की उन्नति के लिये 'हिंदुस्तानी एकेडमी' नामक गत नौ वर्षों से एक संस्था स्थापित की है। कहते हैं हिंदी उर्दू के निकट लाने में तथा हिंदी उर्दू की प्रगति के लिये इस संस्था से बड़ा प्रोत्साहन मिला है। अनेक मौलिक पुस्तकें और बहुत-से सरस अनुवाद एकेडमी ने प्रकाशित किए हैं। इन संस्थाओं के अतिरिक्त आगरा, कानपुर तथा अन्यान्य प्रमुख नगरों में भी हिंदी-प्रचार के लिये जो संस्थायें हैं, वे कुछ न कुछ उपयोगी कार्य कर रही हैं।

इन संस्थाओं के अतिरिक्त हिंदी-गद्य की उन्नति पत्रों से बहुत कुछ हो रही है। "नागरी-प्रचारिणी पत्रिका", और "हिंदुस्तानी" त्रैमासिक पत्र आज हिंदी में गंभीर गद्य-सामग्री उपस्थित करते हैं। "श्री शारदा" और "विद्यापीठ", ये दोनों प्राचीन पत्र भी अच्छा कार्य कर रहे थे। वर्तमान मासिक पत्रों में कलकत्ता के "विश्वमित्र" और "विशाल भारत", प्रयाग की "सरस्वती", लखनऊ की "माधुरी", इंदौर की "वीणा" और काशी से "हंस" हिंदी के उच्च कोटि के पत्र कहे जाते हैं। कहानी साहित्य के लिये "हंस" एक उत्कृष्ट पत्र है। धर्म्म और भक्ति का एकमात्र पत्र "कल्याण" अच्छे साहित्य की वृद्धि कर रहा है। 'गंगा' और 'वैशाली' भी अच्छे निकलते हैं।

अर्ध मासिक में 'सुधा' अकेले है, और सुंदर है। साप्ताहिक पत्रों में 'जागरण', 'प्रताप' और 'विश्वमित्र' अच्छे पत्र हैं। वैसे तो अनेक अच्छे पत्र निकलते हैं, किंतु उनके संबंध में किसी निश्चित विशेषता की बात नहीं कही जा सकती। जातीय पत्रों में "अग्रवाल" और "कान्यकुब्ज" अच्छे पत्र हैं। विश्वविद्यालय तथा कालेजों की मेग्ज़ीन में भी कभी कभी उच्चकोटि के साहित्यिक गुण देखने में आ जाते हैं। शिक्षा-संबंधी अभी हाल में प्रयाग से 'शिक्षा' नामक एक अच्छा पत्र निकला है। संपादकों का एक संगठन भी है जिसका अधिवेशन प्रत्येक वर्ष होता है। संपादन कला पर विष्णुदत्त शुक्ल ने 'पत्रकार कला' नामक एक सुंदर ग्रंथ भी लिखा है।

दैनिक पत्रों में 'आज', 'अर्जुन', 'प्रताप', 'वर्तमान', 'भारत' और 'नवयुग' प्रतिष्ठित हैं। दैनिक पत्रों में "आज" अच्छा समझा जाता है। कुछ पत्रों द्वारा हिंदी का मनमाना प्रयोग सद्साहित्य की दृष्टि से घातक भी सिद्ध हो रहा है। ऐसे पत्रों में सिनेमा-संबंधी साप्ताहिक पत्रों का तथा मासिक "आकर्षण" का उल्लेख करना आव-

श्यक है। बिना पढ़े लिखे लोग यों ही संपादक बन बैठते हैं और मनमाने ढंग से लिखना अपना कर्तव्य समझते हैं।

हिंदी और हिंदुस्तानी—

हिंदी-गद्य की इस संक्षिप्त विवेचना के समाप्त करने के पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हिंदी और हिंदुस्तानी के विषय में जो विवाद उठ खड़ा हुआ है, उस संबंध में भी कुछ विचार प्रकट किए जायें। हिंदी और हिंदुस्तानी का प्रश्न गद्य-साहित्य के लिये बड़े महत्त्व का है। हिंदी वास्तव में आज तीन स्वरूपों में देखी जाती है। उसका सबसे निखरा हुआ, परिमार्जित और सचिक्कण स्वरूप शुद्ध हिंदी के नाम से प्रचलित है। हिंदी के वर्तमान सुसंपादित साहित्यिक मासिक पत्र तथा इस युग के नवीन साहित्यिक ग्रंथ हिंदी के इसी स्वरूप की श्रीवृद्धि कर रहे हैं। हिंदी का दूसरा स्वरूप अरबी-फ़ारसी शब्दों और उन्हीं के व्याकरण से निर्मित है। यह उर्दू लिपि में लिखा जाता है और विद्वान् मुसलमानों और हिंदुओं के हाथों से उसमें प्रतिदिन उर्दू और फ़ारसी शब्दों की बहुलता और उर्दू व फ़ारसी व्याकरण की प्रबलता बढ़ती जा रही है। वह समय अब शीघ्र निकट आता देख पड़ता है जब उर्दू वाले हिंदी के इस स्वरूप को कोई हिंदी कहेगा ही नहीं। हिंदी का तीसरा स्वरूप हिंदुस्तानी है। इसमें ठेठ हिंदी के साथ उर्दू, फ़ारसी और अँगरेज़ी सभी के बोल चाल के शब्द मिले रहते हैं। इसका प्रयोग बोलने में ही अधिकतर होता है। हिंदुस्तानी-नामक हिंदी की त्रैमासिक पत्रिका तथा इसी के आदर्श वाली कुछ अन्य पत्रिकायें इस बात की चेष्टा में संलग्न हैं कि हिंदी के इस खिचड़ी-स्वरूप में साहित्य का सृजन होने लग जाय। इस आंदोलन के प्रवर्त्तक कुछ ऐसे व्यक्ति हैं, जो साहित्यिक विद्वान् तो नहीं हैं किंतु हिंदी-प्रचार-कार्य के बड़े समर्थक हैं।

वास्तव में साहित्यिक भाषा के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह ढूँढ़ ढूँढ़ कर क्लिष्ट और अप्रयुक्त शब्दों का ही प्रयोग स्वीकार करे। प्रत्युत जीवित साहित्यिक भाषा के लिये यह अनिवार्य है कि उसकी ग्राहिका शक्ति बड़ी प्रबल हो, और वह किसी भी भाषा के संजीवक और स्फूर्त्तिप्रद शब्दों को निस्संकोच ग्रहण कर ले। परंतु यह भी स्वाभाविक है कि विषय-गांभीर्य और साहित्यिकों की शैली के पेचीदापन से अभिव्यंजना में दुरूहता अवश्य आ जाती है। इस गंभीरता और जटिलता के कारण साहित्यिक भाषा में जो दुरूहता दिखलाई पड़ती है, उसके प्रतिकूल युद्ध करना साहित्य का मूलोच्छेद करना है; अतएव हिंदी-प्रचारकों को साहित्य के निर्माण में कोई बाधा न उपस्थित करनी चाहिए। साथ ही साहित्य-निर्माणकों को भी यह एक बार समझ लेना है कि उन्हें ऐसे समस्त प्रतिवादों को जिनके कारण हिंदी भाषा धीरे-धीरे साधारण जनता से हटती जा रही है, परित्याग कर देना ही हिंदी के लिये कल्याण-कर है। न हिंदी-प्रचारक खड्गहस्त होकर एक साहित्यिक को सरल और सुबोध शब्दों के प्रयोग के लिये बाध्य कर सकता है, और न साहित्यिक ही सरल और कठिन शब्दों के प्रयोग का सापेक्षिक मर्म प्रचारक को ठीक समझा सकता है। अतः हिंदी और हिंदुस्तानी के इस विवाद की अस्वाभाविकता को लक्ष में रख कर हिंदी-संसार को चाहिए कि वह राष्ट्र-भाषा के प्रति अपने दायित्व को समझे और हिंदी की उन्नति में वास्तविक योग दे।

सद्गुरुशरण अवस्थी

गद्य-प्रकाश

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति

प्रहसन

नांदी

दोहा—बहु बकरा बलि हित कटैं, जाके बिना प्रमान।
सो हरि की माया करै, सब जग को कल्यान॥

(सूत्रधार और नटी आते हैं)

सूत्रधार—अहा हा! आज की संध्या की कैसी शोभा है। सब दिशा ऐसी लाल हो रही है, मानो किसी ने बलिदान किया है और पशु के रक्त से पृथ्वी लाल हो गई है।

नटी—कहिये आज भी कोई लीला कीजियेगा?

सूत्रधार—बलिहारी! अच्छी याद दिलाई। हाँ, जो लोग मांस लीला करते हैं उनकी लीला करेंगे।

(नेपथ्य में) अरे शैलूषाधम! तू मेरी लीला क्या करेगा। चल भाग जा, नहीं तो तुझे भी खा जायँगे।

(दोनों सभय) अरे हमारी बात गृध्रराज ने सुन ली, अब भागना चाहिये, नहीं तो बड़ा अनर्थ करेगा।

(दोनों जाते हैं)

प्रथम अंक

[स्थान—रक्त से रँगा हुआ राजभवन]

(नेपथ्य में) बढ़े जाइयो! कोटिन लवा बटेर के नाशक, वेद धर्म प्रकाशक, मंत्र से शुद्ध करके बकरा खानेवाले, दूसरे के मांस से अपना मांस बढ़ानेवाले, सहित सकल समाज श्री गृध्रराज महाराजाधिराज!

(गृध्रराज, चोबदार, पुरोहित और मंत्री आते हैं)

राजा—(बैठकर) आज की मछली कैसी स्वादिष्ट बनी थी।

पुरोहित—सत्य है। मानो अमृत में डुबोई थी और ऐसा कहा भी है—

केचित् वदन्त्यमृतमस्ति सुरालयेषु
केचित् वदन्ति वनिताधरपल्लवेषु।
ब्रूमो वयं सकल-शास्त्र-विचार-दक्षाः
जंबीरनीरपरिपूरितमत्स्यखंडे॥

राजा—क्या तुम ब्राह्मण होकर ऐसा कहते हो? पें तुम साक्षात् ऋषि के वंश में होकर ऐसा कहते हो!

पुरोहित—हाँ हाँ! हम कहते हैं और वेद, शास्त्र, पुराण, तंत्र सब कहते हैं।

"जीवो जीवस्य जीवनम्।"

राजा—ठीक है, इसमें कुछ संदेह नहीं है।

पुरोहित—संदेह होता तो शास्त्र में क्यों लिखा जाता। हाँ, बिना देवी अथवा भैरव के समर्पण किए कुछ होता हो तो हो भी।

मंत्री—सो भी क्यों होने लगा। भागवत में लिखा है—

"लोके व्यवायामिषमद्यसेवा।
नित्यास्ति जन्तोर्नहि तत्र चोदना॥"

पुरोहित—सच है और देवी की पूजा नित्य करना इसमें कुछ संदेह नहीं है, और जब देवी की पूजा भई तो मांस भक्षण आही गया। बलि बिना पूजा हो ही गी नहीं, और जब बलि दिया तब उसका प्रसाद अवश्य ही लेना चाहिये। अजी भागवत में बलि देना लिखा है, जो वैष्णवों का परम पुरुषार्थ है।

"धूपोपहारबलिभिः सर्वकामवरेश्वरीम्"

मंत्री—और "पंच पंच नखा भक्ष्याः" यह सब वाक्य बराबर से शास्त्रों में कहते ही आते हैं।

पुरोहित—हाँ हाँ जी, इसमें भी कुछ पूछना है। अजी साक्षात् मनुजी कहते हैं—

"न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।"

और जो मनुजी ने लिखा है कि—

"स्वमांसं परमांसेन यो वर्द्धयितुमिच्छति।"

सो वही लिखते हैं—

"अनभ्यर्च्य पितॄन् देवान्"

इससे जो खाली मांस भक्षण करते हैं उनको दोष है। महाभारत में लिखा है कि ब्राह्मण गोमांस खा गए पर पितरों को समर्पित था इससे उन्हें कुछ भी पाप न हुआ।

मंत्री—जो सच पूछो तो दोष कुछ भी नहीं है, चाहे पूजा करके खाओ चाहे वैसे खाओ।

पुरोहित—हाँ जी, यह सब मिथ्या एक प्रपंच है, ख़ूब मज़े में मांस कचर कचर के खाना और चैन करना। एक दिन तो आख़िर मरना ही है, किस जीवन के वास्ते शरीर को व्यर्थ वैष्णवों की तरह क्लेश देना। इससे क्या होता है?

राजा—तो कल हम बड़ी पूजा करेंगे। एक लाख बकरे और बहुत से पक्षी मँगवा रखना।

चोबदार—जो आज्ञा।

पुरोहित—(उठ करके नाचने लगा) अहा हा! बड़ा आनंद भया कल खूब पेट भरेगा।

द्वितीय अंक

[स्थान—पूजाघर]

(राजा, मंत्री, पुरोहित और उक्त भट्टाचार्य्य आते हैं और अपने अपने स्थान पर बैठते हैं)

चोबदार—(आकर) श्रीमच्छंकराचार्य्य मतानुयायी कोई वेदांती आया है।

राजा—आदरपूर्वक ले आओ।

(विदूषक आया)

विदूषक—हे भगवान्—इस बकवादी राजा का नित्य कल्याण हो जिससे हमारा नित्य पेट भरता है। हे ब्राह्मण लोगो! तुम्हारे मुख में सरस्वती हंस-सहित वास करे और उसकी पूँछ मुख में न अटके। हे पुरोहित, नित्य-नित्य देवी के सामने बलि किया करो और प्रसाद खाया करो।

(बीच में घुसकर बैठ गया)

राजा—अरे मूर्ख फिर के बैठ।

विदूषक—ब्राह्मण को मूर्ख, कहते हो फिर हम नहीं जानते जो कुछ तुम्हें दंड मिले, हाँ!

राजा—चल, मुझ उद्दंड को कौन दंड देनेवाला है।

विदूषक—हाँ, फिर मालूम होगा।

(वेदांती आए)

राजा—बैठिये।

वेदांती—अद्वैतमत के प्रकाश करनेवाले भगवान् शंकराचार्य्य इस मायाकल्पित मिथ्या संसार से तुझको मुक्त करें।

विदूषक—क्यों वेदांतीजी, आप मांस खाते हैं कि नहीं ?

वेदांती—तुमको इससे कुछ प्रयोजन है ?

विदूषक—नहीं, कुछ प्रयोजन तो नहीं है। हमने इस वास्ते पूछा कि आप बेदांती अर्थात् बिना दाँत के हैं सो आप भक्षण कैसे करते होंगे।

(वेदांती टेढ़ी दृष्टि से देखकर चुप रह गया। सब लोग हँस पड़े)

विदूषक—(बंगाली से) तुम क्या देखते हो ? तुम्हें तो चैन है। बंगाली-मात्र मच्छ भोजन करते हैं।

बंगाली—हम तो बंगालियों में वैष्णव हैं। नित्यानंद महाप्रभु के संप्रदाय में हैं और मांसभक्षण कदापि नहीं करते और मच्छ तो कुछ मांसभक्षण में नहीं।

वेदांती—इसमें प्रमाण क्या ?

बंगाली—इसमें यह प्रमाण कि मत्स्य की उत्पत्ति वीर्य और रज से नहीं है। इनकी उत्पत्ति जल से है। इस हेतु जो फलादिक भक्ष्य हैं तो ये भी भक्ष्य हैं।

पुरोहित—साधु-साधु ! क्यों न हो। सत्य है।

वेदांती—क्या तुम वैष्णव हो ? किस संप्रदाय के वैष्णव हो ?

बंगाली—हम नित्यानंद महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु के संप्रदाय में हैं और श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु श्रीकृष्ण ही हैं।

वेदांती—वैष्णवों के आचार्य्य तो चार हैं। तो तुम इन चारों से विलक्षण कहाँ से आए ?

राजा—जाने दो, इस कोरी बकवाद का क्या फल है ?

(नेपथ्य में)

उमासहायं परमेश्वरं विभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं दयालुम् ।

(पुनः) गोविंद नारायण माधवेति ।

पुरोहित—कोई वैष्णव और शैव आते हैं ।

राजा—चोबदार, जा करके आदर से ले आओ । (चोबदार बाहर गया, वैष्णव और शैव को लेकर फिर आया)

(राजा ने उठकर दोनों को बैठाया)

दोनों—

शंख कपाल लिये कर में, कर दूसरे चक्र त्रिशूल सुधारे ।
माल बनी मणि अस्थि की कंठ मैं, तेज दसो दिसि माँझ पसारे ॥
राधिका पारवती दिसि बाम, सबै जगनाशन पालनवारे ।
चंदन भस्म को लेप किए हरि ईश हरैं सब दुःख तुम्हारे ॥

बंगाली—महाराज, शैव और वैष्णव ये दोनों मत वेद के बाहर हैं ।

सर्वे शाक्ता द्विजः प्रोक्ता न शैवा न च वैष्णवाः ।
आदिदेवीमुपासन्ते गायत्रीं वेदमातरम् ॥

तथा—तस्मान्माहेश्वरी प्रजा ।

इस युग का शास्त्र तंत्र है ।

कृते श्रुत्युक्तमार्गश्च त्रेतायां स्मृतिभाषिताः ।
द्वापरे वै पुराणोक्ताः कलौ वागमसंभवः ॥

और कंठी रुद्राक्ष तुलसी की माला तिलक यह सब अप्रमाण है ।

शैव—मुँह सम्हाल के बोला करो उस श्लोक का अर्थ सुनो, सर्वे शाक्ता द्विजाः प्रोक्ताः परंतु, शैवा वैष्णवा न शाक्ताः प्रोक्ताः । जो केवल गायत्री की उपासना करते हैं वे

शाक्त हैं। "पुराणौ हरिणा प्रोक्तौ मार्गौ द्वौ शैववैष्णवौ। और वेदों करके वेद्य शिव ही हैं।

राजा—भला वैष्णव और शैव मांस खाते हैं कि नहीं?

शैव—महाराज, वैष्णव तो नहीं खाते और शैवों को भी न खाना चाहिये परंतु अबके नष्टबुद्धि शैव खाते हैं।

पुरोहित—महाराज, वैष्णवों का मत तो जैन मत की एक शाखा है और महाराज दयानंद स्वामी ने इन सबका खूब खंडन किया है, पर वह तो देवी की मूर्ति भी तोड़ने को कहते हैं। यह नहीं हो सकता क्योंकि फिर बलिदान किसके सामने होगा?

(नेपथ्य में) नारायण

राजा—कोई साधू आता है।

(धूर्तशिरोमणि गंडकीदास का प्रवेश)

राजा—आइये गंडकीदासजी!

पुरोहित—गंडकीदासजी हमारे बड़े मित्र हैं। यह और वैष्णवों की तरह जंजाल में नहीं फँसे हैं। यह आनंद से संसार का सुख भोग करते हैं।

गंडकीदास—(धीरे धीरे पुरोहित से) अजी इस सभा में हमारी प्रतिष्ठा मत बिगाड़ो। वह तो एकांत की बात है।

पुरोहित—वाह जी, इसमें चोरी की कौन बात है?

गंडकीदास—(धीरे से) यहाँ वह वैष्णव और शैव बैठे हैं।

पुरोहित—वैष्णव तुम्हारा क्या कर लेगा! क्या किसी का डर पड़ा है?

विदूषक—महाराज, गंडकीदासजी का नाम तो रंडादासजी होता तो अच्छा होता।

राजा—क्यों?

विदूषक—यह तो रंडा ही के दास हैं।

शैव, वैष्णव और वेदांती—अब हम लोग आज्ञा लेते हैं। इस सभा में रहने का हमारा धर्म्म नहीं।

विदूषक—दंडवत्, दंडवत्, जाइये भी किसी तरह।

(सब जाते हैं)

विदूषक—अच्छा हुआ महाराज, यह सब चले गए। अब आप भी चलें। पूजा का समय हुआ।

राजा—ठीक है।

(जवनिका गिरती है)

अंतिम अंक

[स्थान—यमपुरी]

(यमराज बैठे हैं और चित्रगुप्त पास खड़े हैं)

(चार दूत, राजा, पुरोहित, मंत्री, गंडकीदास, शैव और वैष्णव को पकड़कर लाते हैं)

एक दूत—(राजा के सिर में धौल मारकर) चल बे चल, अब यहाँ तेरा राज नहीं है कि छत्र-चवँर होगा, फूल से पैर रखता है, चल भगवान् यम के सामने, और अपने पाप का फल भुगत, बहुत कूद-कूद के हिंसा की और मदिरा पी, सौ सोनार की न एक लोहार की। (दो धौल और लगाता है)

दूसरा दूत—(पुरोहित को घसीटकर) चलिये पुरोहितजी, दक्षिणा लीजिये, वहाँ आपने चक्रपूजन किया था, यहाँ चक्र में आप चलिये, देखिये बलिदान का कैसा बदला लिया जाता है।

तीसरा दूत—(मंत्री की नाक पकड़कर) चल बे चल, राज के प्रबंध के दिन गए, जूती खाने के दिन आए, चल अपने किए का फल ले।

चौथा दूत—(गंडकीदास का कान पकड़कर झोंका देकर) चल रे पाखंडी चल, यहाँ लंबा टीका काम न आवेगा। देख वह सामने पाखंडियों का मार्ग देखनेवाले सर्प मुँह खोले बैठे हैं।

(सब यमराज के सामने जाते हैं)

यमराज—(वैष्णव और शैव से) आप लोग यहाँ आकर मेरे पास बैठिये।

वैष्णव और शैव—जो आज्ञा। (यमराज के पास बैठ जाते हैं)

यमराज—चित्रगुप्त, देखो तो इस राजा ने कौन कौन कर्म्म किए हैं।

चित्रगुप्त—(वही देखकर) महाराज, सुनिये, यह राजा जन्म से पाप में रत रहा, इसने धर्म्म का अधर्म्म माना और अधर्म्म को धर्म्म माना, जो जी चाहा किया और उसकी व्यवस्था पंडितों से ले ली, लाखों जीवों का इसने नाश किया और हज़ारों घड़े मदिरा के पी गया पर आड़ सर्वदा धर्म्म की रखा; अहिंसा, सत्य, शौच, दया, शांति और तप आदि सच्चे धर्म इसने एक न किए, जो कुछ किया वह केवल वितंडा कर्म्मजाल किया, जिसमें मांसभक्षण और मदिरा पीने को मिले, और परमेश्वर प्रीत्यर्थ इसने एक कौड़ी भी व्यय नहीं की, जो कुछ व्यय किया वह नाम और प्रतिष्ठा पाने के हेतु।

यमराज—अच्छा! तो बड़ा ही नीच है, क्या हुआ मैं तो उपस्थित ही हूँ।

"अंतः प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः।"

भला पुरोहित के कर्म्म तो सुनाओ।

चित्रगुप्त—महाराज, यह शुद्ध नास्तिक है, केवल दंभ से यज्ञोपवीत पहिने है, यह तो इसी श्लोक के अनुरूप है—

अंतः शाक्ता बहिः शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः।
नानारूपधराः कौला विचरन्ति महीतले॥

इसने शुद्ध चित्त से ईश्वर पर कभी विश्वास नहीं किया, जो-जो पक्ष राजा ने उठाये उसका समर्थन करता रहा और टके-टके पर धर्म छोड़कर इसने मनमानी व्यवस्था दी, दक्षिणा-मात्र दे दीजिये फिर जो कहिये उसी में पंडितजी की संमति है, केवल इधर-उधर कमंडलाचार करते इसका जन्म बीता और राजा के संग से मांस-मद्य का भी बहुत सेवन किया। सैकड़ों जीव अपने हाथ से वध कर डाले।

यमराज—अरे यह तो बड़ा दुष्ट है। क्या हुआ मुझसे काम पड़ा है। ये बचाजी तो ऐसा ठीक होंगे जैसा चाहिये। अब तुम मंत्रीजी के चरित्र कहो।

चित्रगुप्त—महाराज, मंत्रीजी की कुछ न पूछिये। इसने कभी स्वामी का भला नहीं किया। केवल चुटकी बजाकर हाँ में हाँ मिलाया। मुँह पर स्तुति पीछे निंदा, अपना घर बनाने से काम, स्वामी चाहे चूल्हे में पड़े। घूस लेते जन्म बीता। मांस और मद्य के बिना इसने न और धर्म्म जाने न कर्म्म जाने—यह मंत्री की व्यवस्था है, प्रजा पर कर लगाने में तो पहिले संमति दी पर प्रजा के सुख का उपाय एक भी न किया।

यमराज—भला ये श्री गंडकीदासजी आए हैं इनका पवित्र चरित्र पढ़ो कि सुनकर कृतार्थ हों, देखने में तो बड़े लंबे लंबे तिलक दिए हैं।

चित्रगुप्त—महाराज, ये गुरु लोग हैं, इनके चरित्र कुछ न पूछिये, केवल दंभार्थ इनकी तिलक मुद्रा और केवल ठगने के लिये इनकी पूजा। कभी भक्ति से मूर्ति को दंडवत न किया होगा।

(नेपथ्य में बड़ा कलकल होता है)

यमराज—कोई दूत जाकर देखो यह क्या उपद्रव है।

पहला दूत—जो आज्ञा। (बाहर जाकर फिर आता है) महाराज, संयमनीपुरी की प्रजा बड़ी दुखी है। पुकार करती है कि ऐसे आज कौन पापी नरक में आए हैं जिनके अंग के वायु से हम लोगों का सिर घूमा जाता है और अंग जलता है। इनको तो महाराज शीघ्र ही नरक में भेजें नहीं तो हम लोगों के प्राण निकल जायँगे।

यमराज—सच है, ये ऐसे ही पापी हैं, अभी मैं इनका दंड करता हूँ, कह दो घबड़ायँ न।

पहला दूत—जो आज्ञा। (बाहर जाकर फिर आता है)

यमराज—(राजा से) तुझ पर जो दोष ठहराए गए हैं, बोल उनका क्या उत्तर देता है?

राजा—(हाथ जोड़कर) महाराज, मैंने तो अपने जान सब धर्म ही किया कोई पाप नहीं किया, जो मांस खाया वह देवता-पितर को चढ़ाकर खाया और देखिये महाभारत में लिखा है कि ब्राह्मणों ने भूख के मारे गोवध करके खा लिया पर श्राद्ध कर लिया था इससे कुछ नहीं हुआ।

यमराज—कुछ नहीं हुआ, लगें इसको कोड़े।

पहला दूत—जो आज्ञा। (कोड़े मारता है)

राजा—(हाथ से बचा बचाकर) हाय-हाय, दुहाई-दुहाई सुन लीजिये—दुहाई वेदों की, दुहाई धर्म्मशास्त्र की, दुहाई व्यासजी की, हाय रे मैं इनके भरोसे मारा गया।

यमराज—बस चुप रहो, कोई है ? यह अंधतामिस्र नामक नरक में जायगा। अभी इसको अलग रखो।

पहला दूत—जो आज्ञा महाराज। (पकड़-खींचकर एक ओर खड़ा करता है)

यमराज—(पुरोहित से) बोल बे ब्राह्मणाधम ! तू अपने अपराधों का क्या उत्तर देता है ?

पुरोहित—(हाथ जोड़कर) महाराज, मैं क्या उत्तर दूँगा, वेद पुराण सब उत्तर देते हैं।

यमराज—लगें कोड़े, दुष्ट वेद-पुराण का नाम लेता है।

दूसरा दूत—जो आज्ञा। (कोड़े मारता है)

पुरोहित—दुहाई-दुहाई, मेरी बात तो सुन लीजिये। यदि मांस खाना बुरा है तो दूध क्यों पीते हैं, दूध भी तो मांस ही है और अन्न क्यों खाते हैं अन्न में भी तो जीव हैं और वैसे ही सुरापान बुरा है तो वेद में सोमपान क्यों लिखा है और महाराज, मैंने तो जो बकरे खाए वह जगदंबा के सामने बलि देकर खाए, अपने हेतु कभी हत्या नहीं की और न अपने राजा साहब की भाँति मृगया की। दुहाई, ब्राह्मण व्यर्थ पीसा जाता है।

यमराज—बस चुप, दुष्ट ! जगदंबा कहता है और फिर उसी के सामने उसी जगत् के एक बकरे को अर्थात् उसके पुत्र ही को बलि देता है। अरे दुष्ट, अपनी अंबा कह,

जगदंबा क्यों कहता है, क्या बकरा जगत् के बाहर है ? चांडाल सिंह को बलि नहीं देता—"अजापुत्रं बलिं दद्याद् देवो दुर्बलघातकः" कोई है ? इसको सूचीमुख नामक नरक में डालो। दुष्ट कहीं का वेद पुराण का नाम लेता है। मांस मदिरा खाना-पीना है तो योंही खाने में किसने रोका है, धर्म्म को बीच में क्यों डालता है, बाँधो !

दूसरा दूत—जो आज्ञा महाराज। (बाँधकर एक ओर खड़ा करता है)

यमराज—(मंत्री से) बोल बे, तू अपने अपराधों का क्या उत्तर देता है ?

मंत्री—(आप ही आप) मैं क्या उत्तर दूँ, यहाँ तो सब बात बेरंग है। इन भयावनी मूर्तियों को देखकर प्राण तो सूखे जाते हैं उत्तर क्या दूँ। हाय-हाय, इनके ऐसे बड़े बड़े दाँत हैं कि मुझे तो एक ही कौर कर जायँगे।

यमराज—बोल जल्दी।

तीसरा दूत—(एक कोड़ा मारकर) बोलता है कि नहीं।

मंत्री—(हाथ जोड़कर) महाराज, अभी सोचकर उत्तर देता हूँ। (कुछ सोचकर, चित्रगुप्त से) आप मुझे एक बेर राज्य पर भेज दीजिये, मैंने जितना धन बड़ी-बड़ी कठिनाई और बड़े-बड़े अधर्म्म से एकत्र किया सब आपको भेंट करूँगा और मैं निरपराधी कुटुंबी हूँ मुझे छोड़ दीजिये।

चित्रगुप्त—(क्रोध से) अरे दुष्ट, यह भी क्या मृत्युलोक की कचहरी है कि तू हमें घूस देता है और क्या हम लोग वहाँ के न्यायकर्ताओं की भाँति जंगल से पकड़कर आए हैं कि तुम दुष्टों के व्यवहार नहीं जानते। जहाँ

तू आया है और जो गति तेरी है वही घूस लेनेवालों की भी होगी ।

यमराज—(क्रोध से) क्या यह दुष्ट द्रव्य दिखाता है ? भला रे दुष्ट ! कोई है इसको पकड़कर कुंभीपाक में डालो !

तीसरा दूत—जो आज्ञा महाराज । (पकड़कर खींचता है)

यमराज—अब आप बोलिये बाबाजी, आप अपने पापों का क्या उत्तर देते हैं ?

गंडकीदास—मैं क्या उत्तर दूँगा । पाप-पुण्य जो करता है ईश्वर करता है, इसमें मनुष्य का क्या दोष है ?

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्व्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥

मैं तो आज तक सर्वदा अच्छा ही करता रहा ।

यमराज—कोई है ? लगें कोड़े दुष्ट को, अब ईश्वर फल भी भुगतेगा । हाय-हाय, ये दुष्ट दूसरों की स्त्रियों को माँ और बेटी कहते हैं और लंबा-लंबा टीका लगाकर लोगों को ठगते हैं ।

चौथा दूत—महाराज, यह किस नरक में जायगा ? (कोड़े मारता है)

गंडकीदास—हाय-हाय, दुहाई, अरे कंठी टीका कुछ काम न आया । अरे कोई नहीं है जो इस समय बचावे ।

यमराज—यह दुष्ट रौरव नरक में जायगा जहाँ इसको ऐसे ही अनेक धर्म्म-वंचक मिलेंगे । ले जाओ सबको ।

(चारों दूत चारों को पकड़कर घसीटते हैं और मारते हैं और चारों चिल्लाते हैं)

चारों—अरे "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति"

हाय रे "अग्निष्टोमे पशुमालभेत ।"

अरे बाप रे "सौत्रामण्याम् सुरां पिबेत् ।"
भैया रे "श्रोत्रं ते शुंधामि ।"
(यही कहकर चिल्लाते हैं और दूत लोग उनको घसीटकर मारते-मारते ले जाते हैं)

यमराज—(शैव और वैष्णव से) आप लोगों की अकृत्रिम भक्ति से ईश्वर ने आपको कैलाश और वैकुण्ठवास की आज्ञा दी है सो आप लोग जाइये और अपने सुकृति का फल भोगिये। आप लोगों ने इन धर्म्मवंचकों की दशा तो देखी ही है, देखिये पापियों की यह गति होती है और आपसे सुकृतियों को ईश्वर प्रसन्न होकर सामीप्य मुक्ति देता है सो लीजिये, आप लोगों को परम-पद मिला। बधाई है, कहिये इससे भी विशेष कोई आपका हित हो तो मैं पूर्ण करूँ।

शैव और वैष्णव—(हाथ जोड़कर) भगवन् ! इससे बढ़कर और हम लोगों का क्या हित होगा। तथापि यह नाटकाचार्य्य भरत ऋषि का वाक्य सफल हो।

निज स्वारथ को धरम दूरि या जग सों होई।
ईश्वर पद मय भक्ति करैं छल बिनु सब कोई ॥
खल के विष-बैनन सों मत सज्जन दुख पावैं।
छुटै राज-कर मेघ समय पै जल बरसावैं ॥
कजरी ठुमरिन सों मोड़ि मुख सत कविता सब कोई कहै।
यह कवि बानी बुध-बदन में रवि ससि लौं प्रगटित रहै ॥

(सब जाते हैं)

(जवनिका गिरती है)

शिव-मूर्ति

हमारे ग्राम-देव भगवान् भूतनाथ से अकथ्य अप्रतर्क्य एवं अचिंत्य हैं। तो भी उनके भक्तजन अपनी रुचि के अनुसार उनका रूप, गुण, स्वभाव कल्पित कर लेते हैं। उनकी सभी बातें सत्य हैं, अतः उनके विषय में जो कुछ कहा जाय सब सत्य है। मनुष्य की भाँति वे नाड़ी आदि बंधन से बद्ध नहीं हैं। इससे हम उनको निराकार कह सकते हैं और प्रेम-दृष्टि से अपने हृदय मंदिर में उनका दर्शन करके साकार भी कह सकते हैं। यथा-तथ्य वर्णन उनका कोई नहीं कर सकता। तो भी जितना जो कुछ अभी तक कहा गया है और आगे कहा जावेगा सब शास्त्रार्थ के आगे निरी बकबक है और विश्वास के आगे मनःशांतिकारक सत्य है !!! महात्मा कबीर ने इस विषय में कहा है वह निहायत सच है कि जैसे कई अंधों के आगे हाथी आवै और कोई उसका नाम बता दे, तो सब उसे टटोलेंगे। यह तो संभव ही नहीं है कि मनुष्य के बालक की भाँति उसे गोद में ले के सब कोई अवयव का बोध कर लें। केवल एक अंग टटोल सकते हैं और दाँत टटोलनेवाला हाथी को खूँटी के समान, कान छूनेवाला सूप के समान, पाँव स्पर्श करनेवाला खंभे के समान कहेगा ! यद्यपि हाथी न खूँटे के समान है और न खंभे के। पर कहनेवालों की बात झूठी भी नहीं है। उसने भली भाँति निश्चय किया है और वास्तव में हाथी का एक अंग वैसा ही है जैसा वे कहते हैं। ठीक यही हाल ईश्वर के विषय में हमारी बुद्धि का है। हम पूरा पूरा वर्णन वा पूरा साक्षात् कर लें तो वह अनंत कैसे और यदि निरा अनंत मान के अपने मन और वचन को उनकी ओर से बिलकुल फेर लें तो हम आस्तिक कैसे ! सिद्धांत

यह कि हमारी बुद्धि जहाँ तक है वहाँ तक उनकी स्तुति-प्रार्थना, ध्यान, उपासना कर सकते हैं और इसीसे हम शांति लाभ करेंगे !

उनके साथ जिस प्रकार का जितना संबंध हम रख सकें उतना ही हमारा मन, बुद्धि, शरीर, संसार, परमार्थ के लिये मंगल है। जो लोग केवल जगत् के दिखाने को वा सामाजिक नियम निभाने को इस विषय में कुछ करते हैं उनसे तो हमारी यही विनय है कि व्यर्थ समय न बितावें। जितनी देर पूजा-पाठ करते हैं, जितनी देर माला सरकाते हैं उतनी देर कमाने-खाने, पढ़ने-गुनने में ध्यान दें तो भला है ! और जो केवल शास्त्रार्थी आस्तिक हैं वे भी व्यर्थ ईश्वर को अपना पिता बना के निज माता को कलंक लगाते हैं। माता कह के बेचारे जनक को दोषी ठहराते हैं, साकार कल्पना करके व्यापकता का और निराकार कह के अस्तित्व का लोप करते हैं। हमारा यह लेख केवल उनके विनोदार्थ है जो अपनी विचारशक्ति को काम में लाते हैं और ईश्वर के साथ जीवित संबंध रख के हृदय में आनंद पाते हैं तथा आप लाभकारक बातों को समझ के दूसरों को समझाते हैं ! प्रिय पाठक ! उसकी सभी बातें अनंत हैं तो मूर्तियाँ भी अनंत प्रकार से बन सकती हैं और एक एक स्वरूप में अनंत उपदेश प्राप्त हो सकते हैं। पर हमारी बुद्धि अनंत नहीं है, इससे कुछ एक प्रकार की मूर्तियों का कुछ कुछ अर्थ लिखते हैं।

मूर्ति बहुधा पाषाण की होती है जिसका प्रयोजन यह है कि उनसे हमारा दृढ़ संबंध है। दृढ़ वस्तुओं की उपमा पाषाण से दी जाती है। हमारे विश्वास की नींव पत्थर पर है। हमारा धर्म पत्थर का है। ऐसा नहीं कि सहज में और का और हो जाय। इसमें बड़ा सुभीता यह भी है कि एक बार बनवा के रख

ली, कई पीढ़ी को छुट्टी हुई। चाहे जैसे असावधान पूजक आवें कोई हानि नहीं हो सकती है। धातु की मूर्ति से यह अर्थ है कि हमारा स्वामी द्रवणशील अर्थात् दयामय है। जहाँ हमारे हृदय में प्रेमाग्नि धधकी वहीं हमारा प्रभु हम पर पिघल उठा। यदि हम सच्चे तदीय हैं तो वह हमारी दशा के अनुसार बर्तेंगे। यह नहीं कि उन्हें अपने नियम पालने से काम। हम चाहे मरें या जियें। रत्नमयी मूर्ति से यह भाव है कि हमारा ईश्वरीय संबंध अमूल्य है। जैसे पन्ना पुखराज की मूर्ति बिना एक गृहस्थी भर का धन लगाए नहीं हाथ आती। यह बड़े ही अमीर को साध्य है वैसे ही प्रेममय परमात्मा भी हमको तभी मिलेंगे जब हम अपने ज्ञान का अभिमान छोड़ दें। यह भी बड़े ही मनुष्य का काम है! मृत्तिका की मूर्ति का यह अर्थ है कि उनकी सेवा हम सब ठौर कर सकते हैं। जैसे मिट्टी और जल का अभाव कहीं नहीं है, वैसे ही ईश्वर का वियोग कहीं नहीं है। धन और गुण का ईश्वर-प्राप्ति में कुछ काम नहीं। वह निर्धन के धन हैं। 'हुनरमंदों से पूछे जाते हैं बाबे हुनर पहिले'। या यों समझ लो कि सब पदार्थ आदि और अंत में सब ईश्वर से उत्पन्न हैं, ईश्वर में ही लय होते हैं इस बात से दृष्टांत मट्टी से ख़ूब घटता है। गोबर की मूर्ति यह सिखाती है कि ईश्वर आत्मिक रोगों का नाशक है हृदय-मंदिर की कुवासनारूपी दुर्गंध को हरता है। पारे की मूर्ति में यह भाव है कि प्रेमदेव हमारे पुष्टिकारक 'सुगंधं पुष्टिवर्द्धनं' यह मूर्ति बनाने वा बनवाने की सामर्थ्य न हो तो पृथ्वी और जल आदि अष्ट मूर्ति बनी बनाई पूजा के लिये विद्यमान हैं।

वास्तविक प्रेम-मूर्ति मनोमंदिर में विराजमान है। पर यह दृश्य मूर्तियाँ भी निरर्थक नहीं हैं। मूर्तियों के रंग भी यद्यपि

अनेक होते हैं पर मुख्य रंग तीन हैं। श्वेत जिसका अर्थ यह है कि परमात्मा शुद्ध है, स्वच्छ है; उसकी किसी बात में किसी का कुछ मेल नहीं है। पर सभी उसके ऐसे आश्रित हो सकते हैं जैसे उजले रंग पर सब रंग।X वह त्रिगुणातीत तो हुई, पर त्रिगुणालय भी उसके बिना कोई नहीं। यदि हम सतोगुणमय भी कहें तो बेअदबी नहीं करते! दूसरा लाल रंग है जो रजोगुण का वर्ण है। ऐसा कौन कह सकता है कि यह संसार भर का ऐश्वर्य किसी और का है। और लीजिये कविता के आचार्यों ने अनुराग का रंग लाल कहा है। फिर अनुराग देव का रंग और क्या होगा? तीसरा रंग काला है। उसका भाव सब सोच सकते हैं कि सबसे पक्का यही रंग है, इस पर दूसरा रंग नहीं चढ़ता। ऐसे ही प्रेम-देव सबसे अधिक पक्के हैं उनपर और का रंग क्या चढ़ेगा? इसके सिवा बाह्य जगत् के प्रकाशक नैन हैं। उनकी पुतली काली होती है, भीतर का प्रकाशक ज्ञान है। उसकी प्रकाशिनी विद्या है जिसको समस्त पुस्तकें काली मसी में लिखी जाती हैं। फिर कहिये जिससे भीतर-बाहर दोनों प्रकाशित होते हैं जो प्रेमियों को आँख की ज्योति से भी प्रियतर है, जो अनंत विद्यामय है उसका फिर और क्या रंग हम मानें?

हमारे रसिक पाठक जानते हैं किसी सुंदर व्यक्ति की आँखों में काजल और गोरे गोरे गाल पर तिल कैसा भला लगता है कि कवियों भरे की पूरी शक्ति, रसिकों भर का सर्वस्व एक बार उस शोभा पर निछावर हो जाता है। यहाँ तक कि जिनके असली तिल नहीं होता उन्हें सुंदरता बढ़ाने को कृत्रिम तिल बनाना पड़ता है। फिर कहिये तो, सर्व शोभामय परमसुंदर का कौन रंग कल्पना करोगे? समस्त शरीर में सर्वोपरि शिर है उस पर केश कैसे होते हैं? फिर सर्वोत्कृष्ट देवाधिदेव का और क्या

रंग है ? यदि कोई बड़ा मैदान हो लाखों कोस का और रात को उसका अंत लिया चाहो तो सौ दो सौ दीपक जलाओगे। पर क्या उनसे उसका छोर देख लोगे ? केवल जहाँ दीप ज्योति है वहीं तक देख सकोगे फिर आगे अंधकार ही तो है ? ऐसे ही हमारी, हमारे अगणित ऋषियों की सबकी बुद्धि जिसका ठीक हाल नहीं प्रकाश कर सकती उसे अप्रकाशवत् न मानें तो क्या मानें ? रामचंद्र, कृष्णचंद्रादि को यदि अँगरेज़ी ज़मानेवाले ईश्वर न मानें तो भी यह मानना पड़ेगा कि हमारी अपेक्षा ईश्वर से और उनसे अधिक संबंध था। फिर हम क्यों न कहें कि यदि ईश्वर का अस्तित्व है तो इसी रंग ढंग का है।

अब आकारों पर ध्यान दीजिये। अधिकतर शिवमूर्ति लिंगाकार होती हैं जिसमें हाथ, पाँव, मुख कुछ नहीं होते। सब मूर्तिपूजक कह देंगे कि 'हम तो साक्षात् ईश्वर नहीं मानते न उसकी यथातथ्य प्रतिकृति मानें। केवल ईश्वर की सेवा के लिये एक संकेत चिह्न मानते हैं।' यह बात आदि में शैवों ही के घर से निकली है, क्योंकि लिंग शब्द का अर्थ ही चिह्न है।

सच भी यही है जो वस्तु बाह्य नेत्रों से नहीं देखी जाती उसकी ठीक ठीक मूर्ति क्या ? आनंद की कैसी मूर्ति ? दुःख की कैसी मूर्ति ? केवल चित्तवृत्ति। केवल उसके गुणों का कुछ द्योतन !! बस ! ठीक शिव-मूर्ति यही है। सृष्टि कर्तृत्व, अचिन्त्यत्व अप्रतिमत्व कई एक बातें लिंगाकार मूर्ति से ज्ञात होती हैं। ईश्वर यावत् संसार का उत्पादक है। ईश्वर कैसा है, यह बात पूर्णरूप से कोई वर्णन नहीं कर सकता। अर्थात् उसकी सभी बातें गोल हैं बस जब सभी बातें गोल हैं तो चिह्न भी हमने गोल मोल कल्पना कर लिया। यदि 'न तस्य प्रतिमास्ति' का ठीक अर्थ यही है कि ईश्वर की प्रतिमा नहीं है तो इसकी ठीक सिद्धि

ज्योतिर्लिंग ही से होगी, क्योंकि जिसमें हाथ, पाँव, मुख, नेत्रादि कुछ भी नहीं हैं उसे प्रतिमा कौन कह सकता है? पर यदि कोई मोटी बुद्धिवाला कहे कि जो कोई अवयव ही नहीं तो फिर यही क्यों नहीं कहते कि कुछ नहीं है। हम उत्तर दे सकते हैं कि आँखें हों तो धर्म से कह सकते हो कि कुछ नहीं है? तात्पर्य यह कि कुछ है, और कुछ नहीं है। दोनों बातें ईश्वर के विषय में न कही जा सकें, न नहीं कही जा सकें, और हाँ कहना भी ठीक है। एवं नहीं कहना भी ठीक है। इसी भाँति शिवलिंग भी समझ लीजिये। वह निरवयव है, पर मूर्ति है। वास्तव में यह विषय ऐसा है कि मन, बुद्धि और वाणी से जितना सोचा, समझा और कहा जाय उतना ही बढ़ता जायगा। और हम जन्म भर बका करेंगे, पर आपको यही जान पड़ेगा कि अभी श्रीगणेशाय नमः हुआ है !!! ×

इसीसे महात्मा लोग कह गए हैं कि ईश्वर को वाद में न ढूँढ़ो पर विश्वास में। इसलिये हम भी योग्य समझते हैं कि साव-यव (हाथ, पाँव इत्यादि वाली) मूर्तियों के वर्णन की ओर झुकें। जानना चाहिये कि जो जैसा होता है उसकी कल्पना भी वैसी ही होती है। यह संसार का जातीय धर्म है कि जो वस्तु हमारे आसपास है उन्हीं पर हमारी बुद्धि दौड़ती है। फ़ारस, अरब और इंग्लिश देश के कवि जब संसार की अनित्यता वर्णन करेंगे तो क़बरिस्तान का नक़शा खींचेंगे, क्योंकि उनके यहाँ स्मशान होते ही नहीं हैं। वे यह न कहें तो क्या कहें कि बड़े-बड़े बाद-शाह ख़ाक में दबे हुए सोते हैं। यदि क़बर का तख़्ता उठाकर देखा जाय तो शायद दो चार हड्डियाँ निकलेंगी जिन पर यह नहीं लिखा कि यह सिकंदर की हड्डी है, यह दारा की। इत्यादि। हमारे यहाँ उक्त विषय में स्मशान का वर्णन होगा, क्योंकि अन्य धर्मियों के आने से पहले यहाँ क़ब्रों की चाल ही न थी।

योरप में ख़ूबसूरती के बयान में अलकावली का रंग काला कभी न कहेंगे। यहाँ ताम्रवर्ण सौंदर्य का रंग न समझा जायगा। ऐसे ही सब बातों में समझ लीजिये तब समझ में आ जायगा कि ईश्वर के विषय में बुद्धि दौड़ानेवाले सब कहीं सब काल में मनुष्य ही हैं। अतएव उसके स्वरूप की कल्पना मनुष्य ही के स्वरूप की सी सब ठौर की गई है। इंजील और क़ुरान में भी कहीं कहीं खुदा का दाहिना हाथ बायाँ हाथ इत्यादि वर्णित है, वरंच यह खुला हुआ लिखा है कि उसने आदम को अपने स्वरूप में बनाया। चाहे जैसी उलट-फेर की बातें कही जायँ पर इसका यह भाव कहीं न जायगा कि ईश्वर यदि सावयव है, तो उसका भी रूप हमारे ही रूप का सा होगा। हो चाहे जैसा पर हम यदि ईश्वर को अपना आत्मीय मानेंगे तो अवश्य ऐसा ही मान सकते हैं, जैसों से हमारा प्रत्यक्ष संबंध है। हमारे माता, पिता, भाई-बंधु, राजा, गुरु जिनको हम प्रतिष्ठा का आधार एवं आधेय कहते हैं उन सबके हाथ, पाँव, नाक, मुँह हमारे हस्तपादादि से निकले हुए हैं, तो हमारे प्रेम और प्रतिष्ठा का सर्वोत्कृष्ट संबंधी कैसा होगा। बस, इसी मत पर सावयव सब मूर्ति मनुष्य की सी मूर्ति बनाई जाती है। विष्णुदेव की सुंदर-सौम्य मूर्तियाँ प्रेमोत्पादनार्थ हैं क्योंकि खूबसूरती पर चित्त अधिक आकर्षित होता है। भैरवादि की मूर्तियाँ भयानक हैं जिसका यह भाव है कि हमारा प्रभु हमारे शत्रुओं के लिये भय-जनक है। अथच हम उनकी मंगलमयी सृष्टि में हलचल डालेंगे तो वह कभी उपेक्षा न करेगा। उसका स्वभाव क्रोधी है। पर शिव-मूर्ति में कई एक विशेषतायें हैं। उनके द्वारा हम यह उपकार यथामति ग्रहण कर सकते हैं।

शिर पर गंगा का चिह्न होने से यह भाव है कि गंगा हमारे देश की सांसारिक और पारमार्थिक सर्वस्व हैं और भगवान् सदाशिव विश्वव्यापी हैं। अतः विश्वव्यापी की मूर्ति कल्पना में जगत् वा सर्वोपरि पदार्थ ही शिरस्थानी कहा जा सकता है। दूसरा अर्थ यह है कि पुराणों में गंगा की विष्णु के चरण से उत्पत्ति मानी गई है और शिवजी को परम वैष्णव कहा है। उस परम वैष्णवता की पुष्टि इससे उत्तम और क्या हो सकती है कि उनके चरण निर्गत जल को शिर पर धारण करें। ऐसे विष्णु भगवान् को परम शैव लिखा है कि विष्णु भगवान् नित्य सहस्र कमल पुष्पों से सदाशिव की पूजा करते थे। एक दिन एक कमल घट गया तो उन्होंने यह विचार करके कि हमारा नाम कमल-नयन है अपना नेत्र-कमल शिवजी के चरण-कमल को अर्पण कर दिया। सच है अधिक शैवता क्या हो सकती है! हमारे शास्त्रार्थी भाई ऐसे वर्णन पर अनेक कुतर्क कर सकते हैं। पर उनका उत्तर हम कभी पुराण-प्रतिपादन से देंगे। इस अवसर पर हम इतना ही कहेंगे कि ऐसे ऐसे संदेह बिना कविता पढ़े कभी नहीं दूर होने के। हाँ, इतना हम कह सकते हैं कि भगवान् विष्णु की शैवता और भगवान् शिव की वैष्णवता का आलंकारिक वर्णन है। वास्तव में विष्णु अर्थात् व्यापक और शिव अर्थात् कल्याणमय ये दोनों एक ही प्रेम स्वरूप के नाम हैं। पर उसका वर्णन पूर्णतया असंभव है। अतः कुछ कुछ गुण एकत्र करके दो स्वरूप कल्पना कर लिए गए हैं जिसमें कवियों को वचन शक्ति के लिये आधार मिले। ×

हमारा मुख्य विषय शिवमूर्ति है और वह विशेषतः शैवों के धर्म्म का आधार है। अतः इन अप्रतर्क्य विषयों को दिग्दर्शन-मात्र कथन करके अपने शैव भाइयों से पूछते हैं कि आप भगवान्

गंगाधर के पूजक होके वैष्णवों से किस बिरते पर द्वेष रख सकते हैं ? यदि धर्म से अधिक मतवालेपन पर श्रद्धा हो तो अपने प्रेमाधार भगवान् भोलानाथ को परम वैष्णव एवं गंगाधर कहना छोड़ दीजिये ! नहीं तो सच्चा शैव वही हो सकता है जो वैष्णव-मात्र को अपना देवता समझे। इसी भाँति यह भी समझना चाहिये कि गंगाजी परम शक्ति हैं। इससे शैवों को शाक्तों के साथ भी विरोध अयोग्य है। हमारी समझ में तो आस्तिक-मात्र को किसी से द्वेष-बुद्धि रखना पाप है, क्योंकि सब हमारे जगदीश ही की प्रजा हैं, सब हमारे खुदा ही के बंदे हैं। इस नाते सभी हमारे आत्मीय बन्धु हैं पर शैव समाज का वैष्णवों और शाक्त लोगों से विशेष संबंध ठहरा। अतः इन्हें तो महामैत्री से परस्पर रहना चाहिये। शिवमूर्ति में अकेली गंगा कितना हित कर सकती हैं इससे जितने बुद्धिमान् जितना विचारें उतना ही अधिक उपदेश प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये हम इस विषय को अपने पाठकों के विचार पर छोड़ आगे बढ़ते हैं।

बहुत मूर्तियों के पाँच मुख होते हैं जिससे हमारी समझ में यह आता है कि यावत् संसार और परमार्थ का तत्व तो चार वेदों में आपको मिल जायगा, पर यह न समझियेगा कि उनका दर्शन भी वेद-विद्या ही से प्राप्त है। जो कुछ चार वेद सिखलाते हैं उससे भी उनका रूप, उनका गुण अधिक है। वेद उनकी वाणी है। केवल चार पुस्तकों पर ही उस वाणी की इति नहीं है। एक मुख और है जिसकी प्रेममयी वाणी केवल प्रेमियों के सुनने में आती है। केवल विद्याभिमानी अधिकाधिक चार वेदों-द्वारा बड़ी हद तक चार फल (धर्म्मार्थ, काम, मोक्ष) पा जायँगे, पर उनके पंचम मुख संबंधी सुख औरों के लिये है।

शिवमूर्ति क्या है और कैसी है यह बात तो बड़े बड़े ऋषि मुनि नहीं कह सकते हम क्या हैं। पर, जहाँ तक साधारणतया बहुत सी मूर्तियाँ देखने में आई हैं उनका कुछ वर्णन हमने यथामति किया, यद्यपि कोई बड़े बुद्धिमान् इस विषय में लिखते तो बहुत सी उत्तमोत्तम बातें और भी लिखते, पर इतने लिखने से भी हमें निश्चय है किसी न किसी भाई का कुछ भला हो ही रहेगा। मरने के बाद कैलाश-वास तो विश्वास की बात है। हमने न कैलाश देखा है न किसी देखनेवाले से वार्तालाप अथवा पत्र-व्यवहार किया है। हाँ, यदि होता होगा तो प्रत्येक मूर्ति के पूजक को ही रहेगा। पर हमारी इस अक्षरमयी मूर्ति के सच्चे सेवकों को संसार ही में कैलाश का सुख प्राप्त होगा इसमें संदेह नहीं है, क्योंकि जहाँ शिव हैं वहाँ कैलाश है। तो जब हमारे हृदय में शिव होंगे तो हमारा हृदय-मंदिर क्यों न कैलाश होगा? हे विश्वनाथ! हमारे हृदय-मंदिर को कभी कैलाश बनाओगे? कभी वह दिन दिखाओगे कि भारतवासी-मात्र केवल तुम्हारे हो जायँ और यह पवित्रभूमि फिर कैलाश हो जाय? जिस प्रकार अन्य धातु-पाषाणादि-निर्मित मूर्तियों का, रामनाथ, वैद्यनाथ, आनंदेश्वर, खेरेश्वर आदि नाम होता है वैसे इस अक्षरमयी शिवमूर्ति के अगणित नाम हैं। हृदयेश्वर, मंगलेश्वर भारतेश्वर इत्यादि, पर मुख्य नाम प्रेमेश्वर है। कोई महाशय प्रेम का ईश्वर न समझें। मुख्य अर्थ है कि प्रेममय ईश्वर। इनका दर्शन भी प्रेम-चक्षु के बिना दुर्लभ है। जब अपनी अकर्मण्यता का और उनके एक एक उपकार का सच्चा ध्यान जमेगा तब अवश्य हृदय उमड़ेगा और नेत्रों से अश्रुधारा बह चलेगी। उस धारा का नाम प्रेमगंगा है। उसीके जल से स्नान कराने का माहात्म्य है। हृदय-कमल उनके चरणों पर चढ़ाने से अक्षय पुण्य है। यह

तो इस मूर्ति की पूजा है जो प्रेम के बिना नहीं हो सकती। पर यह भी स्मरण रखिये कि यदि आपके हृदय में प्रेम है तो संसार भर के मूर्तिमान् और अमूर्तिमान् सब पदार्थ शिवमूर्ति हैं, अर्थात् कल्याण के रूप हैं। नहीं तो सोने और हीरे की मूर्ति तुच्छ है। यदि उससे स्त्री का गहना बनवाते तो उसकी शोभा होती, तुम्हें सुख होता, भैयाचारे में नाम होता, विपत्ति-काल में निर्वाह होता। पर मूर्ति से कोई बात सिद्ध नहीं हो सकती। पाषाण, धातु, मृत्तिका का कहना ही क्या है? स्वयं तुच्छ पदार्थ है, केवल प्रेम ही के नाते ईश्वर है, नहीं तो घर की चक्की से भी गए बीते पानी पीने के भी काम के नहीं, यही नहीं प्रेम के बिना ध्यान ही में क्या ईश्वर दिखाई देगा? जब चाहो आँखें मूँद कर अंधे की नक़ल कर देखो। अंधकार के सिवाय कुछ न सूझेगा। वेद पढ़ने में हाथ, मुख दोनों दुखेंगे। अधिक श्रम करोगे, दिमाग़ में गर्मी चढ़ जायगी। ख़ैर, इन बातों के बढ़ाने से क्या है? जहाँ तक सहृदयता से विचार कीजियेगा वहाँ तक यही सिद्ध होगा कि प्रेम के बिना वेद झगड़े की जड़, धर्म बे सिर पैर के काम, स्वर्ग शेख़चिल्ली का महल, मुक्ति प्रेत की बहन है। ईश्वर का तो पता ही लगना कठिन है। ब्रह्म शब्द ही नपुंसक है। और हृदयमंदिर में प्रेम का प्रकाश है तो संसार शिवमय है क्योंकि प्रेम ही वास्तविक शिवमूर्ति अर्थात् कल्याण का रूप है।

आत्मनिर्भरता

आत्मनिर्भरता (अपने भरोसे पर रहना) ऐसा श्रेष्ठ गुण है कि जिसके न होने से पुरुष में पौरुषेयत्व का अभाव कहना अनुचित नहीं मालूम होता। जिनको अपने भरोसे का बल है, वे जहाँ होंगे, जल में तूँबी के समान सबके ऊपर रहेंगे। ऐसों ही के चरित्र पर लक्ष्य कर महाकवि भारवि ने कहा है कि तेज और प्रताप से संसार-भर को अपने नीचे करते हुए ऊँची उमंगवाले दूसरे के द्वारा अपना वैभव नहीं बढ़ाना चाहते। शारीरिक बल, चतुरंगिणी सेना का बल, प्रभुता का बल, ऊँचे कुल में पैदा होने का बल, मित्रता का बल, मंत्र-तंत्र का बल इत्यादि जितने बल हैं, निज बाहु-बल के आगे सब क्षीणबल हैं, वरन् आत्मनिर्भरता की बुनियाद यानी यह बाहु-बल सब तरह के बल को सहारा देनेवाला और उभारनेवाला है।

योरप के देशों की जो इतनी उन्नति है, तथा अमेरिका, जापान आदि जो इस समय मनुष्य-जाति के सिरताज हो रहे हैं, इसका यही कारण है कि उन देशों में लोग अपने भरोसे पर रहना या कोई काम करना अच्छी तरह जानते हैं। हिंदुस्तान का जो सत्यानाश है, इसका यही कारण है कि यहाँ के लोग अपने भरोसे पर रहना भूल ही गए। इसी से सेवकाई करना यहाँ के लोगों से जैसी ख़ूबसूरती के साथ बन पड़ता है, वैसा स्वामित्व नहीं। अपने भरोसे पर रहना जब हमारा गुण नहीं, तब क्योंकर संभव है कि हमारे में प्रभुत्व-शक्ति को अवकाश मिले।

निरी क़िस्मत और भाग्य पर वे ही लोग रहते हैं, जो आलसी हैं। किसी ने अच्छा कहा है—

"दैव-दैव आलसी पुकारा"।

ईश्वर भी सानुकूल और सहायक उन्हीं का होता है, जो अपनी सहायता अपने आप कर सकते हैं। अपने आप अपनी सहायता करने की वासना आदमी में सच्ची तरक्क़ी की बुनियाद है। अनेक सुप्रसिद्ध सत्पुरुषों की जीवनियाँ इसके उदाहरण तो हैं ही, वरन् प्रत्येक देश या जाति के लोगों में बल और ओज तथा गौरव और महत्त्व के आने का आत्मनिर्भरता सच्चा द्वार है। बहुधा देखने में आता है कि किसी काम के करने में बाहरी सहायता इतना लाभ नहीं पहुँचा सकती, जितनी आत्मनिर्भरता।

समाज के बंधन में भी देखिये, तो बहुत तरह के संशोधन सरकारी क़ानूनों के द्वारा वैसे नहीं हो सकते, जैसे समाज के एक-एक मनुष्य के अलग-अलग अपने संशोधन अपने आप करने से हो सकते हैं।

कड़े-से-कड़े क़ानून आलसी समाज को परिश्रमी, अपव्ययी या फ़िज़ूलख़र्च को किफ़ायतशार या परिमित व्यय-शील, शराबी को परहेज़गार, क्रोधी को शांत या सहन-शील, सूम को उदार, लोभी को संतोषी, मूर्ख को विद्वान्, दर्पांध को नम्र, दुराचारी को सदाचारी, कदर्य को उन्नतमना, दरिद्र भिखारी को आढ्य, भीरु-डरपोक को वीर-धुरीण, झूठे गपोड़िये को सच्चा, चोर को सहनशील, व्यभिचारी को एक-पत्नी-व्रतधारी इत्यादि नहीं बना सकता; किंतु ये सब बातें हम अपने ही प्रयत्न और चेष्टा से अपने में ला सकते हैं।

सच पूछो, तो जाति या क़ौम भी सुधरे हुए ऐसे ही एक-एक व्यक्ति की समष्टि है। समाज या जाति का एक-एक आदमी यदि अलग-अलग अपने को सुधारे, तो जाति-की-जाति या समाज-का-समाज सुधर जाय।

सभ्यता और है क्या? यही कि सभ्य जाति के एक-एक

मनुष्य आबाल, वृद्ध, वनिता सबों में सभ्यता के सब लक्षण पाए जायँ। जिसमें आधे या तिहाई सभ्य हैं, वही जाति अर्द्ध-शिक्षित कहलाती है। क़ौमी तरक्की भी अलग-अलग एक-एक आदमी के परिश्रम, योग्यता-सुचाल और सौजन्य का मानो टोटल है। उसी तरह क़ौम की तनज़्ज़ुली क़ौम के एक-एक आदमी की सुस्ती, कमीनापन, नीची प्रकृति, स्वार्थ-परता और भाँति-भाँति की बुराइयों का ग्रैंड टोटल है। इन्हीं गुणों और अवगुणों को जाति-धर्म के नाम से भी पुकारते हैं, जैसे सिक्खों में वीरता और जंगली असभ्य जातियों में लुटेरापन।

जातीय गुणों या अवगुणों को गवर्नमेंट क़ानून के द्वारा रोक या जड़-पेड़ से नेस्तनाबूद नहीं कर सकती, वे किसी दूसरी शक्ल में न सिर्फ़ फिर से उभड़ आवेंगे वरन् पहले से ज़्यादा तरो-ताज़गी और सरसब्ज़ी की हालत में हो जायँगे। जब तक किसी जाति के हर एक व्यक्ति के चरित्र में आदि से मौलिक सुधार न किया जाय, तब तक अव्वल दर्जे का देशानुराग और सर्व-साधारण के हित की वांछा सिर्फ़ क़ानून के अदलने-बदलने से या नए क़ानून के जारी करने से नहीं पैदा हो सकती।

ज़ालिम-से-ज़ालिम बादशाह की हुकूमत में रहकर कोई क़ौम गुलाम नहीं कही जा सकती, वरन् गुलाम वही क़ौम है, जिसमें एक-एक व्यक्ति सब भाँति कदर्य, स्वार्थ-परायण और जातीयता के भाव से रहित है। ऐसी क़ौम, जिसकी नस नस में दास्य-भाव समाया हुआ है, कभी तरक्की नहीं करेगी, चाहे कैसे ही उदार शासन से वह शासित क्यों न की जाय, तो निश्चय हुआ कि देश की स्वतंत्रता की गहरी और मज़बूत नींव उस देश के एक-एक आदमी के आत्मनिर्भरता आदि गुणों पर स्थित है।

ऊँचे-से-ऊँचे दर्जे की तालीम बिलकुल बेफ़ायदा है, यदि हम

अपने ही सहारे अपनी बेहतरी न कर सकें। जॉन स्टुअर्ट मिल का सिद्धांत है कि—"राजा का भयानक-से-भयानक अत्याचार देश पर कभी कोई बुरा असर नहीं पैदा कर सकता, जब तक उस देश के एक-एक व्यक्ति में अपने सुधार की अटल वासना दृढ़ता के साथ बद्धमूल है!"

पुराने लोगों से जो चूक और ग़लती बन पड़ी है, उसी का नतीजा वर्तमान समय में हम लोग भुगत रहे हैं। उसी को चाहे जिस नाम से पुकारिये यथा जातीयता का भाव जाता रहा, एका नहीं है, आपस की हमदर्दी नहीं है इत्यादि। तब पुराने क्रम को अच्छा मानना और उस पर श्रद्धा जमाए रखना हम क्योंकर अपने लिये उपकारी और उत्तम मानें। हम तो इसे निरी चंडूख़ाने की गप समझते हैं कि हमारा धर्म हमें आगे नहीं बढ़ने देता अथवा विदेशी राज से शासित हैं इसी से हम तरक्क़ी नहीं कर सकते।

वास्तव में सच पूछो तो आत्मनिर्भरता अर्थात् अपनी सहायता अपने आप करने का भाव हमारे बीच है ही नहीं। यह सब हमारी वर्तमान दुर्गति उसी का परिणाम है; बुद्धिमानों का अनुभव हमें यही कहता है कि मनुष्य में पूर्णता विद्या से नहीं वरन् काम से होती है। प्रसिद्ध पुरुषों की जीवनियों के पढ़ने ही से नहीं, वरन् उन प्रसिद्ध पुरुषार्थी पुरुषों के चरित्रों का अनुकरण करने से मनुष्य में पूर्णता आती है।

योरप की सभ्यता, जो आज-कल हमारे लिये प्रत्येक उन्नति की बातों में उदाहरण-स्वरूप मानी जाती है, एक दिन या एक आदमी के काम का परिणाम नहीं है। जब कई पुश्त तक देश-का-देश ऊँचे काम, ऊँचे ख़याल और ऊँची वासनाओं की ओर प्रबल-चित्त रहा, तब वे इस अवस्था को पहुँचे हैं। वहाँ के हर एक

फ़िरक़े, जाति या वर्ण के लोग धैर्य के साथ धुन बाँध के बराबर अपनी-अपनी तरक़्क़ी में लगे हैं। नीचे-से-नीचे दर्जे के मनुष्य—किसान, कुली, कारीगर आदि—और ऊँचे-से-ऊँचे दर्जे वाले—कवि, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ सबों ने मिलकर क़ौमी तरक़्क़ी को इस दर्जे तक पहुँचाया है। एक ने एक बात को आरंभ कर उसका ढाँचा खड़ा कर दिया, दूसरे ने उसी ढाँचे पर साबित-क़दम रहकर एक दर्जा और बढ़ाया; इसी तरह क्रम-क्रम से कई पीढ़ी के उपरांत वह बात जिसका केवल ढाँचा-मात्र पड़ा था, पूर्णता और सिद्धि की अवस्था तक पहुँच गई।

ये अनेक शिल्प और विज्ञान, जिनकी दुनिया-भर में धूम मची है, इसी तरह शुरू किए गए थे और ढाँचा छोड़नेवाले पूर्व पुरुष अपनी भाग्यवान् भावी संतान को उस शिल्प-कौशल और विज्ञान की बड़ी भारी मीरास या बपौती का उत्तराधिकारी बना गए थे।

आत्मनिर्भरता के संबंध में जो शिक्षा हमें खेतिहर, दूकान-दार, बढ़ई, लोहार आदि कारीगरों से मिलती है, उसके मुक़ाबले में स्कूल और कालेजों की शिक्षा कुछ नहीं है; और यह शिक्षा हमें पुस्तकों या किताबों से नहीं मिलती, वरन् एक-एक मनुष्य के चरित्र, आत्म-दमन, दृढ़ता, धैर्य, परिश्रम, स्थिर अध्यवसाय पर दृष्टि रखने से मिलती है, इन सब गुणों से हमारे जीवन की सफलता है। ये गुण मनुष्य-जाति की उन्नति का छोर हैं और हमें जन्म में क्या करना चाहिये, इसका सारांश हैं।

बहुतेरे सत्पुरुषों के जीवन-चरित्र धर्म-ग्रंथों के समान हैं, जिनके पढ़ने से हमें कुछ-न-कुछ उपदेश ज़रूर मिलता है। बड़-प्पन किसी जाति-विशेष या ख़ास दर्जे के आदमियों के हिस्से में नहीं पड़ा। जो कोई बड़ा काम करे या जिससे सर्वसाधारण

का उपकार हो, वही बड़े लोगों की कोटि में आ सकता है। वह चाहे ग़रीब-से-ग़रीब या छोटे-से-छोटे दर्जे का क्यों न हो, बड़े-से-बड़ा है। वह मनुष्य के तन में साक्षात् देवता है।

हमारे यहाँ अवतार ऐसे ही लोग हो गए हैं। सबेरे उठ जिनका नाम ले लेने से दिन भर के लिये मंगल की गारंटी समझी जाती है, ऐसे महामहिमशाली जिस कुल में जन्मते हैं, वह कुल उजागर और पुनीत हो जाता है। ऐसों ही की जननी वीरप्रसू कही जाती है। पुरुष-सिंह ऐसा एक पुत्र अच्छा, गीदड़ों की ख़ासियतवाले सौ पुत्र भी किस काम के!

कवि और कविता

यह बात सिद्ध समझी गई है कि कविता अभ्यास से नहीं आती। जिसमें कविता करने का स्वाभाविक माद्दा होता है वही कविता कर सकता है। देखा गया है कि जिस विषय पर बड़े बड़े विद्वान् अच्छी कविता नहीं कर सकते उसी पर अपढ़ और कम उम्र के लड़के कभी कभी अच्छी कविता लिख देते हैं। इससे स्पष्ट है कि किसी किसी में कविता लिखने की इस्तेदाद स्वाभाविक होती है, ईश्वरदत्त होती है। जो चीज़ ईश्वरदत्त है वह अवश्य लाभदायक होगी। वह निरर्थक नहीं हो सकती। उससे समाज को अवश्य कुछ न कुछ लाभ पहुँचता है।

कविता यदि यथार्थ में कविता है तो संभव नहीं कि उसे सुन कर ननेवाले पर कुछ सुअसर न हो। कविता से दुनिया में आज तक बहुत बड़े बड़े काम हुए हैं। अच्छी कविता सुन

कर कविता गत रस के अनुसार, दुःख, शोक, क्रोध, करुणा, जोश आदि के भाव पैदा हुए बिना नहीं रहते और जैसा भाव मन में पैदा होता है, कार्य के रूप में फल भी वैसा ही होता है। हम लोगों में, पुराने ज़माने में भाट, चारण आदि अपनी कविता ही की बदौलत वीरों में वीरता का संचार कर देते थे। पुराणादि में कारुणिक प्रसंगों का वर्णन सुनने और उत्तररामचरित आदि दृश्य काव्यों का अभिनय देखने से जो अश्रुपात होने लगता है वह क्या है ? वह अच्छी कविता ही का प्रभाव है।

रोम, इंगलैंड, अरब, फ़ारस आदि देशों में इस बात के सैकड़ों उदाहरण मौजूद हैं कि कवियों ने असंभव बातें संभव कर दिखाई हैं। जहाँ पस्तहिम्मती का दौरदौरा था वहाँ ग़दर मचा दिया है। अतएव कविता एक असाधारण चीज़ है परन्तु विरले ही को सत्कवि होने का सौभाग्य प्राप्त होता है। जब तक ज्ञान-वृद्धि नहीं होती, जब तक सभ्यता का ज़माना नहीं आता, तभी तक कविता में परस्पर विरोध है। सभ्यता और विद्या की वृद्धि होने से कविता का असर कम हो जाता है।

कविता में कुछ न कुछ झूठ का अंश ज़रूर रहता है। असभ्य अथवा अर्द्धसभ्य लोगों को यह अंश कम खटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगों को बहुत। तुलसीदास की रामायण के ख़ास ख़ास स्थलों का स्त्रियों पर जितना प्रभाव पड़ता है, उतना पढ़े-लिखे आदमियों पर नहीं। पुराने काव्यों को पढ़ने से लोगों का चित्त जितना पहले आकृष्ट होता था उतना अब नहीं होता। हज़ारों वर्षों से कविता का क्रम जारी है। जिन प्राकृतिक बातों का वर्णन बहुत कुछ अब तक हो चुका है, जो नए कवि होते हैं वे भी उलट-फेर से प्रायः उन्हीं बातों का वर्णन करते हैं। इसी से अब कविता कम हृदय-ग्राहिणी होती है।

संसार में जो बात जैसी देख पड़े, कवि को उसे वैसी ही वर्णन करनी चाहिये। उसके लिये किसी तरह की रोक या पाबन्दी का होना अच्छा नहीं। दबाव से कवि का जोश दब जाता है। उसके मन में जो भाव आप ही आप पैदा होते हैं उन्हें जब वह निडर होकर अपनी कविता में प्रकट करता है तभी उसका पूरा पूरा असर लोगों पर पड़ता है। बनावट से कविता बिगड़ जाती है। किसी राजा या किसी व्यक्ति-विशेष के गुण-दोषों को देखकर कवि के मन में जो भाव उद्भूत हों उन्हें यदि वह बेरोक-टोक प्रकट कर दे तो उसकी कविता हृदय-द्रावक हुए बिना न रहे, परन्तु परतंत्रता या पुरस्कार-प्राप्ति या और किसी तरह की रुकावट के पैदा हो जाने से, यदि उसे अपने मन की बात कहने का साहस नहीं होता तो कविता का रस ज़रूर कम हो जाता है। इस दशा में अच्छे कवियों की भी कविता नीरस, अतएव प्रभावहीन हो जाती है।

सामाजिक और राजनैतिक विषयों में कटु होने से सच कहना भी जहाँ मना है वहाँ इन विषयों पर कविता करनेवाले कवियों की उक्तियों का प्रभाव क्षीण हुए बिना नहीं रहता। कवि के लिये कोई रोक न होनी चाहिये। अथवा जिस विषय में रोक हो उस विषय पर कविता ही न लिखनी चाहिये। नदी, तालाब, वन, पर्वत, फूल, पत्ती, गरमी, सरदी आदि ही के वर्णन से उसे संतोष करना उचित है।

ख़ुशामद के ज़माने में कविता की बुरी हालत होती है, जो कवि राजाओं, नवाबों या बादशाहों के आश्रय में रहते हैं, अथवा उनको ख़ुश करने के इरादे से कविता करते हैं, उनको ख़ुशामद करनी पड़ती है, वे अपने आश्रयदाताओं की इतनी प्रशंसा करते हैं, इतनी स्तुति करते हैं कि उनकी उक्तियाँ असलियत से दूर जा पड़ती हैं। इससे कविता को बहुत हानि पहुँचती है। विशेष

करके शिक्षित और सभ्य देशों में कवि का काम प्रभावोत्पादक रीति से यथार्थ घटनाओं का वर्णन करना है, आकाश-कुसुमों के गुलदस्ते तैयार करना नहीं। अलंकारशास्त्र के आचार्य्यों ने अतिशयोक्ति एक अलंकार ज़रूर माना है, परंतु अभावोक्तियाँ भी क्या कोई अलंकार है? किसी कवि की बेसिर-पैर की बातें सुनकर किस समझदार आदमी को आनंद प्राप्त हो सकता है? जिस समाज के लोग अपनी झूठी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होते हैं वह समाज प्रशंसनीय नहीं समझा जाता।

कारणवश अमीरों की प्रशंसा करने, अथवा किसी एक ही विषय की कविता में कवि-समुदाय के आजन्म लगे रहने से, कविता की सीमा कट-छँटकर बहुत थोड़ी रह जाती है। इस तरह की कविता उर्दू में बहुत अधिक है। यदि यह कहें कि आशिकाना (शृंगारिक) कविता के सिवा और तरह की कविता उर्दू में है ही नहीं, तो बहुत बड़ी अत्युक्ति न होगी। किसी दीवान को उठाइये, आशिक-माशूकों के रंगीन रहस्यों से आप उसे आरंभ से अंत तक रँगा हुआ पाइयेगा।

इश्क भी यदि सच्चा हो तो कविता में कुछ असलियत आ सकती है, पर क्या कोई कह सकता है कि आशिकाना शेर कहनेवालों का सारा रोना, कराहना, ठंढी साँसें लेना, जीते ही अपनी क़ब्रों पर चिराग़ जलाना सब सच है? सब न सही, उनके प्रलापों का क्या थोड़ा सा भी अंश सच है? फिर क्यों इस तरह की कविता सैकड़ों वर्ष से होती आ रही है। अनेक कवि हो चुके हैं जिन्होंने इस विषय पर न मालूम क्या क्या लिख डाला है। इस दशा में नए कवि अपनी कविता में नयापन कैसे ला सकते हैं? वही तुक, वही छंद, वही शब्द, वही उपमा, वही रूपक! इसपर भी लोग पुरानी ही लकीर को बराबर पीटते जाते हैं।

कवित्त, सवैये, घनाक्षरी, दोहे, सोरठे लिखने से बाज़ नहीं आते। नख-शिख, नायिका-भेद, अलंकारशास्त्र पर पुस्तकों पर पुस्तकें लिखते चले जाते हैं। अपनी व्यर्थ की बनावटी बातों से देवी-देवताओं तक को बदनाम करने से नहीं सकुचाते। फल इसका यह हुआ है कि असलियत काफ़ूर हो गई है।

कविता के बिगड़ने और उसकी सीमा के परिमित हो जाने से साहित्य पर भारी आघात होता है। वह बरबाद हो जाता है। भाषा में दोष आ जाता है। जब कविता की प्रणाली बिगड़ जाती है तब उसका असर सारे ग्रंथकारों पर पड़ता है। यही क्यों, सर्वसाधारण की बोल-चाल तक में कविता के दोष आ जाते हैं। जिन शब्दों, जिन भावों, जिन उक्तियों का प्रयोग कवि करते हैं उन्हीं का प्रयोग और लोग भी करने लगते हैं। भाषा और बोल-चाल के संबंध में कवि ही प्रमाण माने जाते हैं। कवियों ही के प्रयुक्त शब्दों और मुहावरों को कोषकार अपने कोषों में रखते हैं। मतलब यह कि भाषा और बोलचाल का बनाना या बिगाड़ना प्रायः कवियों ही के हाथ में रहता है। जिस भाषा के कवि अपनी कविता में बुरे शब्द और बुरे भाव भरते रहते हैं उस भाषा की उन्नति तो होती ही नहीं उलटा अवनति होती जाती है।

कविता-प्रणाली के बिगड़ जाने पर यदि कोई नए तरह की स्वाभाविक कविता करने लगता है तो लोग उसकी निंदा करते हैं। कुछ नासमझ और नादान आदमी कहते हैं कि यह बड़ी भद्दी कविता है। कुछ कहते हैं कि यह कविता ही नहीं। कुछ कहते हैं कि यह कविता तो "छंदप्रभाकर" में दिए गए लक्षणों से च्युत है, अतएव यह निर्दोष नहीं। बात यह है कि वे जिसे अब तक कविता कहते आए हैं वही उनकी समझ में कविता है और सब कोरी काँव काँव?

इसी तरह की नुक़ता-चीनी से तंग आकर अँगरेज़ी के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ ने अपनी कविता को संबोधन करके उसकी सांत्वना की है। वह कहता है—"कविते! यह बेक़दरी का ज़माना है। लोगों के चित्त का तेरी तरफ़ खिंचना तो दूर रहा, उलटा सब कहीं तेरी निंदा होती है। तेरी बदौलत सभा-समाजों और जलसों में मुझे लज्जित होना पड़ता है, पर जब मैं अकेला होता हूँ तब तुझपर मैं घमंड करता हूँ। याद रख, तेरी उत्पत्ति स्वाभाविक है जो लोग अपने प्राकृतिक बल पर भरोसा रखते हैं वे निर्धन होकर भी आनंद से रह सकते हैं, पर अप्राकृतिक बल पर किया गया गर्व कुछ दिन बाद ज़रूर चूर्ण हो जाता है।" गोल्डस्मिथ ने इस विषय पर बहुत कुछ कहा है। इससे प्रकट है कि नई कविता-प्रणाली पर भृकुटी टेढ़ी करनेवाले कवि-प्रकांडों के कहने की कुछ भी परवा न करके अपने स्वीकृत पथ से ज़रा भी इधर-उधर होना उचित नहीं।

आज-कल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज़ समझ रक्खा है। यह भ्रम है। कविता और पद्य में वह भेद है जो 'पोइट्री' (Poetry) और 'वर्स' (Verse) में है। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरंजक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है, और नियमानुसार तुली हुई सतरों का नाम पद्य है। जिस पद्य के पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता वह कविता नहीं। वह नपी-तुली हुई शब्द-स्थापना-मात्र है। गद्य और पद्य दोनों में कविता हो सकती है। तुकबंदी और अनुप्रास कविता के लिये अपरिहार्य नहीं, और संस्कृत का प्रायः सारा पद्य-समूह बिना तुकबंदी का है, देखो संस्कृत से बढ़कर कविता शायद ही किसी भाषा में हो।

अरब में भी सैकड़ों अच्छे-अच्छे कवि हो गए हैं। वहाँ भी शुरू-शुरू में तुकबंदी का बिलकुल ख़्याल नहीं था। अँगरेज़ी में भी अनुप्रास-हीन बेतुकी कविता होती है, हाँ एक बात ज़रूर है कि वज़न और क़ाफ़िये से कविता अधिक चित्ताकर्षक हो जाती है पर कविता के लिये ये बातें ऐसी हैं जैसे कि शरीर के लिये वस्त्राभरण।

यदि कविता का प्रधान धर्म मनोरंजकता और प्रभावोत्पादकता उसमें न हो तो इनका होना निष्फल ही समझना चाहिये। पद्य के लिये क़ाफ़िये वग़ैरह की ज़रूरत है, कविता के लिये नहीं। कविता के लिये तो ये बातें एक प्रकार से उलटी हानिकारक हैं। तुले हुए शब्दों में कविता करने और तुक, अनुप्रास आदि के ढूँढ़ने से कवियों के विचार-स्वातंत्र्य में बड़ी बाधा आती है। पद्य के नियम कवि के लिये एक प्रकार की बेड़ियाँ हैं। उनसे जकड़ जाने से कवियों को अपनी स्वाभाविक उड़ान में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कवि का काम है कि वह अपने मनोभावों को स्वाधीनता-पूर्वक प्रकट करे। पर क़ाफ़िये और वज़न उसकी स्वाधीनता में विघ्न डालते हैं। वे उसे अपने भावों को स्वतंत्रता से नहीं प्रकट करने देते। क़ाफ़िये और वज़न के पल्ले ढूँढ़कर कवि को अपने मनोभाव तदनुकूल गढ़ने पड़ते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि प्रधानता को अप्रधानता प्राप्त हो जाती है, और एक बहुत ही गौण बात प्रधानता के आसन पर जा बैठती है। फल यह होता है कि कवि की कविता का असर ही जाता रहता है।

जो बात एक असाधारण और निराले ढंग से शब्दों के द्वारा इस तरह प्रकट की जाय कि सुननेवालों पर उसका कुछ न कुछ असर ज़रूर पड़े, उसका नाम कविता है। आज-कल हिंदी के

पद्य-रचयिताओं में कुछ ऐसे भी हैं जो अपने पद्यों को कालिदास, होमर और बाइरन की कविता से भी बढ़कर समझते हैं, कुछ सम्पादक के ख़िलाफ़ नाटक, प्रहसन और व्यंगपूर्ण लेख प्रकाशित करके अपने जी की जलन शांत करते हैं।

कवि का सबसे बड़ा गुण नई नई बातों का सूझना है। उसके लिये कल्पना या इमैजिनेशन (Imagination) की बड़ी ज़रूरत है। जिसमें जितनी ही अधिक यह शक्ति होगी वह उतनी ही अच्छी कविता कर सकेगा। कविता के लिये उपज चाहिये। नए-नए भावों की उपज जिसके हृदय में नहीं वह कभी अच्छी कविता नहीं कर सकता। ये बातें प्रतिभा की बदौलत होती हैं, इसी लिये संस्कृतवालों ने प्रतिभा ही को प्रधानता दी है। प्रतिभा ईश्वरदत्त होती है, अभ्यास से वह नहीं प्राप्त होती, इस शक्ति को कवि माँ के पेट से लेकर पैदा होता है। इसी की बदौलत वह भूत और भविष्यत् को हस्तामलक-वत् देखता है। वर्तमान की तो कोई बात ही नहीं। इसी की कृपा से वह सांसारिक बातों को एक अजीब निराले ढंग से बयान करता है, जिसे सुन कर सुननेवाले के हृदयोदधि में नाना प्रकार के सुख, दुःख, आश्चर्य आदि विकारों की लहरें उठने लगती हैं। कवि कभी ऐसी अद्भुत-अद्भुत बातें कह देते हैं कि जो कवि नहीं हैं उनकी पहुँच वहाँ तक कभी हो ही नहीं सकती।

कवि का काम है कि वह प्रकृति-विकास को ख़ूब ध्यान से देखे। प्रकृति की लीला का कोई ओर-छोर नहीं, वह अनंत है। प्रकृति अद्भुत-अद्भुत खेल खेला करती है। एक छोटे से फूल में वह अजीब-अजीब कौशल दिखलाती है। वे साधारण आदमियों के ध्यान में नहीं आते। वे उनको समझ नहीं सकते, पर कवि

अपनी सूक्ष्म दृष्टि से प्रकृति के कौशल अच्छी तरह से देख लेता है, उनका वर्णन भी वह करता है, उनसे नाना प्रकार की शिक्षायें भी ग्रहण करता और अपनी कविता के द्वारा संसार को लाभ पहुँचाता है। जिस कवि में प्राकृतिक दृष्टि और प्रकृति के कौशल के देखने और समझने का जितना ही अधिक ज्ञान होता है वह उतना ही बड़ा कवि भी होता है।

प्रकृति-पर्यालोचना के सिवा कवि को मानव-स्वभाव की आलोचना का भी अभ्यास करना चाहिये। मनुष्य अपने जीवन में अनेक प्रकार के सुख, दुःख आदि का अनुभव करता है। उसकी दशा कभी एक सी नहीं रहती। अनेक प्रकार की विकार-तरंगें उसके मन में उठा सी करती हैं। इन विकारों की जाँच, ज्ञान का अनुभव करना सबका काम नहीं। केवल कवि ही इनका अनुभव कराने में समर्थ होता है।

जिसे कभी पुत्र-शोक नहीं हुआ उसे उस शोक का यथार्थ ज्ञान होना संभव नहीं। पर यदि वह कवि है तो वह पुत्र-शोकाकुल पिता या माता की आत्मा में प्रवेश सा करके उसका अनुभव कर लेता है। उस अनुभव का वह इस तरह वर्णन करता है कि सुननेवाला तन्मनस्क होकर उस दुःख से द्रवीभूत हो जाता है। उसे ऐसा मालूम होने लगता है कि स्वयं उसी पर वह दुःख पड़ रहा है। जिस कवि को मनोविकारों और प्राकृतिक बातों का यथेष्ट ज्ञान नहीं होता वह कदापि अच्छा कवि नहीं हो सकता।

कविता को प्रभावोत्पादक बनाने के लिये उचित शब्द-स्थापना की भी बड़ी ज़रूरत है। किसी मनोविकार या दृश्य के वर्णन में ढूँढ़-ढूँढ़कर ऐसे शब्द रखने चाहिये जो सुननेवालों की आँखों के सामने वर्ण्य-विषय का एक चित्र सा खींच दें। मनोभाव

चाहे कैसा ही अच्छा क्यों न हो, यदि वह तदनुकूल शब्दों में न प्रकट किया गया, तो उसका असर यदि जाता नहीं रहता, तो कम ज़रूर हो जाता है। इसी लिये कवि को चुन-चुनकर ऐसे शब्द रखने चाहिये, और इस क्रम से रखना चाहिये, जिससे उसके मन का भाव पूरे तौर पर व्यक्त हो जाय, उसमें कसर न पड़े।

मनोभाव शब्दों ही के द्वारा व्यक्त होता है। अतएव सयुक्ति शब्द-स्थापना के बिना कविता तादृश हृदय-हारिणी नहीं हो सकती। जो कवि अच्छी शब्द-स्थापना करना नहीं जानता, अथवा यों कहिये कि जिसके पास काफ़ी शब्द-समूह नहीं, उसे कविता करने का परिश्रम ही न करना चाहिये। जो सुकवि हैं उन्हें एक एक शब्द की योग्यता ज्ञात रहती है, वे ख़ूब जानते हैं कि किस शब्द में क्या प्रभाव है। अतएव जिस शब्द में उनके भाव को प्रकट करने की एक बाल भर भी कमी होती है, उसका वे कभी प्रयोग नहीं करते।

अँगरेज़ी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने कविता के तीन गुणों का वर्णन किया है। उनकी राय है कि कविता सादी हो, जोश से भरी हो, और असलियत से गिरी हुई न हो। सादगी से यह मतलब नहीं कि सिर्फ़ शब्द-समूह ही सादा हो किंतु विचार-परंपरा भी सादी हो। भाव और विचार ऐसे सूक्ष्म और छिपे हुए न हों कि उनका मतलब समझ में ही न आवे, या देर से समझ में आवे। यदि कविता में कोई ध्वनि हो तो इतनी दूर की न हो कि उसे समझने में गहरे विचार की ज़रूरत हो।

कविता पढ़ने या सुननेवाले को ऐसी साफ़-सुथरी सड़क बनानी चाहिये जिस पर कंकड़, पत्थर, टीले, खंदक, काँटे और झाड़ियों का नाम भी न हो। वह ख़ूब साफ़ और हमवार हो,

जिससे उसपर चलनेवाला आराम से चला जाय। जिस तरह सड़क के ज़रा भी ऊँची-नीची होने से पैरगाड़ी के सवार को दचके लगते हैं, उसी तरह कविता की सड़क यदि थोड़ी सी भी नाहमवार हुई तो पढ़नेवाले के हृदय पर धक्का लगे बिना नहीं रहता। कवितारूपी सड़क के इधर-उधर स्वच्छ पानी के नदी-नाले बहते हों, दोनों तरफ़ फलों-फूलों से लदे हुए पेड़ हों, जगह जगह पर विश्राम करने योग्य स्थान बने हों, प्राकृतिक दृश्य की नई नई झाँकियाँ आँखों को लुभाती हों।

दुनिया में आज तक जितने अच्छे अच्छे कवि हुए हैं उनकी कविता ऐसी ही देखी गई है। अटपटे भावों और अटपटे शब्दों का प्रयोग करनेवाले कवियों की कभी क़द्र नहीं हुई। यदि कभी किसी की कुछ हुई भी है तो थोड़े ही दिन तक। ऐसे कवि विस्मृति के अंधकार में ऐसे छिप गए हैं कि इस समय उनका कोई नाम तक नहीं जानता। एक-मात्र सूखा शब्द-झांकर ही जिन कवियों की करामात है उन्हें चाहिये कि वे एकदम ही बोलना बंद कर दें।

भाव चाहे कैसा ही ऊँचा क्यों न हो, उसे पेचीदा न होना चाहिये। वह ऐसे शब्दों के द्वारा प्रकट किया जाना चाहिये जिनसे सब लोग परिचित हों। क्योंकि कविता की भाषा बोल-चाल से जितनी ही अधिक दूर जा पड़ती है उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। बोलचाल से मतलब उस भाषा से है जिसे ख़ास और आम सब बोलते हैं, विद्वान् और अविद्वान् दोनों काम में लाते हैं। इसी तरह कवि को मुहावरे का भी ख़्याल रखना चाहिये। जो मुहावरा सर्व-सम्मत है उसीका प्रयोग करना चाहिये। हिंदी और उर्दू में कुछ शब्द अन्य भाषाओं के भी आ गए हैं। वे यदि बोलचाल के हैं तो उनका प्रयोग सदोष

नहीं माना जा सकता। उन्हें त्याज्य नहीं समझना चाहिये। कोई-कोई ऐसे शब्दों को मूलरूप में लिखना ही सही समझते हैं, पर यह उनकी भूल है।

असलियत से यह मतलब नहीं कि कविता एक प्रकार का इतिहास समझा जाय और हर बात में सचाई का ख़्याल रक्खा जाय। यह नहीं कि सचाई की कसौटी पर कसने से यदि कुछ भी कसर मालूम हो तो कविता का कवितापन जाता रहे। असलियत से सिर्फ़ इतना ही मतलब है कि कविता बेबुनियाद न हो। उसमें जो उक्ति हो वह मानवीय मनोविकारों और प्राकृतिक नियमों के आधार पर कही गई हो। स्वाभाविकता से उसका लगाव छूटा न हो। कवि यदि अपनी या और किसी की तारीफ़ करने लगे और यदि वह उसे सचमुच ही समझे, अर्थात् यदि उसकी भावना वैसी ही हो, तो वह भी असलियत से ख़ाली नहीं, फिर चाहे और लोग उसे उसका उलटा ही क्यों न समझते हों।

परंतु इन बातों में भी स्वाभाविकता से दूर न जाना चाहिये, क्योंकि स्वाभाविक अर्थात् नेचुरल (Natural) उक्तियाँ ही सुननेवाले के हृदय पर असर कर सकती हैं, अस्वाभाविक नहीं। असलियत को लिए हुए कवि स्वतंत्रतापूर्वक जो चाहे कह सकता है। असल बात को एक नए साँचे में ढालकर कुछ दूर तक इधर-उधर की उड़ान भी कर सकता है, पर असलियत के लगाव को वह नहीं छोड़ता। असलियत को हाथ से जाने देना मानो कविता को प्रायः निर्जीव कर डालना है।

शब्द और अर्थ दोनों ही के संबंध में उसे स्वाभाविकता का अनुसरण करना चाहिये। जिस बात के कहने में लोग स्वाभाविक रीति पर जैसे और जिस क्रम से शब्दों का प्रयोग करते हैं

वैसे ही कवि को भी करना चाहिये। कविता में उसे कोई बात ऐसी न कहनी चाहिये जो दुनिया में न होती हो। जो बातें हमेशा हुआ करती हैं अथवा जो बातें संभव हैं, वे ही स्वाभाविक हैं। अर्थ की स्वाभाविकता से मतलब ऐसी ही बातों से है।

जोश से यह मतलब है कि कवि जो कुछ कहे इस तरह कहे मानों उसके प्रयुक्त शब्द आप ही आप उसके मुँह से निकल गए हैं। उनसे बनावट न ज़ाहिर हो। यह न मालूम हो कि कवि ने कोशिश करके ये बातें कही हैं, किंतु यह मालूम हो कि उसके हृद्गत भावों ने कविता के रूप में अपने को प्रकट कराने के लिये उसे विवश किया है। जो कवि है उसमें जोश स्वाभाविक हो जाता है।

वर्ण्य-वस्तु को देखकर किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा से वह उसपर कविता करने के लिये विवश सा हो जाता है। उसमें एक अलौकिक शक्ति पैदा हो जाती है। इसी शक्ति के बल से वह सजीव ही नहीं, निर्जीव चीज़ों तक का वर्णन ऐसे प्रभावोत्पादक ढंग से करता है कि यदि उन चीज़ों में बोलने की शक्ति होती तो ख़ुद वे भी उससे अच्छा वर्णन न कर सकतीं।

जोश से यह मतलब नहीं कि कविता के शब्द ख़ूब ज़ोरदार और जोशीले हों। संभव है शब्द ज़ोरदार न हों पर जोश उनमें छिपा हुआ हो। धीमे शब्दों में भी जोश रह सकता है, और पढ़ने या सुननेवाले के हृदय पर चोट कर सकता है। परंतु ऐसे शब्दों का कहना ऐसे-वैसे कवि का काम नहीं। जो लोग मीठी छुरी से तलवार का काम लेना चाहते हैं वे ही धीमे शब्दों में जोश भर सकते हैं।

सादगी, असलियत और जोश, यदि यह तीनों गुण कविता में हों तो कहना ही क्या है। परंतु बहुधा अच्छी कविता में भी

इनमें से एक-आध गुण की कमी पाई जाती है। कभी-कभी देखा जाता है कि कविता में केवल जोश ही रहता है और असलियत नहीं। परंतु विना असलियत के जोश होना बहुत कठिन है। अतएव कवि को असलियत का सबसे अधिक ध्यान रखना चाहिये।

अच्छी कविता की सबसे बड़ी परीक्षा यह है कि उसे सुनते ही लोग बोल उठें कि सच कहा है। वे ही कवि सच्चे कवि हैं जिनकी कविता सुनकर लोगों के मुँह से सहसा यह उक्ति निकलती है, ऐसे ही कवि धन्य हैं, और जिस देश में ऐसे कवि पैदा होते हैं वह देश भी धन्य है।

अध्ययन

अध्ययन जन्म से प्रारंभ होता है। बालक जन्म से एक ऐसी जगह आ जाता है कि जहाँ का वह कुछ भी नहीं जानता। उसको इतना बोध भी नहीं होता कि आग जलाती है और साँप काटता है। धीरे धीरे अनुभव द्वारा वह अपना ज्ञान बढ़ाता जाता है, यहाँ तक कि समय पर विना एक अक्षर भी पढ़े वह संसार की सभी साधारण बातें जान जाता है। यह सब ज्ञान-प्राप्ति एक प्रकार से अध्ययन ही है। अध्ययन शब्द "ध्यै" धातु से निकला है, जिसका प्रयोजन अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान का है। यह अनुभव चाहे अपना हो चाहे पराया, किंतु दोनों द्वारा प्राप्त ज्ञान को अध्ययन ही कहेंगे। अपने अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान कुछ विशेष चिरस्थायी एवं लाभकारी होता है, किंतु यदि मनुष्य

सारा ज्ञान अपने ही अनुभव द्वारा प्राप्त करे, तो उसके ज्ञान की मात्रा बहुत ही सीमा-संकुचित रहेगी। संसार में ज्ञेय वस्तुएँ प्रायः अनंत हैं, और मनुष्य का अनुभव एवं समय बहुत ही थोड़ा है। फिर यदि सभी लोग अपने ही अनुभवों द्वारा ज्ञान प्राप्त करें, तो संसार में ज्ञान-वृद्धि बहुत कम हो। यहाँ तो ज्ञान-प्राप्ति के प्रयत्न को जहाँ से एक छोड़ता है, वहीं से प्रारंभ करके दूसरा उसे उसके आगे ले जाता है और इसी प्रकार सहस्रों मनुष्यों द्वारा प्रत्येक विभाग में अनंत ज्ञानवृद्धि होती है। फिर भी केवल दूसरों का अनुगामी पूरा पंडित नहीं हो सकता। पांडित्य के लिये आत्मानुभव, आत्म-निर्भरता और स्वतंत्रता की भी आवश्यकता पड़ती है।

मनुष्य के वश में राज्य, प्रचुर धन, महा बल आदि प्राप्त करना सदैव नहीं है। इनके लिये भाग्य एवं आकस्मिक घटनाओं की भी आवश्यकता है। इधर पांडित्य का प्राप्त करना बहुत करके प्रत्येक मनुष्य ही पर निर्भर है। कहते ही हैं कि इसके लिये राजाओं के वास्ते भी कोई पृथक् मार्ग नहीं है। निरंतर कठिन परिश्रम एवं साधना ही इसका मूल कारण है। परिश्रम मनुष्य के लिये सदैव लाभकारी है। बिना इसके किसी प्रकार का वास्तविक महत्त्व प्राप्त नहीं होता। परिश्रम से भागना अपने महत्त्व को लात मारना है। उचित परिश्रम से किसी प्रकार का दैहिक अथवा मानसिक कष्ट नहीं हो सकता। कहते ही हैं कि मनुष्य-बल का सड़ जाना सहल है किंतु घिस जाना कठिन। शक्ति का उचित प्रयोग करने से उसकी दिनों दिन वृद्धि होती है, न कि क्षीणता। हमारे जाने हुए दो विद्यार्थी एक ही कक्षा में पढ़ते और प्रायः साथ ही साथ बैठते थे। उनके निवास-स्थान भी एक ही मुहल्ले में थे किंतु पढ़ने में एक महाशय

अधिक मन लगाते थे और दूसरे कम। जब अध्यापक ने कक्षा की परीक्षा ली तब उनमें से परिश्रमी ने पचास में पैंतीस नंबर पाए और दूसरे ने सात। इसपर अध्यापक महाशय ने उन्हें साथ ही साथ बैठा देखकर सात नंबरवाले से कहा कि "क्या इसमें तुमसे पँचगुनी बुद्धि है?" फिर उन्होंने आप ही इस प्रश्न का उत्तर देकर कहा कि—"तुम दोनों में अंतर बुद्धि का नहीं वरन् परिश्रम का है।"

बहुत लोग जब चित्त न लगाने के कारण अथवा शिक्षण-प्रणाली में कुछ दोष होने के कारण विद्याध्ययन में समुचित उन्नति नहीं कर पाते, तब समझते हैं कि हमारे पास बुद्धि की मात्रा कम है। यह विचार बहुत दशाओं में भ्रममूलक होता है। भाग्य-दत्त बुद्धि की मात्रा विविध मनुष्यों में एक नहीं हो सकती। यही दशा स्वास्थ्य आदि की है। फिर भी जैसे आयुर्वेद के नियमों पर ध्यानपूर्वक एवं दृढ़ भाव से चलकर एक साधारण स्वास्थ्य-वाला मनुष्य भी परम संतोषदायक उन्नति कर सकता है और अपने से बहुत श्रेष्ठतर ऐसे भाग्यदत्त शरीरवाले से जो कुपथ्य-सेवी है बहुत बढ़कर हो सकता है, वैसे ही उद्यमी पुरुष भाग्य-दत्त साधारण बुद्धि को क्रमशः बहुत बढ़ा सकता है। वही लोहे का टुकड़ा तलवार बनने से और भली भाँति रक्खे जाने से शीशे की भाँति चमकने लगता है और वही लापरवाही से रक्खा जाकर मुर्चा खा जाने से कोयले के समान काला और तिनके के समान टूटनेवाला हो जाता है। परिश्रम अध्ययन का जीव है। बिना विद्या-प्राप्ति के मनुष्य और पशु में बहुत कम अंतर रह जाता है। भारी धनाढ्यता मनुष्य को प्रायः आलसी बना देती है। इसी लिये पंडित लोग इसे अध्ययन का सहज शत्रु समझ कर इसका निरादर करते हैं।

प्रत्येक मनुष्य में कुछ पशुता भी होती है। अन्य गुणावगुणों के समान इसकी वृद्धि अथवा ह्रास भी मनुष्य की इच्छा ही पर निर्भर है। जो मनुष्य समुचित अध्ययन द्वारा गुणों की उन्नति तथा अवगुणों की अवनति करता है, उसमें इसका ह्रास होता जाता है, अन्यथा नहीं। संभावित पुरुष को उचित है कि यदि वह कोई व्यसन ग्रहण करे, तब भी वह विद्या ही का होना चाहिये। विद्या से यहाँ केवल पुस्तकमय ज्ञान का तात्पर्य्य नहीं है वरन् सभी प्रकार की ज्ञान-प्राप्ति इसी के अंतर्गत आ जाती है। समय का मूल्य बहुत बातों से अधिक समझना चाहिये। बिना समय का उचित प्रयोग किए अध्ययन आदि किसी सद्‌गुण का साधन नहीं हो सकता। फिर भी शक्ति के बाहर पढ़ना रोगोत्पादक होगा। सभी बातों के लिये समभाव उचित है। वैषम्य सदैव हानिकारक है। पढ़ना लिखना, खेलना कूदना, सब कुछ यथा-समय करना उचित है। औचित्य का सीमोल्लंघन किसी दशा में न होना चाहिये। जैसे अन्य बातों में हम वैविध्य की प्रशंसा तथा आनिर्वृत्य की निंदा करते आए हैं, वही दशा अध्ययन की भी है। मनुष्य को विविध विषयों में ज्ञान प्राप्त करना उचित है। एक ही बात में उतारू हो जाना मानसिक उन्नति को रोककर मनुष्य को गूलर के फलवाले भुनगे के समान बना देता है। यथासमय पढ़ना लिखना और खेलना कूदना मनुष्य को पूरा मनुष्य बनाता है, किंतु स्मरण रहे कि जो बात जिस समय की जाय, वह पूर्ण तल्लीनता के साथ हो। पढ़ने के समय खेलना और खेलने के समय पढ़ना बिलकुल ही भुला देना चाहिये। जब जो कुछ करो तब उसी में पूर्णतया मन लगाओ। एक कार्य करने के समय दूसरे का विचार भी चित्त में न आना चाहिये। एकाग्र भाव एक बहुत बड़ा मानसिक बल है। यही प्राणायाम

का मूल और योग का बंधु है। गीता में भगवान् ने आज्ञा दी है कि—

"योगः कर्म्मसु कौशलम्।"

अतः कर्म्मों में कुशलता ही योग है। जो काम करे उसी को पूर्ण उत्साह के साथ करे। जब तक उसे करता जाय तब तक उससे अप्रसंगी कोई भाव तक चित्त में न उठने पावे। जो इस प्रकार का काम कर सके वही योगी है। इसी से कहा गया है कि संसार में सच्चे योगी के लिये कोई भी वस्तु असंभव नहीं है।

संसार में ज्ञान की उत्पत्ति आश्चर्य्य से है। जब कोई मनुष्य किसी वस्तु, विचार आदि को देखता-सुनता है और उसे नहीं जान पाता तब उसके चित्त में या तो आश्चर्य्य का भाव उदित होगा अथवा उदासीनता का। उदासीनता के बराबर हानिकारक भाव संसार में नहीं है। यह विद्या, उन्नति आदि सभी गुणों की बाधक है। अज्ञानी के लिये उदासीनता से इतर दूसरा भाव आश्चर्य्य का है। किसी अज्ञात पदार्थ को देखकर मनुष्य को बहुत कुछ सोचना चाहिये। इसके क्या गुण-दोष हैं, यह क्योंकर बना, क्यों बना, इसके अस्तित्व का क्या कारण है, इसके अनस्तित्व से क्या हानि अथवा लाभ है, इत्यादि इत्यादि अनेकानेक प्रश्न प्रत्येक अज्ञात वस्तु के विषय में उत्पन्न होते हैं। मूर्ख लोग बहुत से पदार्थों को उपहासास्पद समझते हैं। संसार में कुछ पदार्थ उपहासास्पद भी होते हैं किंतु बहुतायत से नहीं। बहुत वस्तुओं का बाहरी भाव सहसा हँसने योग्य समझ पड़ता है, किंतु भीतर घुसकर ध्यानपूर्वक देखने से उसी में कर्ता का भारी चातुर्य्य दिखाई देने लगता है। इसलिये जो लोग अनेकानेक वस्तुओं को भौंड़ी, बेडौल, और निंद्य समझते हैं, वे बहुधा ऐसे विचारों से अपनी ही मूर्खता प्रकट करते हैं। ईर्ष्या, मोह,

अहंकारादि के कारण बहुत से लोग पर-गुण-निरीक्षण में अंध होते हैं। जिस किसी को संसार में अधिकांश लोग एवं पदार्थ अश्लाघ्य समझ पड़ें, उसे जानना चाहिये कि स्वयं उसी में कोई दोष है न कि सब पदार्थों में।

अध्ययन कैसे किया जाय यह एक चिंतनीय विषय है। अध्ययन एक प्रकार से भोजन के समान है। जैसे बहुत कुछ खा लेने से अपच हो जाता है और कुछ भी न खाने से थोड़े ही दिनों में मरणावस्था उपस्थित होती है, वैसा ही अध्ययन का हाल है। कुछ भी न पढ़ने से मनुष्य पूरा मूर्ख रहता है, और उचित से अधिक ग्रंथावलोकन से वह ग्रंथों के भावों का आत्मीकरण नहीं कर सकता। ऐसे ही लोगों के विचार तथा संमतियाँ स्वयं उनकी नहीं, वरन् औरों की होती हैं। वे समझते हैं कि हम अपनी संमति प्रकट कर रहे हैं, किंतु वास्तव में वे जानते हुए अथवा न जानते हुए दूसरों की चोरी किया करते हैं। उन्होंने इतने पराए विचार अपने मन में भर लिए हैं कि वे उनपर पूर्णतया मनन करके उन्हें अपना नहीं बना सकते। फिर भी जब ऐसे विचार-बहुभक्षी लोग पराए सिद्धांतों का अपने कथनों में दूसरे प्रसंग में प्रयोग करते हैं, तब आत्मीकरण के अभाव से उनका बहुधा दुरुपयोग हो जाता है। ऐसे ही कथनों पर जब अटल तार्किक सिद्धांतों के अनुसार सूक्ष्मदर्शिता से विचार किया जाता है तब उनका एक एक अक्षर भूसी के समान उड़ जाता है और मन भर के गट्ठर में एक भी अनाज का दाना नहीं निकलता। ऐसे ही विचारों में प्रतिकूलता-पोषण बहुतायत से होता है। जब मनुष्य कोई सारगर्भित नवीन भाव पावे, तब उसे उचित है कि अपने प्राचीन विचार-समुदाय में उस भाव को स्थान देने के पूर्व सोच ले कि वह कितनों के प्रतिकूल और कितनों के अनुकूल

पड़ता है। प्रतिकूलता की दशा में दोनों का यह ध्यान देकर निर्णय कर लेना चाहिये कि उनमें से कौन ग्राह्य है और कहाँ तक। नवीन और प्राचीन विचारों में थोड़ा सा भी विरोध होने से ध्यानपूर्वक निर्णय करके उनका संशोधन कर लेना चाहिये। जब किसी नए विचार का प्राचीन भाव से मिलान करके पूरा निर्णय होकर एक बात निश्चित रह जाती है, तभी कहा जा सकता है कि नवागत विचार हजम हुआ, अर्थात् अपना हो गया। जो लोग बिना ऐसे आत्मी-करण के नए विचार ग्रहण करते जाते हैं उनका मानस शरीर बहु-भक्षी लोगों की देहों के समान कभी स्वास्थ्य-युक्त नहीं रह सकता। जो लोग अपने प्राचीन विचारों को नवीन भावों की वृद्धि द्वारा दृढ़तर बनाते हुए दिनों दिन उन्नतिशील नहीं रखते, उनका मानस-शरीर दुबला और बल-हीन हो जाता है। बहुत से लोग साधारण बातों, व्याख्यानों, एवं ग्रन्थ-निर्माण द्वारा अपने विचार औरों पर बहुतायत से प्रकट किया करते हैं। ऐसी प्रगल्भता से प्रायः प्रतिकूल विचारों का पुष्टीकरण हो जाता है और कथनों में सारगर्भिता की मात्रा बहुत कम होती है। उपदेशकों को संक्षिप्त गुण का अवश्य ध्यान रखना चाहिये, नहीं तो उनके कथनों में केवल मूर्ख-मोहनी विद्या रह जाती है।

अध्ययन दो प्रकार का होता है, अर्थात् साधारण और दैनिक व्यापार-संबंधी। यह प्रकट ही है कि मानसिक उन्नति के लिये व्यापारिक शिक्षा से साधारण शिक्षा बहुत श्रेष्ठतर है। फिर भी बिना व्यापारिक शिक्षा के काम नहीं चल सकता। मानसिक उन्नति के प्रतिकूल प्रायः प्रत्येक व्यापार में ख़ास ख़ास बुराइयाँ होती हैं। संभावित को इनपर सदैव ध्यान रखना चाहिये, जिससे कि वह मानसिक उन्नति का अवरोध न कर सके। प्रायः

देखा गया है कि जो लोग जिस व्यापार में पड़ते हैं, वे अपने आह्निक अवकाश में भी सभा-सोसाइटियों में बैठकर उसी की बातें किया करते हैं। चतुर मनुष्य को अवकाश के समय में मेडुवा गोजई का भाव न सोचकर, ऐसे विषयों की ओर चित्त लगाना चाहिये, जिनकी उसके व्यापार-संबंधी आह्निक कर्त्तव्यों में कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। मनुष्यों को अंधवत् एक ही लीक पर अनुगमन करने से बचना चाहिये।

अध्ययन का मूल दो प्रकार का होता है, अर्थात् स्वावलंबी और परावलंबी, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। स्वावलंबी अध्ययन अपने ही अनुभवों एवं विचारों से प्राप्त होता है और परावलंबी अध्ययन पुस्तकों, गुरुओं और मित्रों आदि पर आश्रित है। स्वावलंबी अध्ययन में ज्ञान वृद्धि के लिये बहुत कुछ अधिक समय दरकार है, किंतु वह बहुत पक्का होता है। संसारीपने की कार्य्य-कारिणी बुद्धि स्वानुभव से ही विशेषतया प्राप्त होती है और बिना स्वावलंबी ज्ञान के केवल परावलंबी अध्ययन से पूर्ण मानसिक उन्नति नहीं हो सकती। दोनों प्रकार के अध्ययनों में विद्यार्थी को कक्षा-विभाग पर विशेष ध्यान देना चाहिये। प्रत्येक वस्तु को ध्यानपूर्वक देखकर अथवा उसके विषय में सुनकर और वस्तुओं से उसकी समता और असमता पर पूर्ण विचार करो। जो वस्तुएँ जहाँ तक समान हों उनको जानो, और फिर समान वस्तुओं के सूक्ष्म से भी सूक्ष्म अंतर को बुद्धि-बल से खोज निकालो। प्रकृति ने समानता और अंतर का ऐसा विचित्र बनाव रक्खा है, कि इसपर जहाँ तक मनन करो वहाँ तक ज्ञान विस्तीर्ण होता जाता है। संसार में अरबों मनुष्य प्रस्तुत हैं, और उनका शरीर सांगोपांग समान है, किंतु फिर भी कोई दो मनुष्य ऐसे न मिलेंगे जिनकी बनावट एक दूसरे से बिलकुल मिलती

हो। तत्त्वज्ञानियों ने ज्ञानपूर्वक निरीक्षण द्वारा जाना है कि संसार में प्रकृति जीवधारी की रचना-शक्ति के प्रदर्शन में पुनरुक्ति कभी नहीं करती, यहाँ तक कि कोई दो पत्ती अथवा दूब के पौंड़े तक एक दूसरे से बिलकुल समान कभी नहीं होते। ऐसी समता एवं भिन्नता का ज्ञान भारी सूक्ष्म-दर्शिता से ही प्राप्त होता है। इस शक्ति को बढ़ाने के लिये सभी ठौर समता और भिन्नता पर ध्यान देना चाहिये। अधिक से अधिक पदार्थों को ध्यानपूर्वक देखते जाइए और तब आपकी अधिकाधिक ज्ञान-वृद्धि होगी। अजायबघर, जंगल, बाग़, मैदान, ग्राम, नगर, पत्तन झील, समुद्र, नदी, नाले, पहाड़ आदि सभी कुछ ध्यानपूर्वक देखो, और विचारो कि किस किस पदार्थ से क्या क्या शिक्षा मिल सकती है। आँखवाले अंधों के समान कभी काम न करो। जहाँ जाओ दोनों आँखें खोले रहो। किसी वस्तु को देखकर यह सदैव सोचो कि यह ऐसी क्यों है, किसी अन्य प्रकार की क्यों नहीं? इसके रचयिता ने इसे यहाँ किस विचार से रक्खा। रास्ता चलने में भी विचारते रहो कि अमुक पगडंडी की वर्तमान स्थिति उसी प्रकार से उसी स्थान में क्यों हुई। एक छोटा सा कंटकित पौधा भी यदि मार्ग में पड़ जाता है तो पगडंडी उसके कारण हाथ भर मुड़ जाती है। कोई पथिक साधारणतया उसे उखाड़कर फेंक सकता है अथवा जूते की ठोकर से कुचल सकता है, किंतु पथिक लोग प्रायः इतना कष्ट उठाते देखे नहीं गए हैं। विदेशों में रेल पर यात्रा करने में अन्य बातों में उतना ध्यान न देकर मनुष्य को देश की बनावट देखनी चाहिये। इससे उस प्रांत के निवासियों के बहुत से स्वभाव सहज ही में ज्ञात हो जाते हैं। सारांश यह है कि यथासाध्य सभी नवीन बातों में तार्किक सिद्धांतों का ध्यान कभी न भूलो। तर्कशास्त्र कोई नवीन

बात नहीं बतलाता, किंतु साधारण अनुभवों द्वारा ज्ञानप्राप्ति के उसमें ऐसे सुंदर नियम मिलते हैं जो नेत्रों को नेत्र और कानों को कान बनाते हैं।

परावलंबी ज्ञानप्राप्ति में पुस्तकों और गुरुओं की प्रधानता है। यदि कोई बात ज्ञात न हो, तो उसके पूँछने में कोई संकोच न करो। भगवान् दत्तात्रेय ने मकड़ी आदि २४ जंतुओं को भी अपना करके माना था। गुरुओं एवं पुस्तकों के कथनों को भी अंधपरंपरा की रीति से कभी न मानो। कहा भी है कि—

नहिं प्रमाण करि श्रवण अंध सम ताकहँ मानौ।
ताके कारण खोजि बुद्धिबल सों अनुमानौ॥

गुरुओं और पुस्तकों में भी परमोच्च मानसिक उन्नति संयुक्त लोगों एवं उनकी रचनाओं का आश्रय लो। परमोच्च ग्रंथों के भी परमोच्च विचारों पर ध्यान दो। ग्रंथों के पढ़ने में पूर्ण बुद्धि व्यवसाय से काम लेना चाहिये और एक पेंसिल तथा जेबी कोष-ग्रंथ तो और अख़बारों तक के पढ़ने में अपने पास रखना उचित है। कोष के पास होने से छोटे से छोटा संदेह तुरंत निवृत्त हो जाता है और ज्ञान-वृद्धि में बहुत अच्छी सहायता मिलती है। अँगरेज़ी शब्दों में बहुधा अक्षरों और उच्चारणों में बड़ा अंतर होता है। ऐसी दशा में हम विजातीय लोगों को उच्चारण-संबंधी कष्ट से छुटकारा पाने के लिये एक छोटा कोष-ग्रंथ अवश्य पास लगाए रहना चाहिये। ऐसे ग्रंथ से समय पर बड़ी सहायता मिलती है। पुस्तकाध्ययन में पेंसिल का प्रयोग भी बेधड़क होना चाहिये। कोई नवीन ग्रंथ पढ़ने में जो अपने भाव उठें उन्हें भी यथास्थान अंकित कर दो। कोई ग्रंथ पढ़कर यह अवश्य निश्चय कर लेना चाहिये कि यह दूसरी आवृत्ति के योग्य है या नहीं। अच्छे अच्छे ग्रंथों की कई आवृत्तियाँ होनी चाहिये।

पढ़ने में अपने प्रिय विषय पर विशेषता अवश्य रक्खे, किंतु अन्य विषयों का तिरस्कार कभी न करे। कहा भी है कि विद्वान् को कुछ का सब कुछ और सबका कुछ कुछ अवश्य जानना चाहिये। बिना इसके वैविध्य लुप्त होकर आनिर्घृत्य आ जाता है। मनुष्य को सभाचातुर्य्य और ज्ञान-गरिमा वैविध्य से ही प्राप्त होती है। अपने ऊपर उचित से अधिक विश्वास और अविश्वास न करे। ये दोनों विफलता के मूल कारणों में से हैं। अपने साधारण अनुभव से हम ऐसे महापुरुषों के चरित्रों से अच्छे उदाहरण प्राप्त कर सकते हैं, वैसे ही जीवन-चरित्र भी श्रेष्ठ उदाहरण प्रदर्शन द्वारा हमें भारी लाभ पहुँचा सकते हैं। रामायण और महाभारत में राम और युधिष्ठिर के अतिरिक्त भी बहुत से अच्छे अच्छे उदाहरण मिलते हैं। जीवन-चरित्रों में व्यक्तित्व की मुख्यताओं का होना परमावश्यक है, यहाँ तक कि उसमें दोषों का भी कथन होना चाहिये, नहीं तो उदाहरण बहुत ऊँचा उठ जाता है और साधारण मनुष्यों को समझ पड़ने लगता है कि उसका अनुकरण असंभव है।

मनुष्य को किसी न किसी कला का भी पारगामी होना चाहिये। पियानो, हारमोनियम, अलगोजा, सितार, जलतरंग आदि अनेकानेक वाद्य तथा गाना, नाचना आदि बहुत से सामाजिक मनोरंजन हैं। इनमें से कुछ भी न जाननेवाला मनुष्य समाज में आदर नहीं पा सकता। साहित्य का भी जानना बहुत अच्छा होता है। ऋषिवर महात्मा भर्तृहरि ने कहा भी है—

"साहित्य-संगीत-कला-विहीनः
साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः।
तृणन्न खादन्नपि जीवमान-
स्तद्भागधेयं परमं पशूनाम्॥"

बहुत से लोग हुनर की उन्नति को जातीय अवनति से मिला कर उसकी निंदा करते हैं। वे लखनऊ और दिल्ली की राजसभाओं को इसका उदाहरण बतलाते हैं। कलाओं से जब इंद्रिय-लोलुपता मिला दी जाती है, तब ऐसे बुरे उदाहरण देख पड़ते हैं। हुनर की वृद्धि अवश्य करनी चाहिये, किंतु इंद्रिय-संयम पर भी पूर्ण ध्यान रखना प्रत्येक सुधी को उचित है। प्रत्येक मनुष्य के लिये किसी न किसी लक्ष्य का होना आवश्यक है। बिना इसके न तो समुचित उन्नति हो सकती है और न आनंद ही प्राप्त होता है। जो कोई केवल आनंद ढूँढ़ना चाहता है, उसका मनोरथ कभी सफल नहीं होता, क्योंकि मनुष्य के लिये केवल आनंद कुछ है ही नहीं। जिस पदार्थ को पसंद करके मनुष्य उसमें मन लगाता है, उसी की प्राप्ति में आनंद है।

गोस्वामी तुलसीदास

हिंदी-भाषा की संपूर्ण शक्ति का चमत्कार दिखलानेवाले और हिंदी-साहित्य को सर्वोच्च आसन पर बैठानेवाले भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास महात्मा रामानंद की शिष्य-परंपरा में थे। यद्यपि अपनी अद्भुत प्रतिभा और अलौकिक कवित्व-शक्ति के कारण वे देश और काल की सीमा का उल्लंघन कर सार्वदेशिक और सार्वकालिक हो गए हैं, और यद्यपि आज तीन सौ वर्षों में उनकी कीर्तिश्री कम नहीं हुई, प्रत्युत निरंतर बढ़ती ही जाती है, तथापि उनकी लौकिक जीवन-गाथा का उल्लेख

संक्षेप में आवश्यक है। उनका जीवन-चरित्र लिखनेवाले महात्मा रघुवरदास, समकालीन शिष्य बाबा बेणीमाधवदास, अयोध्या के कुछ रामायणी भक्त तथा मिरज़ापुर के पं० रामगुलाम द्विवेदी आदि सज्जन जनश्रुतियों के आधार पर गोस्वामीजी की जीवन-गाथा के निर्माण में सहायक हुए हैं। शिवसिंहसेंगर और डाक्टर ग्रियर्सन के प्रारंभिक अनुसंधानों से उनकी जीवनी पर जो प्रकाश पड़ता है, वह भी उपेक्षायोग्य नहीं। इस बाह्य साक्ष्य को लेकर जब हम गोस्वामीजी के ग्रंथों की जाँच पड़ताल करते हैं और उनमें उनकी जीवनी के संबंध में आए हुए संकेतों से उस बाह्य साक्ष्य को मिलाकर देखते हैं तब उनके जीवन की अनेक घटनाओं का निश्चय हो जाता है और इस प्रकार उनकी बहुत कुछ प्रामाणिक जीवनी तैयार हो जाती है। परंतु इस जीवनी से पूरा पूरा संतोष नहीं होता, क्योंकि वह केवल उनके जीवन की असंबद्ध घटनाओं का संग्रहमात्र होती है उससे उनके मानसिक और कलासंबंधी क्रम-विकास का पता नहीं चलता।

गोसाइं-चरित तथा तुलसी-चरित दोनों के अनुसार गोस्वामी जी का जन्म संवत् १५५४ और स्वर्गवास संवत् १६८० ठहरता है। तुलसीदास युक्तप्रांत के बाँदा ज़िले में राजापुर गाँव के निवासी थे। ये सरयूपारीण ब्राह्मण थे। इनके पिता आत्माराम पत्यौंजा के दुबे और इनकी माता हुलसी थीं। जिनका उल्लेख अकबर के दरबार के रहीम खानखाना ने एक प्रसिद्ध दोहे में किया है। लड़कपन में ही इनके माता पिता द्वारा परित्यक्त होने की जनश्रुति प्रचलित है जिसमें उनके अभुक्त मूल में जन्म लेने की बात की कुछ लोगों ने कल्पना की है। पर बाबा बेणीमाधव-दास ने इस घटना पर पूरा विवरण देकर सब प्रकार की कल्पना

और अनुमान को शांत कर दिया है। बाल्यावस्था में आश्रयहीन इधर उधर घूमते फिरते और उसी समय गुरुद्वारा रामचरित सुनने का उल्लेख गोस्वामीजी की रचनाओं में मिलता है। कहा जाता है कि इनके गुरु बाबा नरहरि थे जिनका स्मरण गोस्वामीजी ने रामचरितमानस के प्रारंभ में किया है। संभवतः उनके ही साथ रहते हुए इन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया। गोस्वामीजी के अध्यापक शेष सनातन नामक एक विद्वान् महात्मा कहे जाते हैं जो काशीनिवासी थे और महात्मा रामानंद के आश्रम में रहते थे। स्मार्त वैष्णवों से शिक्षा दीक्षा पाकर गोस्वामीजी भी उसी मत के अवलंबी बने। उनका अध्ययन-काल लगभग १५ वर्ष तक रहा। शिक्षा समाप्त कर गोस्वामीजी युवा अवस्था में घर लौटे, क्योंकि इसी समय उनके विवाह करने की बात कही जाती है।

गोस्वामीजी के विवाह के संबंध में कुछ शंका की जाती है। शंका का आधार उनका "ब्याह न बरेखी जाति पाँति ना चहत हौं" पद्यांश माना जाता है। परंतु उनके विवाह और विवाहित जीवन के संबंध में जो किंवदंतियाँ प्रचलित हैं और जो कुछ लिखा मिलता है उन पर सहसा अविश्वास नहीं किया जा सकता। गोस्वामीजी का स्त्री-प्रेम प्रसिद्ध है और स्त्री ही के कारण इनके विरक्त होकर भक्त बन जाने की बात भी कही जाती है। स्त्री के अपने मायके चले जाने पर तुलसीदास का प्रेम-विह्वल होकर घोर वर्षा में अपनी ससुराल जाना और वहाँ पत्नी-द्वारा फटकारे जाने पर घर छोड़कर चल देना भक्तमाल की टीका और बेणीमाधवदास के चरित से अनुमोदित है। यही नहीं वृद्धावस्था में भ्रमण करते हुए गोस्वामीजी का ससुराल में अपनी चिरवियुक्ता पत्नी से भेंट होने का विवरण भी

मिलता है। उस समय स्त्री का साथ चलने का अनुरोध निम्नांकित दोहे में बतलाया जाता है:—

खरिया खरी कपूर लौं, उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेलिकै, अचल करहु अनुराग॥

यह सब होते हुए भी कुछ आलोचकों की संमति में भी तुलसीदास के विवाह की बात भ्रांत जान पड़ती है। उनके ग्रंथों में स्त्रियों के संबंध में जो विरोधनात्मक उद्गार पाए जाते हैं, उनका आधार ग्रहण कर यह कहा जाता है कि गोस्वामीजी जन्म भर बैरागी रहे, स्त्री से उनका साक्षात्कार नहीं हुआ। अतएव वे स्त्रियों की विशेषताओं और सद्‌गुणों से परिचित नहीं हो सके। वही उनके विरोधनात्मक उद्‌गारों का कारण है। परंतु यह संमति विशेष तथ्यपूर्ण नहीं जान पड़ती। गोस्वामीजी ने स्त्रियों की प्रशंसा भी की है और निंदा भी। विवाह न करने से ही स्त्रियों के संबंध में किसी के कटु अनुभव होते हैं, यह बात नहीं है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि विवाह के संबंध में बाह्य और आभ्यंतर साक्ष्य मिलते हैं और जनश्रुतियाँ उनका अनुमोदन करती हैं। स्त्री से विरक्त होकर गोस्वामीजी साधु बन गए और घर छोड़कर देश के अनेक भूभागों तथा तीर्थों में घूमते रहे। इनका भ्रमण बड़ा विस्तृत था, उत्तर में मानसरोवर, दक्षिण में सेतुबंध रामेश्वर तक की इन्होंने यात्रा की थी। चित्रकूट की रम्य भूमि में इनकी वृत्ति अतिशय रमी थी, जैसा कि उनकी रचनाओं से स्पष्ट हो जाता है। काशी, प्रयाग और अयोध्या इनके स्थायी निवासस्थान थे। जहाँ ये वर्षों रहते और ग्रंथ-रचना करते थे। मथुरा, वृंदावन आदि कृष्ण-तीर्थों की भी आपने यात्रा की थी और यहीं कहीं इनकी "कृष्ण-गीतावली" लिखी गई थी। इसी भ्रमण में गोस्वामीजी ने पचीसों

वर्ष लगा दिए थे और बड़े बड़े महात्माओं की संगति की थी। कहते हैं कि एक बार जब ये चित्रकूट में थे तब संवत् १६१६ में महात्मा सूरदास इनसे मिलने आए। कवि केशवदास और रहीम खानखाना से भी इनकी भेंट होने की बात प्रचलित है।

अंत में ये काशी में आकर रहे और संवत् १६३१ में अपना प्रसिद्ध ग्रंथ "रामचरितमानस" लिखने बैठे। उसे इन्होंने लगभग ढाई वर्षों में समाप्त किया। रामचरितमानस का कुछ अंश काशी में लिखा गया है, कुछ अन्यत्र भी। इस ग्रंथ की रचना से इनकी बड़ी ख्याति हुई। उस काल के प्रसिद्ध विद्वान् और संस्कृतज्ञ मधुसूदन सरस्वती ने इनकी बड़ी प्रशंसा की थी। स्मरण रखना चाहिये कि संस्कृत के विद्वान् उस समय भाषा कविता को हेय समझते थे। ऐसी अवस्था में उनकी प्रशंसा का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। गोस्वामी तुलसीदास को उनके जीवन-काल में जो प्रसिद्धि मिली, वह निरंतर बढ़ती ही गई। और अब तो यह सर्वव्यापिनी हो रही है। 'रामचरितमानस' लिख चुकने के उपरांत गोस्वामीजी आत्मोद्धार की ओर प्रवृत्त हुए। अब तक उन्होंने राम के चरित्र का चित्रण कर लोक-धर्म की प्रतिष्ठा की ओर विशेष ध्यान दिया था। अब वे साधना के क्षेत्र में आकर आत्मनिवेदन की ओर खिंचे। उनकी विनय-पत्रिका इसी समय की रचना है। भक्त का दैन्य और आत्मग्लानि दिखाकर, प्रभु की क्षमता और क्षमाशीलता का चित्र अपने हृदय-पटल पर अंकित कर तथा भक्त और प्रभु के अविच्छिन्न संबंध पर ज़ोर देकर गोस्वामीजी ने विनय-पत्रिका को भक्तों का प्रिय ग्रंथ बना दिया। यद्यपि उनके उपास्य देव राम थे तथापि पत्रिका में गणेश और शिव आदि की वंदना कर एक ओर तो गोस्वामीजी ने लौकिक पद्धति का अनुकरण किया है और

दूसरी ओर अपने उदार हृदय का परिचय दिया है। उत्तर भारत में कट्टरपन की श्रृंखला को शिथिल कर धार्म्मिक उदारता का प्रचार करनेवालों में गोस्वामीजी अग्रणी हैं। ऐसी जनश्रुति है कि विनय-पत्रिका की रचना गोस्वामीजी ने काशी में गोपाल-मंदिर में की थी। गोस्वामीजी की मृत्यु काशी में संवत् १६८० में हुई थी। काशी में उस समय महामारी का प्रकोप था और तुलसीदास भी उससे आक्रांत हुए थे। प्लेग उन्हें हो गया था पर कहा जाता है कि महावीरजी की वंदना करने से उनकी बीमारी जाती रही थी परंतु वे इसके उपरांत अधिक दिन तक जीवित नहीं रहे। ऐसा जान पड़ता है कि इस रोग ने उनके वृद्ध शरीर को जीर्ण-शीर्ण कर दिया था। मृत्यु-तिथि के संबंध में अब तक मतविभेद है। अनुप्रास-पूरित इस दोहे के अनुसारः—

संवत् सोलह सौ असी, असी गंग के तीर।
सावन शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

परंतु वेणीमाधवदास के गोसाईं-चरित में उनकी मृत्यु-तिथि संवत् १६८० की श्रावण श्यामा तीज, शनिवार लिखी हुई है। अनुसंधान करने पर यह तिथि ठीक ही ठहरी; क्योंकि एक तो तीज के दिन शनिवार का होना ज्योतिष की गणना से ठीक उतरा। और गोस्वामीजी के घनिष्ट मित्र टोडर के वंश में तुलसीदासजी की मृत्यु-तिथि के दिन एक सीधा देने की परिपाटी अब तक चली आती है। वह सीधा श्रावण के कृष्ण पक्ष में तृतीया के दिन दिया जाता है "सावन शुक्ला सप्तमी" को नहीं।

महाकवि तुलसीदास का जो व्यापक प्रभाव भारतीय जनता पर है उसका कारण उनकी उदारता, उनकी विलक्षण प्रतिभा तथा उनके उद्गारों की सत्यता आदि तो हैं ही, साथ ही उसका

सबसे बड़ा कारण है उनका विस्तृत अध्ययन और उनकी सार-ग्रहिणी प्रवृत्ति। "नानापुराण निगमागमसंमत" रामचरितमानस लिखने की बात अन्यथा नहीं है, सत्य है। भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों को गोस्वामीजी ने विविध शास्त्रों से ग्रहण किया था और समय के अनुरूप उन्हें अभिव्यंजित करके अपनी अपूर्व दूरदर्शिता का परिचय दिया था। यों तो उनके अध्ययन का विस्तार प्रायः अपरिसीम था, परंतु उन्होंने प्रधानतः वाल्मीकि रामायण का आधार लिया है, साथ ही उन पर वैष्णव महात्मा रामानंद की छाप स्पष्ट देख पड़ती है। उनके रामचरितमानस में मध्यकालीन धर्मग्रंथों की विशेषतः अध्यात्मरामायण, योगवाशिष्ठ तथा अद्भुत रामायण का प्रभाव कम नहीं है। भुसुंडि-रामायण और हनुमन्नाटक नामक ग्रंथों का ऋण भी गोस्वामीजी को स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाल्मीकि-रामायण की कथा लेकर उसमें मध्यकालीन धर्मग्रंथों के तत्त्वों का समावेश कर साथ ही अपनी उदार बुद्धि और प्रतिभा से अद्भुत चमत्कार उत्पन्न कर उन्होंने जिस अनमोल साहित्य का सृजन किया, वह उनकी सारग्रहिणी प्रवृत्ति के साथ ही उनकी प्रगाढ़ मौलिकता का भी परिचायक है। गोस्वामीजी की समस्त रचनाओं में उनका रामचरितमानस ही सर्वश्रेष्ठ रचना है और उसका प्रचार उत्तर भारत में घर घर है। गोस्वामी-जी का स्थायित्व और गौरव उसी पर सबसे अधिक अवलंबित है। रामचरितमानस करोड़ों भारतीयों का एकमात्र धर्मग्रंथ है। जिस प्रकार संस्कृत-साहित्य में वेद, उपनिषद् तथा गीता आदि पूज्य दृष्टि से देखे जाते हैं, उसी प्रकार आज संस्कृत का लेशमात्र ज्ञान न रखनेवाली जनता भी करोड़ों की संख्या में रामचरितमानस को पढ़ती और वेद आदि की ही भाँति उसका

संमान करती है। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि गोस्वामीजी के अन्य ग्रंथ निम्नकोटि के हैं। गोस्वामीजी की प्रतिभा सबमें समान रूप से लक्षित होती है, पर रामचरितमानस की प्रधानता अनिवार्य है। गोस्वामीजी ने हिंदूधर्म्म का सच्चा स्वरूप राम के चरित्र में अंतर्निहित कर दिया है। धर्म्म और समाज की कैसी व्यवस्था होनी चाहिये; राजा, प्रजा, ऊँच, नीच, द्विज-शूद्र आदि सामाजिक सूत्रों के साथ माता-पिता, गुरु, भाई आदि पारिवारिक संबंध का कैसा निर्वाह होना चाहिये—आदि जीवन के सरलतम और जटिलतम प्रश्नों का बड़ा ही विशद् विवेचन इस ग्रंथ में मिलता है। हिंदुओं के सब देवता सब रीति-नीति, वर्णाश्रम-व्यवस्था तुलसीदासजी को सब स्वीकार हैं। शिव उनके लिये उतने ही पूज्य हैं जितने स्वयं राम। वे भक्त होते हुए भी ज्ञान-मार्ग के अद्वैतवाद पर आस्था रखते हैं X संक्षेप में वे व्यापक हिंदूधर्म के संकलित संस्करण हैं और उनके रामचरितमानस में उनका वह रूप बड़ी ही मार्मिकता से व्यक्त हुआ है। उनकी उत्कट राम-भक्ति ने उन्हें इतना ऊँचा उठा दिया है कि क्या कवित्व की दृष्टि से और क्या धार्म्मिक दृष्टि से रामचरितमानस को किसी अलौकिक पुरुष की अलौकिक कृति मानकर आनंदमग्न होकर हम उसके विधि-निषेधों को चुपचाप स्वीकार करते हैं। किसी छोटे भूभाग में नहीं, सारे उत्तर भारत में, स्वल्प संख्याद्वारा नहीं, करोड़ों व्यक्तियोंद्वारा आज-कल उनका रामचरितमानस सारी समस्याओं का समाधान करनेवाला और अनंत कल्याणकारी माना जाता है। इन्हीं कारणों से उसकी प्रधानता है। गोस्वामी के रामचरितमानस व विनय-पत्रिका के अतिरिक्त दोहावली, कवितावली, गीतावली, रामाज्ञाप्रश्न आदि बड़े ग्रंथ तथा बरवै

रामायण, रामललानहछू, कृष्णगीतावली, वैराग्यसंदीपिनी, पार्वतीमंगल और जानकीमंगल छोटी रचनायें प्रसिद्ध हैं। उनकी बनाई अन्य पुस्तकों का नामोल्लेख शिवसिंहसरोज में किया गया है। परंतु उनमें से कुछ तो अप्राप्य हैं और कुछ उनके उपर्युक्त ग्रंथों में संमिलित हो गई हैं तथा कुछ संदिग्ध हैं। साधारणतः ये ही ग्रंथ गोस्वामीजी-रचित निर्विवाद माने जाते हैं। बाबा बेणीमाधवदास ने गोस्वामीजी की "रामसतसई" का भी उल्लेख किया है। कुछ लोगों का कहना है कि उसकी रचना गोस्वामी-जी की अन्य कृतियों के समान नहीं है; क्योंकि उसमें अनेक दोहे क्लिष्ट और पहेली आदि के रूप में आए हैं जो चमत्कारवादी कवियों को ही प्रिय होते हैं, गोस्वामीजी जैसे कलामर्मज्ञों को नहीं। फिर भी बेणीमाधवदास का साक्ष्य एक-दम अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

कहा जाता है गोस्वामीजी ने नर-काव्य नहीं किया। केवल एक स्थान पर अपने काशीवासी मित्र टोडर की प्रशंसा में दो चार दोहे कहे हैं, अन्यत्र सर्वत्र अपने उपास्य देव राम की ही महिमा गाई है और राम की कृपा से गौरवान्वित व्यक्तियों का रामकथा के प्रसंग में नाम लिया है। "कीन्हे प्राकृत जन गुण-गाना, सिर धुनि गिरा लाग पछताना" का पद इस तथ्य की ओर संकेत करता है। यद्यपि गोस्वामीजी ने किसी विशेष मनुष्य की प्रशंसा नहीं की है और अधिकतर अपनी वाणी का उपयोग रामगुण-कीर्तन में ही किया है, पर रामचरित्र के भीतर मानवता के जो उदात्त आदर्श फूट निकले हैं वे मनुष्य-मात्र के लिये कल्याणकर हैं। यही नहीं रामचरित्र के बाहर भी जाकर उन्होंने मानव-समाज के लिये हितकर पथ का निर्देश किया है। उदाहरणार्थ दोहावली में उन्होंने सच्चे प्रेम की जो आभा चातक

और घन के प्रेम में दिखलाई है, अलोकोपयोगी उच्छृंखलता का जो खंडन साखी-शब्दी-दोहाकारों की निंदा करके किया है, रामचरितमानस में मर्यादावाद की जैसी सुंदर पुष्टि शिष्य की गुरु की अवहेलना को दंडित करने की है; रामराज्य का वर्णन करके जो उदात्त आदर्श रक्खा है उनमें और ऐसे ही अनेक प्रसंगों में गोस्वामीजी की मनुष्यसमाज के प्रति हितकामना स्पष्टतः झलकती देखी जाती है। उनके अमर काव्यों में मानवता के चिरंतन आदर्श भरे पड़े हैं।

यह सब होते हुए भी तुलसीदास ने जो कुछ लिखा है स्वांतः सुखाय लिखा है। उपदेश देने की अभिलाषा से अथवा कवित्व-प्रदर्शन की कामना से जो कविता की जाती है, उसमें आत्मा की प्रेरणा न होने के कारण स्थायित्व नहीं होता। कला का जो उत्कर्ष हृदय से सीधी निकली हुई रचनाओं से होता है वह अन्यत्र मिलना असंभव है। गोस्वामीजी की यह विशेषता उन्हें हिंदी कविता के शीर्षासन पर ला रखती है। एक ओर तो वे काव्य-चमत्कार का प्रदर्शन करनेवाले केशव आदि से सहज में ही ऊपर आ जाते हैं और दूसरी ओर उपदेशों का सहारा लेनेवाले कबीर आदि भी उनके सामने नहीं ठहर पाते। कवित्व की दृष्टि से जायसी का क्षेत्र तुलसीदास की अपेक्षा अधिक संकुचित है और सूरदास के उद्‌गार सत्य और सबल होते हुए भी उतने व्यापक नहीं हैं। इस प्रकार केवल कविता की दृष्टि से ही तुलसी हिंदी के अद्वितीय कवि ठहरते हैं। इसके साथ ही जब हम भाषा पर उनके अधिकार तथा जनता पर उनके उपकार की तुलना अन्य कवियों से करते हैं तब गोस्वामीजी की अनुपम महत्ता का साक्षात्कार स्पष्ट रीति से हो जाता है।

गोस्वामीजी की रचनाओं का महत्त्व उनमें व्यंजित भावों

की विशदता और व्यापकता से ही नहीं, उनकी मौलिक उद्भावनाओं तथा चमत्कारिक वर्णनों से भी है। यद्यपि रामायण की कथा उन्हें वाल्मीकि से बनी बनाई मिल गई थी, परंतु उसमें भी गोस्वामीजी ने यथोचित परिवर्तन किए हैं। हनुमान की सीता की खोज में लंका जाने की कथा तो वाल्मीकि-रामायण में भी है परंतु सीताजी की शोकविह्वल अवस्था में उनका अशोक के ऊपर से अँगूठी गिराना और सीता का उसे अंगार समझकर उठा लेना स्वामीजी की उद्भावना है। ऐसे ही अन्यत्र भी अन्य अन्य चमत्कारपूर्ण परिवर्तन हैं। गोस्वामीजी के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की अद्भुत क्षमता रामचरितमानस की मंथरा में देख पड़ती है। भरत का आदर्श चरित्र खड़ा करने और कैकेयी की आत्मग्लानि दिखलाने में गोस्वामीजी को स्वतंत्र पथ का अनुसरण करना पड़ा है। सुग्रीव और विभीषण के चरित्रों से जितनी सहानुभूति उन्हें है उतनी वाल्मीकि को नहीं। प्रकृति के रम्य रूपों का चित्र खड़ा करने की क्षमता हिंदी के कवियों में बहुत कम है; परंतु गोस्वामीजी ने चित्रकूट-वर्णन में संस्कृत कवियों से टक्कर ली है। इतना ही नहीं भावों के अनुरूप भाषा लिखने तथा प्रबंध में संबंध-निर्वाह और चरित्र-चित्रण का निरंतर ध्यान रखने में वे अपनी समता नहीं रखते। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाल्मीकि-रामायण के आधार पर जो ग्रंथ अन्य प्रांतीय भाषाओं में लिखे गए, उनमें और गोस्वामीजी की रचनाओं में महान् अंतर है। उत्कट रामभक्ति के कारण उनके रामचरितमानस में उच्च सदाचार का जो एक प्रवाह सा बहा है वह तो वाल्मीकि-रामायण से अधिक गंभीर और पूत है।

जायसी संस्कृतज्ञ नहीं थे; अतः उनकी भाषा ग्रामीण अवधी थी, उसमें साहित्यिकता की छाप नहीं थी। परंतु गोस्वामीजी

संस्कृतज्ञ और शास्त्रज्ञ थे। अतः कुछ स्थानों पर ठेठ अवधी का प्रयोग करते हुए भी अधिकांश स्थानों में संस्कृत-मिश्रित अवधी का प्रयोग किया है। इससे इनके रामचरितमानस में प्रसंगानुसार उपर्युक्त दोनों प्रकार की भाषाओं का माधुर्य दिखाई देता है। यह तो हुई उनके रामचरितमानस की बात। उनकी विनय-पत्रिका, गीतावली और कवितावली आदि में ब्रजभाषा व्यवहृत हुई है। शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी यह ब्रजभाषा विकसित होकर गोस्वामीजी के समय तक पूर्णतया साहित्य की भाषा बन चुकी थी। क्योंकि सूरदास आदि भक्त कवियों की विस्तृत रचनायें इसमें हो रही थीं। गोस्वामीजी ने ब्रज-भाषा में भी अपनी संस्कृत-पदावली का संमिश्रण किया और उसे उपर्युक्त प्रौढ़ता प्रदान की। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहाँ एक ओर तो जायसी और सूर का भाषा-ज्ञान क्रमशः अवधी और ब्रजभाषा तक ही परमित है, वहाँ गोस्वामीजी का इन दोनों भाषाओं पर समान अधिकार है और उन दोनों में संस्कृत के समावेश से नवीन चमत्कार उत्पन्न कर देने की क्षमता तो अकेले उन्हीं में है।

गोस्वामी तुलसीदास के विभिन्न ग्रंथों में जिस प्रकार भाषा-भेद है, उसी प्रकार छंदभेद भी है। रामचरितमानस में उन्होंने जायसी की तरह दोहे-चौपाइयों का क्रम रक्खा है। परंतु साथ ही हरिगीतिका आदि लंबे तथा सोरठा आदि छोटे छंदों का भी बीच बीच में व्यवहार कर उन्होंने छंद-परिवर्तन की ओर ध्यान रक्खा है। रामचरितमानस के लंकाकांड में जो युद्ध वर्णन है उसमें चंद आदि वीर कवियों के छंद भी लाए गए हैं। कविता-वली में सवैया और कवित्त छंदों में कथा कही गई है, जो भाटों की परंपरा के अनुसार है। कवितावली में राजा राम की राजश्री

का जो विशद् वर्णन है उसके अनुकूल कवित्त छंद का व्यवहार उचित ही हुआ है। विनय-पत्रिका तथा गीतावली आदि में ब्रज-भाषा के सगुणोपासक संत महात्माओं के गीतों की प्रणाली स्वीकृत की गई है। गीत-काव्य का सृजन पाश्चात्य देशों में संगीत-शास्त्र के अनुसार हुआ है। वहाँ की लौरिक कविता आरंभ में वीणा के साथ गाई जाती थी। ठीक उसी प्रकार हिंदी के गीत-काव्यों में भी संगीत के राग-रागिनियों को ग्रहण किया गया है। दोहावली, बरवै रामायण आदि में तुलसीदासजी ने छोटे छंदों में नीति आदि के उपदेश दिए हैं। अथवा अलंकारों की योजना के साथ फुटकर में भावव्यंजना की है। सारांश यह कि गोस्वामीजी ने अनेक शैलियों में अपने ग्रंथों की रचना की है और आवश्यकतानुसार उनमें विविध छंदों का प्रयोग किया है। इस कार्य्य में गोस्वामीजी की सफलता विस्मयकारिणी है। हिंदी की जो व्यापक क्षमता और जो प्रचुर अभिव्यंजन-शक्ति गोस्वामीजी की रचनाओं में देख पड़ती है वह अभूतपूर्व है। उनकी रचनाओं से हिंदी में पूर्ण प्रौढ़ता की प्रतिष्ठा हुई।

तुलसीदास के महत्त्व का ठीक ठीक अनुमान करने के लिये उनकी कृतियों को तीन प्रधान दृष्टियों से परीक्षा करनी पड़ेगी। भाषा की दृष्टि से, साहित्योत्कर्ष की दृष्टि से और संस्कृत के ग्रहण और व्यंजन की दृष्टि से। इन तीनों दृष्टियों से उनपर विचार करने का प्रयत्न ऊपर किया गया है जिसके परिणाम-स्वरूप हम उपसंहार में कुछ बातों का स्पष्टतः उल्लेख कर सकते हैं। उदाहरणार्थ हम यह कह सकते हैं कि गोस्वामीजी का ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था, और दोनों में ही संस्कृत की छटा उनकी कृतियों में दर्शनीय हुई है। छंदों और अलंकारों का समावेश भी पूरी सफलता के साथ किया

गया है। साहित्यिक दृष्टि से रामचरितमानस के जोड़ का दूसरा ग्रंथ हिंदी में नहीं देख पड़ता। क्या प्रबंध-कल्पना, क्या संबंध-निर्वाह, क्या वस्तु एवं भावव्यंजना, सभी उच्च कोटि की हुई हैं। पात्रों के चरित्र-चित्रण में सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय मिलता है और प्रकृति-वर्णन में हिंदी के कवि उनकी बराबरी नहीं कर सकते। अंतिम प्रश्न संस्कृति का है।

गोस्वामीजी ने देश के परंपरागत विचारों और आदर्शों को बहुत अध्ययन करके ग्रहण किया है और बड़ी सावधानी से उनकी रक्षा की है। उनके ग्रंथ आज जो देश की इतनी असंख्य जनता के लिये धर्म्मग्रंथ का काम दे रहे हैं, उसका कारण यही है। गोस्वामीजी हिंदू जाति, हिंदू धर्म्म और हिंदू संस्कृति को अक्षुण्ण रखनेवाले हमारे प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी यशःप्रशस्ति अमिट अक्षरों में प्रत्येक हिंदी-भाषा-भाषी के हृदय-पटल पर अनंत काल तक अंकित रहेगी इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। यह एक साधारण नियम है कि साहित्य के विकाश की परंपरा क्रमबद्ध होती है। इसमें कार्यकारण का संबंध प्रायः ढूँढ़ा और पाया जाता है। एक कालविशेष के कवियों को यदि हम फल-स्वरूप मान लें, तो उनके उत्तरवर्ती ग्रंथकारों को फूलस्वरूप मानना पड़ेगा। फिर ये फूलस्वरूप ग्रंथकार समय पाकर अपने पूर्ववर्ती ग्रंथकारों के फलस्वरूप और उत्तरवर्ती ग्रंथकारों के फूलस्वरूप होंगे। इस प्रकार यह क्रम सर्वथा चला जायगा और समस्त साहित्य एक लड़ी के समान होगा जिसकी भिन्न भिन्न कड़ियाँ उस साहित्य के काव्यकार होंगे। इस सिद्धांत को सामने रखकर यदि हम तुलसीदासजी के संबंध में विचार करते हैं, तो हमें पूर्ववर्ती काव्यकारों की कृतियों का क्रमशः विक-सित रूप तो तुलसीदासजी में देख पड़ता है, पर उनके पश्चात्

यह विकाश आगे बढ़ता हुआ नहीं जान पड़ता। ऐसा भास होने लगता है कि तुलसीदासजी में हिंदी-साहित्य का पूर्ण विकाश संपन्न हो गया और उनके अनंतर फिर क्रमोन्नत विकाश की परंपरा बंद हो गई तथा उसकी प्रगति ह्रास की ओर उन्मुख हुई। सच बात तो यह है कि गोस्वामी तुलसीदास में हिंदी कविता की सर्वतोमुखी उन्नति हुई, वह उनकी कृतियों में चरम सीमा तक पहुँच गई। उसके आगे फिर कुछ करने को नहीं रह गया। इसमें गोस्वामीजी की उत्कृष्ट योग्यता और प्रतिभा देख पड़ती है। गोस्वामीजी के पीछे उनकी नक़ल करनेवाले तो बहुत हुए, पर ऐसा एक भी न हुआ कि जो उनसे बढ़कर हो या कम से कम उनकी समकक्षता कर सकता हो। हिंदी कविता के कीर्ति-मंदिर में गोस्वामीजी का स्थान सबसे ऊँचा और सबसे विशिष्ट है। उस स्थान के बराबर का स्थान पाने का कोई अधिकारी अब तक उत्पन्न नहीं हुआ है। इस अवस्था में हमको गोस्वामीजी को हिंदी-कवियों की रत्नमाला का सुमेरु मानकर ही पूर्व कथित साहित्य-विकाश के सिद्धांत की समीक्षा करनी पड़ेगी।

सोहाग का शव

मध्य-प्रदेश के एक पहाड़ी गाँव में एक छोटे-से घर की छत पर एक युवक मानों संध्या की निस्तब्धता में लीन हुआ-सा बैठा था। सामने चंद्रमा के मलिन प्रकाश में आर्द्र पर्वत-मालाएँ अनंत के स्वप्न की भाँति गंभीर, रहस्यमयी, संगीतमय, मनोहर

मालूम होती थीं। उन पहाड़ियों के नीचे जल-धारा की एक रौप्य रेखा ऐसी मालूम होती थी मानों उन पर्वतों का समस्त संगीत, समस्त गांभीर्य, संपूर्ण रहस्य इसी उज्ज्वल प्रवाह में लीन हो गया हो। युवक की वेश-भूषा से प्रकट होता था कि उसकी दशा बहुत संपन्न नहीं है। हाँ, उसके मुख से तेज और मनस्विता झलक रही थी। उसकी आँखों पर ऐनक न थी, न मूँछें मुड़ी हुई थीं, न बाल सँवारे हुए थे, कलाई पर घड़ी न थी, यहाँ तक कि कोट के जेब में फाउंटेनपेन भी न था। या तो वह सिद्धांतों का प्रेमी था, या आडंबरों का शत्रु।

युवक विचारों में मौन उसी पर्वत-माला की ओर देख रहा था कि सहसा बादल की गरज से भी भयंकर ध्वनि सुनाई पड़ी। नदी का मधुर गान उस भीषण नाद में डूब गया। ऐसा मालूम हुआ मानों उस भयंकर नाद ने पर्वतों को भी हिला दिया है, मानों पर्वतों में कोई घोर संग्राम छिड़ गया है। यह रेलगाड़ी थी जो नदी पर बने हुए पुल से चली आ रही थी।

एक युवती कमरे से निकल कर छत पर आई और बोली—'आज अभी से गाड़ी आ गई! इसे भी आज ही वैर निभाना था।'

युवक ने युवती का हाथ पकड़कर कहा—'प्रिये, मेरा जी चाहता है कहीं न जाऊँ। मैंने निश्चय कर लिया। मैंने तुम्हारी ख़ातिर से हामी भर ली थी, पर अब जाने की इच्छा नहीं होती। तीन साल कैसे कटेंगे?'

युवती ने कातर स्वर में कहा—'तीन साल के वियोग के बाद फिर तो जीवन-पर्यंत कोई बाधा न खड़ी होगी। एक बार जो निश्चय कर लिया है उसे पूरा ही कर डालो। अनंत सुख की आशा में मैं सारे कष्ट झेल लूँगी।'

यह कहते हुए युवती जलपान लाने के बहाने से फिर भीतर चली गई। आँसुओं का आवेश उसके क़ाबू के बाहर हो गया। इन दोनों प्राणियों के वैवाहिक जीवन की यह पहली ही वर्षगाँठ थी। युवक बंबई-विश्वविद्यालय में एम० ए० की उपाधि लेकर नागपुर के एक कॉलेज में अध्यापक था। नवीन युग के नए-नए वैवाहिक और सामाजिक क्रांतियों ने उसे लेशमात्र भी विचलित न किया था। पुरानी प्रथाओं से ऐसी प्रगाढ़ ममता कदाचित् वृद्धजनों को भी कम होगी। प्रोफ़ेसर हो जाने के बाद उसके माता-पिता ने इस बालिका से उसका विवाह कर दिया था। प्रथानुसार ही उस आँखमिचौनी के खेल में उन्हें प्रेम का रत्न मिल गया। केशव छुट्टियों में यहाँ पहली गाड़ी से आता और आख़िरी गाड़ी से जाता। ये दो-चार दिन मीठे स्वप्न के समान कट जाते थे। दोनों, बालकों की भाँति रो-रोकर, बिदा होते। इसी कोठे पर खड़ी होकर वह उसको देखा करती जब तक निर्दयी पहाड़ियाँ उसे आड़ में न कर लेतीं।

पर अभी साल भी न गुज़रने पाया था कि वियोग ने अपना षड्यंत्र रचना शुरू कर दिया। केशव को विदेश जाकर शिक्षा पूरी करने के लिये एक वृत्ति मिल गई। मित्रों ने बधाइयाँ दीं। किसके ऐसे भाग्य हैं जिसे बिना माँगे स्वभाव-निर्माण का ऐसा अवसर प्राप्त हो। केशव बहुत प्रसन्न न था। वह इसी दुविधा में पड़ा हुआ घर आया। माता-पिता और अन्य संबंधियों ने इस यात्रा का घोर विरोध किया। नगर में जितनी बधाइयाँ मिली थीं यहाँ कहीं उससे अधिक बाधाएँ मिलीं। किंतु सुभद्रा की उच्चाकांक्षाओं की सीमा न थी। वह कदाचित् केशव को इंद्रासन पर बैठा हुआ देखना चाहती थी। उसके सामने तब भी वही पति-सेवा का आदर्श होता था। वह तब भी उसके सिर में तेल

डालेगी, उसकी धोती छाँटेगी, उसके पैर दबाएगी और उसके पंखा झलेगी। उपासक की महत्त्वाकांक्षा उपास्य के ही प्रति होती है, वह उसको सोने का मंदिर बनाएगा, उसके सिंहासन को रत्नों से सजाएगा, स्वर्ग से पुष्प लाकर उसके भेंट करेगा, पर वह स्वयं वही उपासक रहेगा। जटा के स्थान पर मुकुट या कौपीन की जगह पीतांबर की लालसा उसे कभी नहीं सताती। सुभद्रा ने उस वक्त तक दम न लिया, जब तक केशव ने विलायत जाने का वादा न कर दिया। माता-पिता ने उसे कलंकिनी, और न-जाने क्या-क्या कहा, पर अंत में सहमत हो गए। सब तैयारियाँ हो गईं। स्टेशन समीप ही था। वहाँ गाड़ी देर तक खड़ी रहती है। स्टेशनों के समीपस्थ गाँवों के निवासियों के लिये गाड़ी का आना शत्रु का धावा नहीं, मित्र का पदार्पण है। गाड़ी आ गई। सुभद्रा जलपान बनाकर पति को हाथ धुलाने आई थी। इस समय केशव की प्रेम-कातर आपत्ति ने उसे एक क्षण के लिये विचलित कर दिया। हा! कौन जानता है तीन साल में क्या हो जाय! मन में एक आवेश उठा—कह दूँ प्यारे मत जाओ। थोड़ा ही खाएँगे, मोटा ही पहिनेंगे, रो-रोकर दिन तो न कटेंगे। कभी केशव के आने में एक-आध महीना लग जाता था, तो वह विकल हो जाया करती थी। यही जी चाहता था उड़कर उनके पास पहुँच जाएँ। फिर ये निर्दयी तीन वर्ष कैसे कटेंगे? लेकिन उसने बड़ी कठोरता से इन निराशाजनक भावों को ठुकरा दिया और काँपते हुए कंठ से बोली—'जी तो मेरा भी यही चाहता है।' जब तीन साल का अनुमान करती हूँ, तो एक कल्प-सा मालूम होता है। लेकिन जब विलायत में तुम्हारे आदर और संमान का ध्यान करती हूँ, तो ये तीन साल तीन दिन-से मालूम होते हैं। तुम तो जहाज़ पर पहुँचते ही मुझे भूल जाओगे। नए-नए

दृश्य तुम्हारे मनोरंजन के लिये आ खड़े होंगे। योरप पहुँचकर विद्वानों के सत्संग में तुम्हें घर की याद भी न आएगी। मुझे तो रोने के सिवा और कोई धंधा नहीं है। यही स्मृतियाँ ही मेरे जीवन का आधार होंगी। लेकिन क्या करूँ, जीवन की भोग-लालसा तो नहीं मानती। फिर जिस वियोग का अंत जीवन की सारी विभूतियाँ अपने साथ लाएगा वह वास्तव में तपस्या है। तपस्या के बिना तो वरदान नहीं मिलता।

केशव को भी अब ज्ञात हुआ कि क्षणिक मोह के आवेश में स्वभाव-निर्माण का ऐसा अच्छा अवसर त्याग देना मूर्खता है। खड़े होकर बोले—बहुत रोना-धोना मत, नहीं तो मेरा जी न लगेगा। सुभद्रा ने उनका हाथ पकड़कर हृदय से लगाते हुए उनके मुँह की ओर सजल नेत्रों से देखा और बोली—'पत्र बराबर भेजते रहना।' 'अवश्य भेजूँगा। प्रतिसप्ताह लिखूँगा।'

सुभद्रा ने सजल नेत्रों से मुसकराकर कहा—'देखना विला-यती मिसों के जाल में न फँस जाना।' केशव फिर चारपाई पर बैठ गया और बोला—'अगर तुम्हें यह संदेह है तो लो मैं जाऊँगा ही नहीं।'

सुभद्रा ने उसके गले में बाहें डालकर विश्वासपूर्ण दृष्टि से देखा और बोली—'मैं दिल्लगी कर रही थी।'

"अगर इंद्रलोक की अप्सरा भी आ जाय तो आँख उठाकर न देखूँ। ब्रह्मा ने ऐसी दूसरी सृष्टि की ही नहीं।"

"बीच में कोई छुट्टी मिले, तो एक बार चले आना।"

"नहीं प्रिये, बीच में शायद छुट्टी न मिलेगी। मगर जो मैंने सुना कि तुम रो-रोकर घुली जाती हो, दाना-पानी छोड़ दिया है, तो मैं अवश्य चला आऊँगा। वे फूल ज़रा भी कुम्हलाने न पावें।"

दोनों गले मिलकर विदा हो गए। बाहर संबंधियों और मित्रों का एक समूह खड़ा था। केशव ने बड़ों के चरण छुए, छोटों को गले लगाया और स्टेशन की ओर चले। मित्रगण स्टेशन तक पहुँचाने गए। एक क्षण में गाड़ी यात्री को लेकर चल दी।

उधर केशव गाड़ी में बैठा हुआ पहाड़ियों की बहार देख रहा था, इधर सुभद्रा भूमि पर पड़ी सिसकियाँ भर रही थी।

(२)

दिन गुज़रने लगे, उसी तरह जैसे बीमारी के दिन कटते हैं, दिन पहाड़, रात काली बला, रात भर मनाते गुज़रती थी कि किसी तरह भोर हो, भोर होता तो मनाने लगती जल्दी शाम हो। मैके गई कि वहाँ जी बहलेगा, दस पाँच दिन परिवर्तन का कुछ असर हुआ, फिर उससे भी बुरी दशा हुई, भागकर ससुराल चली आई। रोगी करवट बदलकर आराम का अनुभव करता है।

पहले पाँच-छः महीनों तक तो केशव के पत्र पंद्रहवें दिन बराबर मिलते रहे। उनमें वियोग-दुःख के नए-नए दृश्यों का वर्णन अधिक होता था। कुशल से हैं, उसके लिये यही काफ़ी था। इसके प्रतिकूल वह पत्र लिखती, तो विरह-व्यथा के सिवा उसे कुछ सूझता ही न था। कभी-कभी जब जी बेचैन हो जाता, तो पछताती कि व्यर्थ जाने दिया। कहीं एक दिन मर जाऊँ, तो उनके दर्शन भी न हों।

लेकिन छठे महीने से पत्रों में भी विलंब होने लगा। कई महीने तक तो महीने में एक पत्र आता रहा, फिर वह भी बंद हो गया। सुभद्रा के ४, ६ पत्र पहुँच जाते, तो एक पत्र आ जाता, वह भी बेदिली से लिखा हुआ—काम की अधिकता और समय के अभाव के रोने से भरा हुआ। एक वाक्य भी ऐसा नहीं,

जिससे हृदय को शांति हो, जो टपकते हुए दिल का मरहम रखे। हाय! आदि से अंत तक 'प्रिये' शब्द का नाम नहीं! सुभद्रा अधीर हो उठी। उसने योरप-यात्रा का निश्चय कर लिया। वह सारे कष्ट सह लेगी, सिर पर जो कुछ पड़ेगी झेल लेगी, केशव को आँखों से देखती तो रहेगी। वह इस बात को उनसे गुप्त रक्खेगी, उनकी कठिनाइयों को और न बढ़ावेगी, उनसे बोलेगी भी नहीं, केवल उन्हें कभी-कभी आँख भरकर देख लेगी। यह उसकी शांति के लिये क़ाफी होगा। उसे क्या मालूम था कि उसका केशव अब उसका नहीं रहा। वह अब एक दूसरी ही कामिनी के प्रेम का भिखारी है। ✗

सुभद्रा कई दिनों तक इस प्रस्ताव को मन में रक्खे हुए सोचती रही। उसे किसी प्रकार की शंका न होती थी। समाचार-पत्रों के पढ़ते रहने से उसे समुद्री यात्रा का हाल मालूम होता रहता था। एक दिन उसने अपने सास-ससुर के सामने अपना निश्चय प्रकट किया। उन लोगों ने बहुत समझाया, रोकने की बहुत चेष्टा की, लेकिन उसने अपना हठ न छोड़ा। आख़िर जब लोगों ने देखा कि यह किसी तरह नहीं मानती, तो राज़ी हो गए। मैकेवाले भी समझाकर हार गए। कुछ रुपये उसने स्वयं जमा कर रक्खे थे, कुछ ससुराल में मिले, माँ-बाप ने भी मदद की। रास्ते के ख़र्च की चिंता न रही। इंगलैंड पहुँचकर वह क्या करेगी, इसका अभी उसने कुछ निश्चय न किया। इतना जानती थी कि परिश्रम करनेवाले को रोटियों की कमी नहीं रहती।

बिदा होते समय सास और ससुर दोनों स्टेशन तक आए। जब गाड़ी ने सीटी दी, तो सुभद्रा ने हाथ जोड़कर कहा—'मेरे जाने का समाचार वहाँ न लिखिएगा। नहीं उन्हें चिंता होगी और पढ़ने में उनका जी न लगेगा।'

ससुर ने आश्वासन दिया। गाड़ी चल दी।

(३)

लंदन के उस हिस्से में जहाँ इस समृद्धि के समय में भी दरिद्रता का राज्य है, ऊपर के एक छोटे-से कमरे में सुभद्रा एक कुर्सी पर बैठी है। उसे यहाँ आए आज एक महीना हो गया है। यात्रा के पहले उसके मन में जितनी शंकाएँ थीं सभी शांत होती जा रही हैं। बंबई बंदर में जहाज़ पर जगह पाने का प्रश्न बड़ी आसानी से हल हो गया। वह अकेली औरत न थी जो योरप जा रही हो। पाँच-छः स्त्रियाँ और भी उसी जहाज़ से जा रही थीं। सुभद्रा को न जगह मिलने में कोई कठिनाई हुई, न मार्ग में। यहाँ पहुँचकर और स्त्रियों से उसका संग छूट गया। कोई किसी विद्यालय में चली गई, दो-तीन अपने पतियों के पास चली गईं। जो यहीं पहले से आ गए थे। सुभद्रा ने इस महल्ले में यह कमरा ले लिया। जीविका का प्रश्न भी उसके लिये बहुत कठिन न रहा। जिन महिलाओं के साथ वह आई थी, उनमें से कई उच्च अधिकारियों की पत्नियाँ थीं। कई अच्छे-अच्छे अँगरेज़ घरानों से उनका परिचय था। सुभद्रा को दो महिलाओं को भारतीय संगीत और हिंदी भाषा सिखाने का काम मिल गया। शेष समय में वह कई भारतीय महिलाओं के कपड़े सीने का काम कर लेती है। केशव का निवास-स्थान वहाँ से निकट है, इसी लिये सुभद्रा ने इस महल्ले को पसंद किया है। कल केशव उसे दिखाई दिया था। ओह! उसे उतरते देखकर उसका चित्त कितना आतुर हो उठा था। बस यही मन में आता था कि दौड़-कर उनके गले से लिपट जाय और पूछे—'क्यों जी, तुम यहाँ आते ही बदल गए। याद है, तुमने चलते समय क्या-क्या वादे किए थे।' उसने बड़ी मुश्किल से अपने को रोका था। तब से

इस वक्त तक उसे मानों नशा-सा छाया हुआ है। वह उनके इतने समीप है! चाहे तो रोज़ उन्हें देख सकती है, उनकी बातें सुन सकती है, हाँ उन्हें स्पर्श तक कर सकती है। अब वे उससे भागकर कहाँ जाएँगे! उनके पत्रों की अब उसे क्या चिंता है। कुछ दिनों के बाद संभव है वह उनके होटल के नौकरों से जो चाहे पूछ सकती है।

संध्या हो गई थी। धुएँ में बिजली की लालटेनें रोंधी आँखों की भाँति ज्योतिहीन-सी हो रही थीं। गली में स्त्री-पुरुष सैर करने चले जा रहे थे। सुभद्रा सोचने लगी, इन लोगों को आमोद से कितना प्रेम है, मानों किसी को चिंता ही नहीं, मानों सभी संपन्न हैं। जभी ये लोग इतने एकाग्र होकर सब काम कर सकते हैं। जिस समय जो काम करते हैं, जी-जान से करते हैं। खेलने का उमंग है, तो काम करने का भी उमंग है। और एक हम हैं कि न हँसते हैं न रोते हैं, मौन बने रहते हैं, स्फूर्ति का काम नहीं, काम तो सारे दिन करते हैं, भोजन करने की फ़ुरसत भी नहीं मिलती, पर वास्तव में चौथाई समय भी काम में नहीं लगाते। केवल काम करने का बहाना करते हैं। मालूम होता है जाति प्राण-शून्य हो गई है।

सहसा उसने केशव को जाते देखा। हाँ, केशव ही था। वह कुर्सी से उठकर बरामदे में चली आई। प्रबल इच्छा हुई कि जाकर उनके गले से लिपट जाए। उसने अगर अपराध भी किया है, तो उन्हीं के कारण तो? यदि वे बराबर पत्र लिखते जाते, तो वह क्यों आती।

लेकिन केशव के साथ यह युवती कौन है? अरे! केशव उसका हाथ पकड़े हुए हैं। दोनों मुसकरा-मुसकरा कर बातें करते चले जाते हैं। यह युवती कौन है?

सुभद्रा ने ध्यान से देखा। युवती का रंग साँवला था, वह भारतीय बालिका थी। उसका पहनावा भारतीय था। इससे ज़्यादा सुभद्रा को और कुछ न दिखाई दिया। उसने तुरंत जूते पहने, द्वार बंद किया और एक क्षण में गली में आ पहुँची। केशव अब दिखाई न देता था, पर वह जिधर गया था उधर ही वह बड़ी तेज़ी से लपकी चली जाती थी। उसके पाँव इतनी तेज़ी से उठ रहे थे, मानों दौड़ रही हो। पर इतनी जल्द दोनों कहाँ अदृश्य हो गए। अब तक उसे उन लोगों के समीप पहुँच जाना चाहिए था। शायद दोनों किसी बस पर जा बैठे!

अब वह गली समाप्त करके एक चौड़ी सड़क पर आ पहुँची थी। दोनों तरफ़ बड़ी-बड़ी जगमगाती हुई दुकानें थीं। क़दम-क़दम पर होटल और रेस्ट्राँ थे। सुभद्रा दोनों ओर सचेष्ट नेत्रों से ताकती, पग-पग पर भ्रांति के कारण मचलती कितनी दूर निकल गई, कुछ ख़बर नहीं।

फिर उसने सोचा, यों कहाँ तक चली जाऊँगी, कौन जाने किधर गए। चलकर फिर अपने बरामदे से देखूँ। आख़िर इधर से गए हैं तो इधर ही से लौटेंगे भी। यह ख़याल आते ही वह घूम पड़ी और उसी तरह दौड़ती हुई अपने स्थान की ओर चली। जब वहाँ पहुँची, तो बारह बज गए थे, और इतनी देर उसे चलते ही गुज़रा! एक क्षण भी उसने कहीं विश्राम नहीं किया!

वह ऊपर पहुँची, तो गृह-स्वामिनी ने कहा—तुम्हारे लिये बड़ी देर से भोजन रक्खा हुआ है।

सुभद्रा ने भोजन अपने कमरे में मँगा लिया, पर खाने की सुधि किसे थी। वह उसी बरामदे में, उसी तरफ़ टकटकी लगाए खड़ी थी, जिधर से केशव गया था।

एक बज गया, दो बजा, फिर भी केशव नहीं लौटा। उसने मन में कहा, वे किसी दूसरे मार्ग से चले गए। मेरा यहाँ खड़ा रहना व्यर्थ है। चलूँ सो रहूँ। लेकिन फिर ख़याल आ गया कहीं आ न रहे हों।

मालूम नहीं उसे कब नींद आ गई।

(४)

दूसरे दिन प्रातःकाल सुभद्रा अपने काम पर जाने को तैयार हो रही थी कि एक युवती रेशमी साड़ी पहने आकर खड़ी हो गई और मुसकराकर बोली—'क्षमा कीजिएगा, मैंने बहुत सबेरे आपको कष्ट दिया। आप तो कहीं जाने को तैयार मालूम होती हैं।'

सुभद्रा ने एक कुर्सी बढ़ाते हुए कहा—'हाँ, एक काम से बाहर जा रही थी। मैं आपकी क्या सेवा कर सकती हूँ।'

यह कहते हुए सुभद्रा ने युवती को सिर से पाँव तक उस आलोचनात्मक दृष्टि से देखा, जिससे स्त्रियाँ ही देख सकती हैं। सौंदर्य की किसी परिभाषा से भी उसे सुंदरी न कहा जा सकता था। उसका रंग साँवला, मुँह कुछ चौड़ा, नाक कुछ चिपटी, क़द भी छोटा और शरीर भी कुछ स्थूल था। आँखों पर ऐनक लगी हुई थी। लेकिन इन सब कारणों के होते हुए भी उसमें कुछ ऐसी बात थी जो आँखों को अपनी ओर खींच लेती थी। उसकी वाणी इतनी मधुर, इतनी संयमित, इतनी विनम्र थी कि जान पड़ता था किसी देवी के वरदान हों। एक-एक अंग-प्रत्यंग से प्रतिभा विकीर्ण हो रही थी। सुभद्रा उसके सामने हलकी, तुच्छ मालूम होती थी। युवती ने कुर्सी पर बैठते हुए कहा—

'अगर मैं भूलती हूँ तो मुझे क्षमा कीजिएगा। मैंने सुना है कि आप कुछ कपड़े भी सीती हैं, जिसका प्रमाण यह है कि यहाँ सीविंग मशीन मौजूद है।'

सुभद्रा—मैं दो लेडियों को भाषा पढ़ाने जाया करती हूँ। शेष समय में कुछ सिलाई भी कर लेती हूँ। आप कपड़े लाई हैं ?

युवती—'नहीं, अभी कपड़े नहीं लाई।' यह कहते हुए उसने लज्जा से सिर झुकाकर मुस्कराते हुए कहा—'बात यह है कि··· मेरी शादी होने जा रही है। मैं अपने वस्त्राभूषण सब हिंदुस्तानी रखना चाहती हूँ। विवाह भी वैदिक रीति से ही होगा। ऐसे कपड़े यहाँ आप ही तैयार कर सकती हैं।'

सुभद्रा ने हँसकर कहा—'मैं ऐसे अवसर पर आपके जोड़े तैयार करके अपने को धन्य समझूँगी। वह शुभ तिथि कब है ?'

युवती ने सकुचाते हुए कहा—'वह तो कहते हैं इसी सप्ताह में हो जाय, पर मैं उन्हें टालती आती हूँ। मैंने तो चाहा था कि भारत लौटने पर विवाह होता, पर वह इतने उतावले हो रहे हैं कि कुछ कहते नहीं बनता। अभी तो मैंने यही कहकर टाला कि मेरे कपड़े सिल रहे हैं।'

सुभद्रा—तो मैं आपके जोड़े बहुत जल्द दे दूँगी।

युवती ने हँसकर कहा—'मैं तो चाहती थी कि आप महीनों लगा देतीं।'

सुभद्रा—'वाह, मैं इस शुभ कार्य में क्यों विघ्न डालने लगी। मैं इसी सप्ताह में आपके कपड़े दे दूँगी, और उनसे इसका पुरस्कार लूँगी।'

युवती खिलखिलाकर हँसी। कमरे में प्रकाश की लहरें-सी उठ गईं। बोली—'इसके लिये तो पुरस्कार वह देंगे। बड़ी ख़ुशी से देंगे और तुम्हारे कृतज्ञ होंगे। मैंने तो प्रतिज्ञा की थी कि

विवाह के बंधन में पड़ूँगी ही नहीं, पर उन्होंने मेरी प्रतिज्ञा तोड़ दी। अब मुझे मालूम हो रहा है कि प्रेम की बेड़ियाँ कितनी आनंदमयी होती हैं। तुम तो अभी हाल ही में यहाँ आई हो। तुम्हारे पति भी साथ होंगे ?'

सुभद्रा ने बहाना किया। बोली—वह इस समय जर्मनी में हैं। संगीत से उन्हें बहुत प्रेम है। संगीत ही का अध्ययन करने के लिये वहाँ गए हैं। तुम भी कुछ संगीत जानती हो ?

'बहुत थोड़ा।'

"केशव को संगीत से बड़ा प्रेम है।"

केशव का नाम सुनकर सुभद्रा को ऐसा मालूम हुआ, जैसे बिच्छू ने काट लिया हो। वह चौंक पड़ी।

युवती ने पूछा—आप चौंक कैसे गईं ? क्या केशव को जानती हो ?

सुभद्रा ने बात बनाकर कहा—'नहीं, मैंने यह नाम कभी नहीं सुना। वह यहाँ क्या करते हैं ?'

सुभद्रा को ख़याल आया, क्या केशव किसी दूसरे आदमी का नाम नहीं हो सकता। इसी लिये उसने यह प्रश्न किया था। उसी जवाब पर उसकी ज़िंदगी का फ़ैसला था।

युवती ने कहा—'वह यहाँ विद्यालय में पढ़ते हैं। भारत सरकार ने उन्हें भेजा है। अभी साल-भर भी तो आए नहीं हुए। तुम देखकर प्रसन्न होगी। तेज और बुद्धि की मूर्ति समझ लो। यहाँ के अच्छे-अच्छे प्रोफ़ेसर उनका आदर करते हैं। ऐसा सुंदर भाषण तो मैंने और किसी के मुँह से सुना ही नहीं। उनका जीवन आदर्श है। मुझसे उन्हें क्यों प्रेम हो गया, मुझे इसका आश्चर्य है। मुझमें न रूप है, न लावण्य। यह मेरा सौभाग्य है। तो मैं शाम को कपड़े लेकर आऊँगी।'

सुभद्रा ने मन में उठते आवेश के वेग को सँभालकर कहा— 'अच्छी बात है।'

जब युवती चली गई, तो सुभद्रा फूट-फूटकर रोने लगी। ऐसा जान पड़ता था मानों देह में रक्त ही नहीं, मानों प्राण निकल गए हैं। वह कितनी निःसहाय, कितनी दुर्बल है, इसका आज अनुभव हुआ। ऐसा मालूम हुआ मानों संसार में उसका कोई नहीं है। अब उसका जीवन व्यर्थ है। उसके लिये अब जीवन में रोने के सिवा और क्या है! उसकी सारी ज्ञानेंद्रियाँ शिथिल-सी हो गई थीं मानों वह किसी ऊँचे वृक्ष से गिर पड़ी हो। हा! यह उसके प्रेम और भक्ति का पुरस्कार है। उसने कितना आग्रह करके केशव को यहाँ भेजा था। इसी लिये कि यहाँ आते ही वे उसका सर्वनाश कर दें।

पुरानी बातें याद आने लगीं। केशव की वह प्रेमातुर आँखें सामने आ गईं। वह सरल, सहज मूर्ति आँखों के सामने नाचने लगी। उसका ज़रा सिर धमकता था, तो केशव कितना व्याकुल हो जाता था। एक बार जब उसे फ़सली बुखार आ गया था, तो केशव कितना घबराकर, पंद्रह दिन की छुट्टी लेकर घर आ गया था और सिराहने बैठा रात-रात भर पंखा झलता रहता था। वही केशव अब इतनी जल्द उससे ऊब उठा! उसके लिये सुभद्रा ने कौन-सी बात उठा रक्खी। वह तो उसी को अपना प्राणाधार, अपना जीवनधन, अपना सर्वस्व समझती थी। नहीं-नहीं, केशव का दोष नहीं, सारा दोष इसी का है, इसी ने अपनी मधुर बातों से उन्हें वशीभूत कर लिया है। इसकी विद्या, बुद्धि और वाक्-पटुता ही ने उनके हृदय पर विजय पाई है। हाय! उसने कितनी बार केशव से कहा था, मुझे भी पढ़ाया करो, लेकिन उन्होंने हमेशा यही जवाब दिया तुम जैसी हो मुझे वैसी ही पसंद हो।

मैं तुम्हारी स्वाभाविक सरलता को पढ़ा-पढ़ाकर मिटाना नहीं चाहता। केशव ने उसके साथ कितना बड़ा अन्याय किया है। लेकिन यह उनका दोष नहीं, यह इसी यौवन-मतवाली छोकरी की माया है।

सुभद्रा को इस ईर्ष्या और दुःख के आवेश में अपने काम पर जाने की सुध न रही। वह कमरे में इस तरह टहलने लगी जैसे किसी ने ज़बरदस्ती उसे बंद कर दिया हो। कभी दोनों मुट्ठियाँ बँध जातीं, कभी दाँत पीसने लगती, कभी ओंठ काटती। उन्माद की-सी दशा हो गई। आँखों में भी एक तीव्र ज्वाला चमक उठी। ज्यों ज्यों केशव के इस निष्ठुर आघात को सोचती, उन कष्टों को याद करती, जो उसने उसके लिये झेले थे, उसका चित्त प्रतीकार के लिये विकल होता जाता था। अगर कोई बात हुई होती, आपस में कुछ मनोमालिन्य का लेश भी होता, तो उसे इतना दुःख न होता। यह तो उसे ऐसा मालूम होता था कि मानों कोई हँसते-हँसते अचानक गले पर चढ़ बैठे। अगर वह उनके योग्य नहीं थी, तो उन्होंने उससे विवाह ही क्यों किया था! विवाह करने के बाद भी उसे क्यों न ठुकरा दिया था! क्यों प्रेम का बीज बोया था! और आज जब वह बीज पल्लवों से लहराने लगा, उसकी जड़ें उसके अंतस्तल के एक-एक अणु में प्रविष्ट हो गईं, उसका सारा रक्त, उसका सारा उत्सर्ग उसको सींचने और पालने में प्रवृत्त हो गया, तो वह आज उसे उखाड़कर फेंक देना चाहते हैं। क्या उसके हृदय के टुकड़े-टुकड़े हुए बिना वृक्ष उखड़ जाएगा?

सहसा उसे एक बात याद आ गई। हिंसात्मक-संतोष से उसका उत्तेजित मुख-मंडल और भी कठोर हो गया। केशव ने अपने विवाह की बात इस युवती से गुप्त रक्खी होगी! सुभद्रा

इसका भंडाफोड़ करके केशव के सारे मंसूबों को धूल में मिला देगी। उसे अपने ऊपर क्रोध आया कि युवती का पता क्यों न पूछ लिया। उसे एक पत्र लिखकर केशव की नीचता, स्वार्थ-परता और कायरता की क़लई खोल देती, उसके पांडित्य, प्रतिभा और प्रतिष्ठा को धूल में मिला देती। ख़ैर, संध्या-समय तो वह कपड़े लेकर आवेगी ही। उस समय उससे सारा कच्चा चिट्ठा बयान कर दूँगी।

(५)

सुभद्रा दिन-भर युवती का इंतज़ार करती रही। कभी बरा-मदे में आकर इधर-उधर निगाह दौड़ाती, कभी सड़क पर देखती, पर उसका कहीं पता न था। मन में झुँझलाती थी कि उसने क्यों उसी वक्त सारा वृत्तांत न कह सुनाया।

केशव का पता उसे मालूम था। उस मकान और गली का नंबर तक याद था, जहाँ से वह उसे पत्र लिखा करता था। ज्यों-ज्यों दिन ढलने लगा और युवती के आने में विलंब होने लगा, उसके मन में एक तरंग-सी उठने लगी कि जाकर केशव को फटकारे, उसका सारा नशा उतार दे, कहे—तुम इतने भयंकर हिंसक हो, इतने महान् धूर्त हो, यह मुझे मालूम न था। तुम यही विद्या सीखने यहाँ आए थे? तुम्हारे सारे पांडित्य का यही फल है। तुम एक अबला को, जिसने तुम्हारे ऊपर अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया, यों छल सकते हो! तुममें क्या मनुष्यता नाम को भी नहीं रह गई। आख़िर तुमने मेरे लिये क्या सोचा है? मैं सारी ज़िंदगी तुम्हारे नाम को रोती रहूँ! लेकिन अभिमान हर बार उसके पैरों को रोक लेता। नहीं, जिसने उसके साथ ऐसा कपट किया है, उसका इतना अपमान किया है, उसके पास वह न जायगी। वह उसे देखकर अपने आँसुओं को रोक सकेगी

या नहीं, इसमें उसे संदेह था; और केशव के सामने वह रोना नहीं चाहती थी। अगर वह उससे घृणा करता है, तो वह भी उससे घृणा करेगी। संध्या भी हो गई, पर युवती न आई, बत्तियाँ भी जलीं; पर उसका पता नहीं। ×

एकाएक उसे अपने कमरे के द्वार पर किसी के आने की आहट मालूम हुई। वह कूदकर बाहर निकल आई। युवती कपड़ों का एक पुलिंदा लिए सामने खड़ी थी। सुभद्रा को देखते ही बोली—क्षमा करना, मुझे आने में देर हो गई। बात यह है कि केशव को किसी बड़े ज़रूरी काम से जर्मनी जाना है। वहाँ उन्हें एक महीने से ज़्यादा लग जायगा। वह चाहते हैं कि मैं भी उनके साथ चलूँ। मुझसे उन्हें अपना थीसीस लिखने में बड़ी सहायता मिलेगी। बर्लिन के पुस्तकालयों को छानना पड़ेगा। मैंने भी इसे स्वीकार कर लिया है। केशव की इच्छा है कि जर्मनी जाने के पहले हमारा विवाह हो जाय। कल संध्या-समय संस्कार हो जायगा। अब ये कपड़े मुझे आप जर्मनी से लौटने पर दीजिएगा। विवाह के अवसर पर हम मामूली कपड़े पहन लेंगे। और करती क्या। इसके सिवा कोई उपाय न था। केशव का जर्मनी जाना अनिवार्य है।

सुभद्रा ने कपड़ों को मेज़ पर रखकर कहा—'आपको धोखा दिया गया है।'

युवती ने घबड़ाकर पूछा—'धोखा! कैसा धोखा! मैं बिलकुल नहीं समझी। तुम्हारा मतलब क्या है?'

सुभद्रा ने संकोच के आवरण को हटाने की चेष्टा करते हुए कहा—'केशव तुम्हें धोखा देकर तुमसे विवाह करना चाहता है।'

"केशव ऐसा आदमी नहीं है जो किसी को धोखा दे। क्या तुम केशव को जानती हो?"

"केशव ने तुमसे अपने विषय में सब कुछ कह दिया है ?"

"सब कुछ।"

"कोई बात नहीं छिपाई।"

"मेरा तो यही विचार है कि उन्होंने एक बात भी नहीं छिपाई।"

"तुम्हें मालूम है कि उसका विवाह हो चुका है ?"

युवती की मुख-ज्योति कुछ मलिन पड़ गई, उसकी गरदन लज्जा से झुक गई। अटक-अटकाकर बोली—हाँ······उन्होंने मुझसे······यह बात कही थी।

सुभद्रा परास्त हो गई। घृणा-सूचक नेत्रों से देखती हुई बोली—'यह जानते हुए भी तुम केशव से विवाह करने पर तैयार हो ?'

युवती ने अभिमान से देखकर कहा—'तुमने केशव को देखा है ?'

"नहीं, मैंने उन्हें कभी नहीं देखा।"

"फिर तुम उन्हें कैसे जानती हो ?"

"मेरे एक मित्र ने मुझसे यह बात कही है वह केशव को जानता है।"

"अगर तुम एक बार केशव को देख लेतीं, तो मुझसे यह प्रश्न न करतीं। एक नहीं, अगर उन्होंने एक सौ विवाह किए होते, तो भी मैं इनकार न करती। उन्हें देखकर फिर मेरी आँख और किसी पर उठती ही नहीं। अगर उनसे विवाह न करूँ, तो फिर मुझे जीवन-भर अविवाहित ही रहना पड़ेगा। जिस समय वे मुझसे बातें करने लगते हैं, मुझे ऐसा अनुभव होता है कि मेरी आत्मा पुष्प की भाँति खिली जा रही है। मैं उसमें प्रकाश और विकास का प्रत्यक्ष अनुभव करती हूँ। दुनिया चाहे जितना

हँसे, चाहे जितनी निंदा करे, मैं केशव को अब नहीं छोड़ सकती। उनका विवाह हो चुका है, यह सत्य है, पर उस स्त्री से उनका मन कभी नहीं मिला। यथार्थ में उनका विवाह अभी नहीं हुआ। वह कोई साधारण, अर्द्धशिक्षित बालिका है। तुम्हीं सोचो, केशव जैसा विद्वान्, उदारचेता, मनस्वी पुरुष ऐसी बालिका के साथ कैसे प्रसन्न रह सकता है? तुम्हें कल मेरे विवाह में चलना पड़ेगा।"

सुभद्रा का चेहरा तमतमाया जा रहा था। केशव ने उसे इतने काले रंगों में रँगा है, यह सोचकर उसका रक्त खौल रहा था। जी में आता था, इसी क्षण इसको दुत्कार दूँ, लेकिन उसके मन में कुछ और ही मंसूबे पैदा होने लगे थे। उसने गंभीर, पर उदासीन भाव से पूछा—'केशव ने कुछ उस स्त्री के विषय में नहीं कहा? वह अब क्या करेगी, कैसे रहेगी?'

युवती ने तत्परता से कहा—'घर पहुँचने पर वे उससे केवल यही कह देंगे कि हम और तुम अब स्त्री और पुरुष नहीं रह सकते। उसके भरण-पोषण का वे उसके इच्छानुसार प्रबंध कर देंगे। इसके सिवा वे और क्या कर सकते हैं? हिंदू-नीति में पति-पत्नी में विच्छेद नहीं हो सकता। पर केवल स्त्री को पूर्ण रीति से स्वाधीन कर देने के विचार से वह ईसाई या मुसलमान होने पर भी तैयार हैं। वे तो अभी उसे इसी आशय का पत्र लिखने जा रहे थे, पर मैंने ही रोक लिया। मुझे उस अभागिनी पर बड़ी दया आती है। मैं तो यहाँ तक तैयार हूँ कि अगर उसकी इच्छा हो, तो वह भी हमारे साथ रहे। मैं उसे अपनी बड़ी बहन समझूँगी। किंतु केशव इससे सहमत नहीं होते।'

सुभद्रा ने व्यंग से कहा—'रोटी-कपड़ा देने को तो तैयार ही हैं, स्त्री को इसके सिवा और क्या चाहिये!'

युवती ने व्यंग की कुछ परवा न करके कहा—'तो मुझे लौटने पर कपड़े तैयार मिलेंगे न ?'

सुभद्रा—"हाँ मिल जायँगे।"

युवती—"कल तुम संध्या-समय आओगी ?"

सुभद्रा—"नहीं खेद है, मुझे अवकाश नहीं है।"

युवती ने कुछ न कहा। चली गई।

(६)

सुभद्रा कितना ही चाहती थी कि इस समस्या पर शांत चित्त होकर विचार करे, पर हृदय में मानों ज्वाला-सी दहक रही थी। केशव के लिये वह अपने प्राणों का कोई मूल्य नहीं समझती थी। वही केशव उसे पैरों से ठुकरा रहा है। यह आघात इतना आकस्मिक, इतना कठोर था कि उसकी चेतना की सारी कोमलता मूर्च्छित हो गई। उसका एक-एक अणु प्रतीकार के लिये तड़पने लगा। अगर यही समस्या इसके विपरीत होती, तो क्या सुभद्रा की गरदन पर छुरी न फिर गई होती। केशव उसके खून का प्यासा न हो जाता। क्या पुरुष हो जाने से ही सभी बातें क्षम्य और स्त्री हो जाने से सभी बातें अक्षम्य हो जाती हैं ? नहीं, इस निर्णय को सुभद्रा की विद्रोही आत्मा इस समय स्वीकार नहीं कर सकती। उसे नारियों के ऊँचे आदर्शों की परवा नहीं है। उन स्त्रियों में आत्माभिमान न होगा। वे पुरुषों के पैरों की जूतियाँ बनकर रहने ही में अपना सौभाग्य समझती होंगी। सुभद्रा इतना आत्माभिमान-शून्य नहीं है। वह अपने जीते-जी यह नहीं देख सकती कि उसका पति उसके जीवन का सर्वनाश करके चैन की बंशी बजाए। दुनिया उसे हत्यारिनी, पिशाचिनी कहेगी; कहे— उसको परवा नहीं। रह रहकर उसके मन में भयंकर प्रेरणा होती थी कि इसी समय उसके पास चली जाए, और इसके पहले कि

वह उस युवती के प्रेम का आनंद उठाए, उसके जीवन का अंत कर दे। वह केशव की निष्ठुरता को याद करके अपने मन को उत्तेजित करती थी। अपने को धिक्कार-धिक्कार कर नारी-सुलभ शंकाओं को दूर करती थी। क्या वह इतनी दुर्बल है? क्या उसमें इतना साहस भी नहीं है? इसी वक़्त और कोई दुष्ट उसके कमरे में घुस आवे और उसके सत्य का अपहरण करना चाहे, तो क्या वह उसका प्रतीकार न करेगी? आख़िर आत्म-रक्षा के लिये तो उसने यह ही तो किया है। उसका प्रेम-प्रदर्शन केवल प्रवंचना थी। वह केवल अपनी वासनाओं की तृप्ति के लिये उसके साथ प्रेम का स्वाँग भरता था। फिर उसका वध करना क्या उसका कर्तव्य नहीं? /

इस अंतिम कल्पना से सुभद्रा को वह उत्तेजना मिल गई, जो उसके भयंकर संकल्प को पूरा करने के लिये आवश्यक थी। यही वह अवस्था है, जब स्त्री पुरुष के ख़ून की प्यासी हो जाती है।

उसने खूँटी पर लटकता हुआ पिस्तौल उतार लिया और ध्यान से देखने लगी, मानों उसे कभी देखा न हो। कल संध्या-समय जब आर्य-मंदिर में केशव और उसकी प्रेमिका एक दूसरे के संमुख बैठे हुए होंगे उसी समय वह इस गोली से केशव की प्रेम-लीलाओं का अंत कर देगी। दूसरी गोली अपनी छाती में मार लेगी! क्या वह रो-रोकर अपना अधम जीवन काटेगी? X

(७)

संध्या का समय था। आर्य-मंदिर के आँगन में वर और वधू इष्ट-मित्रों के साथ बैठे हुए थे। विवाह का संस्कार हो रहा था। उसी समय सुभद्रा पहुँची और बरामदे में आकर एक खंभे की आड़ में इस भाँति खड़ी हो गई कि केशव का मुँह उसके सामने

था। उसकी आँखों में वह दृश्य खिंच गया, जब आज से तीन साल पहले उसने इसी भाँति केशव को मंडप में बैठे हुए आड़ से देखा था। तब उसका हृदय कितना उच्छ्वसित हो रहा था। अंतस्तल में गुदगुदी-सी हो रही थी। कितना अपार अनुराग था, कितनी असीम अभिलाषाएँ थीं, मानों जीवन-प्रभात का उदय हो रहा हो। जीवन मधुर संगीत की भाँति सुखद था, भविष्य उषा-स्वप्न की भाँति सुंदर। क्या यह वही केशव है? सुभद्रा को ऐसा भ्रम हुआ, मानों यह केशव नहीं है। हाँ, यह वह केशव नहीं था। यह उसी रूप और उसी नाम का कोई दूसरा मनुष्य था। अब उसकी मुस्कराहट में, उसके नेत्रों में, उसके शब्दों में उसके हृदय को आकर्षित करनेवाली कोई वस्तु न थी। उसे देखकर वह उसी भाँति निःस्पंद, निश्चल खड़ी है, मानों कोई अपरिचित व्यक्ति हो। अब तक केशव का-सा रूपवान्, तेजस्वी, सौम्य, शीलवान् पुरुष संसार में न था। पर अब सुभद्रा को ऐसा जान पड़ा कि वहाँ बैठे हुए युवकों में और उसमें कोई अंतर नहीं है। वह ईर्ष्याग्नि, जिसमें वह जली जा रही थी, वह हिंसा-कल्पना जो उसे यहाँ तक लाई थी, मानों एकदम शांत हो गई। विरक्ति हिंसा से भी अधिक हिंसात्मक होती है—सुभद्रा की हिंसा-कल्पना में एक प्रकार का ममत्व था, उसका केशव, उसका प्राणवल्लभ, उसका जीवनसर्वस्व और किसी का नहीं हो सकता। पर अब वह ममत्व नहीं है। वह उसका नहीं है, उसे अब परवा नहीं, उस पर किसका अधिकार होता है।

विवाह-संस्कार समाप्त हो गया, मित्रों ने बधाइयाँ दीं, सहेलियों ने मंगल-गान किया, फिर लोग मेज़ों पर जा बैठे, दावत होने लगी, रात बारह बज गए; पर सुभद्रा वहीं पाषाण-मूर्ति की भाँति खड़ी रही, मानों कोई विचित्र स्वप्न देख रही हो। हाँ,

अब उसे अपने हृदय में एक प्रकार के शून्य का अनुभव हो रहा था, जैसे कोई बस्ती उजड़ गई हो, जैसे कोई संगीत बंद हो गया हो, जैसे कोई दीपक बुझ गया हो।

जब लोग मंदिर से निकले, तो वह भी निकल आई, पर उसे कोई मार्ग न सूझता था। परिचित सड़कें उसे भूली हुई-सी जान पड़ने लगीं। सारा संसार ही बदल गया था। वह सारी रात सड़कों पर भटकती फिरी, घर का कहीं पता नहीं। सारी दूकानें बंद हो गईं, सड़कों पर सन्नाटा छा गया, फिर भी वह अपना घर ढूँढ़ती हुई चली जा रही थी। हाय! क्या इस भाँति उसे जीवन-पथ में भी भटकना पड़ेगा?

सहसा एक पुलिसमैन ने पुकारा—'मैडम, तुम कहाँ जा रही हो?'

सुभद्रा ने ठिठककर कहा—'कहीं नहीं।'

"तुम्हारा स्थान कहाँ है?"

"मेरा स्थान!"

"हाँ, तुम्हारा स्थान कहाँ है? मैं तुम्हें बड़ी देर से इधर-उधर भटकते देख रहा हूँ। किस स्ट्रीट में रहती हो?"

सुभद्रा को उस स्ट्रीट का नाम तक न याद था।

"तुम्हें अपने स्ट्रीट का नाम तक याद नहीं?"

"भूल गई, याद नहीं आता।"

सहसा उसकी दृष्टि सामने के एक साइनबोर्ड की तरफ़ उठी। ओह! यही तो उसकी स्ट्रीट है। उसने सिर उठाकर इधर-उधर देखा। सामने ही उसका डेरा था। और इसी गली में, अपने ही घर के सामने न-जाने कितनी देर से चक्कर लगा रही थी।

(८)

अभी प्रातःकाल ही था कि युवती सुभद्रा के कमरे में पहुँची। वह उसके कपड़े सी रही थी। उसका सारा तन-मन कपड़ों में लगा हुआ था। कोई युवती इतनी एकाग्रचित्त होकर अपना शृंगार भी न करती होगी। न-जाने उससे कौन-सा पुरस्कार लेना चाहती थी। उसे युवती के आने की ख़बर भी न हुई।

युवती ने पूछा—तुम कल मंदिर में नहीं आईं ?

सुभद्रा ने सिर उठाकर देखा, तो ऐसा जान पड़ा मानों किसी कवि की कोमल कल्पना मूर्तिमयी हो गई है। उसकी रूप-छवि अनिंद्य थी। प्रेम की विभूति रोम-रोम से प्रदर्शित हो रही थी। सुभद्रा दौड़कर उसके गले से लिपट गई, जैसे उसकी छोटी बहन आ गई हो और बोली—हाँ, गई तो थी।

"मैंने तुम्हें नहीं देखा।"

"हाँ, मैं अलग थी।"

"केशव को देखा ?"

"हाँ, देखा।"

"धीरे से क्यों बोली ? मैंने कुछ झूठ कहा था !"

सुभद्रा ने सहृदयता से मुस्कराकर कहा—मैंने तुम्हारी आँखों से नहीं, अपनी आँखों से देखा। मुझे तो वे तुम्हारे योग्य नहीं जँचे। तुम्हें ठग लिया।

युवती खिलखिलाकर हँसी और बोली—'वाह ! मैं समझती हूँ, मैंने उन्हें ठगा है।'

सुभद्रा ने गंभीर होकर कहा—'एक बार वस्त्राभूषणों से सजकर अपनी छवि आइने में देखो, तो मालूम हो।'

"तब क्या मैं कुछ और हो जाऊँगी ?"

"अपने कमरे से फ़र्श, परदे, तसवीरें, हड़ियाँ, गमले आदि निकालकर देख लो, कमरे, की शोभा वही रहती है ?"

युवती ने सिर हिलाकर कहा—'ठीक कहती हो। लेकिन आभूषण कहाँ से लाऊँ ! न-जाने अभी कितने दिनों में बनने की नौबत आवे।'

"मैं तुम्हें अपने गहने पहना दूँगी।"

"तुम्हारे पास गहने हैं ?"

"बहुत। देखो, मैं अभी लाकर तुम्हें पहनाती हूँ।"

युवती ने मुँह से तो बहुत नहीं-नहीं किया, पर मन में प्रसन्न हो रही थी। सुभद्रा ने अपने सारे गहने उसे पहना दिए। अपने पास एक छल्ला भी न रक्खा। युवती को यह नया अनुभव था। उसे इस रूप में निकलते शर्म तो आती थी, पर उसका रूप चमक उठा था, इसमें संदेह न था। उसने आइने में अपनी सूरत देखी, तो उसकी आँखें जगमगा उठीं, मानों किसी वियोगिनी को अपने प्रियतम का संवाद मिला हो। मन में गुद-गुदी होने लगी। वह इतनी रूपवती है, उसे इसकी कल्पना भी न थी।

कहीं केशव इस रूप में उसे देख लेते, यह आकांक्षा उसके मन में उदय हुई, पर कहे कैसे। कुछ देर बाद लज्जा से सिर झुका कर बोली—'केशव मुझे इस रूप में देखकर बहुत हँसेंगे।'

सुभद्रा—'हँसेंगे नहीं, बलैया लेंगे, आँखें खुल जायँगी। तुम आज इसी रूप में उनके पास जाना।'

युवती ने चकित होकर कहा—'सच ! आप इसकी अनुमति देती हैं !'

सुभद्रा ने कहा—'बड़े हर्ष से।'

"तुम्हें संदेह न होगा।"

"बिलकुल नहीं।"

"और जो मैं दो-चार दिन पहने रहूँ ?"

"तुम दो-चार महीने पहने रहो। आखिर, यहाँ पड़े ही तो हैं।"

"तुम भी मेरे साथ चलो।"

"नहीं, मुझे अवकाश नहीं है।"

"अच्छा, तो मेरे घर का पता नोट कर लो।"

"हाँ, लिख दो, शायद कभी आऊँ।"

एक क्षण में युवती यहाँ से चली गई। सुभद्रा अपनी खिड़की पर उसे इस भाँति प्रसन्न-मुख खड़ी देख रही थी, मानों उसकी छोटी बहन हो। ईर्ष्या या द्वेष का लेश भी उसके मन में न था।

मुश्किल से एक घंटा गुज़रा होगा कि युवती लौटकर बोली—'सुभद्रा, क्षमा करना, मैं तुम्हारा समय बहुत ख़राब कर रही हूँ। केशव बाहर खड़े हैं। बुला लूँ ?'

एक क्षण के, केवल एक क्षण के लिए, सुभद्रा कुछ घबड़ा गई। उसने जल्दी से उठकर मेज़ पर पड़ी हुई चीज़ें इधर-उधर हटा दीं, कपड़े करीने से रख दिए, अपने उलझे हुए बाल सँभाल लिए, फिर उदासीन भाव से मुस्कराकर बोली—'उन्हें तुमने क्यों कष्ट दिया, जाओ, बुला लो।'

एक मिनट में केशव ने कमरे में क़दम रक्खा और चौंककर पीछे हट गए, मानों पाँव जल गया हो। मुँह से एक चीख़ निकल गई। सुभद्रा गंभीर, शांत, निश्चल अपनी जगह पर खड़ी रही। फिर हाथ बढ़ाकर बोली, मानों किसी अपरिचित व्यक्ति से

बोल रही हो—'आइए मिस्टर केशव, मैं आपको ऐसी सुशीला, ऐसी सुंदरी, ऐसी विदुषी रमणी पाने पर बधाई देती हूँ।'

केशव के मुँह पर हवाइयाँ उड़ रही थीं! वह पथ-भ्रष्ट-सा बना खड़ा था। लज्जा और ग्लानि से उसके चेहरे पर एक रंग आता था, एक रंग जाता था। यह बात एक दिन होनेवाली थी अवश्य, पर इसी तरह अचानक उसकी सुभद्रा से भेंट होगी, इसका उसे स्वप्न में भी गुमान न था। सुभद्रा से वह यह बात कैसे कहेगा, इसको उसने ख़ूब सोच लिया था, उसके आक्षेपों का उत्तर सोच लिया था, पत्र के शब्द तक मन में अंकित कर लिए थे। यह सारी तैयारियाँ धरी रह गईं और सुभद्रा से साक्षात् हो गया। सुभद्रा उसे देखकर ज़रा भी नहीं चौंकी, उसके मुख पर आश्चर्य, घबराहट या दुःख का एक चिह्न भी न दिखाई दिया। उसने उसी भाँति उससे बात की, मानों वह कोई अजनबी हो। यह यहाँ कब आई, कैसे आई, क्यों आई, कैसे गुज़र करती है, यह और इसी तरह के असंख्य प्रश्न पूछने के लिये केशव का चित्त चंचल हो उठा। उसने सोचा था, सुभद्रा उसे धिक्कारेगी, विष खाने की धमकी देगी—निष्ठुर, निर्दयी और न-जाने क्या-क्या कहेगी। इन सब आपदाओं के लिये वह तैयार था, पर इस आकस्मिक मिलन, इस गर्वयुक्त उपेक्षा के लिये वह तैयार न था। वह प्रेम-व्रतधारिणी सुभद्रा इतनी कठोर, इतनी हृदय-शून्य हो गई है। अवश्य ही इसे सारी बातें पहले ही मालूम हो चुकी हैं। सबसे तीव्र आघात यह था कि इसने अपने सारे आभूषण इतनी उदारता से दे डाले और, कौन जाने वापस भी न लेना चाहती हो। वह परास्त और अप्रतिभ होकर एक कुर्सी पर बैठ गया। उत्तर में एक शब्द भी उसके मुख से न निकला।

युवती ने कृतज्ञता का भाव प्रकट करने के भाव से कहा—"इनके पति इस समय जर्मनी में हैं।" केशव ने आँखें फाड़कर देखा, पर कुछ बोल न सका।

युवती ने फिर कहा—'बेचारी संगीत के पाठ पढ़ाकर और कुछ कपड़े सीकर अपना निर्वाह करती हैं। वह महाशय यहाँ आ जाते, तो उन्हें उनके सौभाग्य पर बधाई देती।'

केशव इस पर भी कुछ न बोल सका, पर सुभद्रा ने मुस्कराकर कहा—'वह मुझसे रूठे हुए हैं। बधाई पाकर और भी झल्लाते।' +

युवती ने आश्चर्य्य से कहा—'तुम उन्हीं के प्रेम से यहाँ आईं, अपना घर-बार छोड़ा, यहाँ मेहनत मज़दूरी करके निर्वाह कर रही हो, फिर भी वह तुमसे रूठे हुए हैं। आश्चर्य्य!'

सुभद्रा ने उसी भाँति प्रसन्न-मुख से कहा—'पुरुष-प्रकृति ही आश्चर्य्य का विषय है। चाहे मि० केशव इसे स्वीकार न करें!'

युवती ने फिर केशव की ओर प्रेरणा-पूर्ण दृष्टि से देखा, लेकिन केशव उसी भाँति अप्रतिभ बैठा रहा। उसके हृदय पर यह नया आघात था। युवती ने उसे चुप देखकर उसकी तरफ़ से सफ़ाई दी—'केशव स्त्री और पुरुष दोनों ही को समान अधिकार देना चाहते हैं।'

केशव डूब रहा था, तिनके का सहारा पाकर उसकी हिम्मत बँध गई। बोला—'विवाह केवल एक प्रकार का समझौता है। दोनों पक्षों को अधिकार है, जब चाहें, उसे तोड़ दें।' युवती ने हामी भरी—सभ्य समाज में यह आंदोलन बड़े ज़ोरों पर है।

सुभद्रा ने शंका की—'किसी समझौते को तोड़ने के लिये कारण भी तो होना चाहिये।'

केशव ने भावों की लाठी का सहारा लेकर कहा—'जब इसका अनुभव हो जाय कि हम इस बंधन से मुक्त होकर अधिक सुखी हो सकते हैं, तो यही कारण काफ़ी है। स्त्री को यदि मालूम हो जाय कि वह दूसरे पुरुष के साथ'......सुभद्रा ने बात काटकर कहा—'क्षमा कीजिए मि० केशव, मुझमें इतनी बुद्धि नहीं कि इस विषय पर आपसे विवाद कर सकूँ। आदर्श समझौता वही है, जो जीवनपर्यंत रहे। मैं भारत की नहीं कहती। वहाँ तो स्त्री पुरुष की लौंडी है। मैं इँगलैंड की कहती हूँ। यहाँ भी कितनी ही औरतों से मेरी बातचीत हुई है। वे तलाक़ों की बढ़ती हुई संख्या को देखकर खुश नहीं होतीं। विवाह का सबसे ऊँचा आदर्श उनकी पवित्रता और स्थिरता पर है। पुरुषों ने सदैव इस आदर्श को तोड़ा है, स्त्रियों ने निबाहा है। अब पुरुषों का अन्याय स्त्रियों को किस ओर ले जायगा, नहीं कह सकती।'

इस गंभीर और संयत कथन ने विवाद का अंत कर दिया। सुभद्रा ने चाय मँगवाई। तीनों आदमियों ने पी। केशव पूछना चाहता था, अभी आप यहाँ कितने दिनों रहेंगी, लेकिन न पूछ सका। वह यहाँ पंद्रह मिनट और रहा, लेकिन विचारों में डूबा हुआ। चलते समय उससे न रहा गया। पूछ ही बैठा—'अभी आप यहाँ कितने दिन और रहेंगी ?'

सुभद्रा ने ज़मीन की ओर ताकते हुए कहा—'कह नहीं सकती।'

"कोई ज़रूरत हो, तो मुझे याद कीजियेगा।"

"इस आश्वासन के लिए आपको धन्यवाद।"

केशव सारे दिन बेचैन रहा। सुभद्रा उसकी आँखों में फिरती रही। सुभद्रा की बातें उसके कानों में गूँजती रहीं। अब

उसे इसमें कोई संदेह न था कि उसी के प्रेम में सुभद्रा यहाँ आई थी। सारी परिस्थिति उसकी समझ में आ गई थी। उस भीषण त्याग का अनुमान करके उसके रोएँ खड़े हो गए। यहाँ सुभद्रा ने क्या-क्या कष्ट झेले होंगे, कैसी-कैसी यातनाएँ सही होंगी, सब उसी के कारण। वह उस पर भार न बनना चाहती थी, इसी लिये तो उसने अपने आने की सूचना तक उसे न दी। अगर उसे पहले से मालूम होता कि सुभद्रा यहीं आ गई है, तो कदाचित् उसे उस युवती की ओर इतना आकर्षण ही न होता। चौकीदार के सामने चोर को घर में घुसने का साहस नहीं होता। सुभद्रा को देखकर उसकी कर्तव्य-चेतना जाग्रत हो गई। उसके पैरों पर गिरकर उससे क्षमा माँगने के लिये उसका मन अधीर हो उठा। वह उसके मुँह से सारा वृत्तांत सुनेगा। यह मौन उपेक्षा उसके लिये असह्य थी। दिन तो केशव ने किसी तरह काटा, लेकिन ज्यों ही रात को दस बजे, वह सुभद्रा से मिलने चला। युवती ने पूछा, कहाँ जाते हो?

केशव ने बूट का लेस बाँधते हुए कहा—ज़रा एक प्रोफ़ेसर से मिलना है, इस वक़्त आने का वादा कर चुका हूँ।

"जल्द आना।"

"बहुत जल्द आऊँगा।"

केशव घर से निकला, तो उसके मन में कितनी ही विचार-तरंगें उठने लगीं। कहीं सुभद्रा मिलने से इनकार कर दे, तो? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। वह इतनी अनुदार नहीं है। हाँ, यह हो सकता है कि वह अपने विषय में कुछ न कहे। उसे शांत करने के लिये उसने एक कथा की कल्पना कर डाली। मैं ऐसा बीमार था कि बचने की आशा न थी। उर्मिला ने ऐसा तन्मय

होकर उसकी सेवा-शुश्रूषा की कि उसे उससे प्रेम हो गया। व्यथा का सुभद्रा पर जो असर पड़ेगा, इसके विषय में केशव को कोई संदेह न था। परिस्थिति का बोध होने पर वह उसे क्षमा कर देगी। लेकिन इसका फल क्या होगा? क्या वह दोनों के साथ एक-सा प्रेम कर सकता है? सुभद्रा के देख लेने के बाद उर्मिला को शायद उसके साथ रहने में आपत्ति न हो। आपत्ति हो ही कैसे सकती है। उसे यह बात छिपी नहीं है। हाँ, यह देखना है कि सुभद्रा भी इसे स्वीकार करती है, या नहीं। उसने जिस उपेक्षा का परिचय दिया है, उसे देखते हुए तो उसके मानने में संदेह ही जान पड़ता है। मगर वह उसे मनावेगा, उसकी विनती करेगा, उसके पैरों पड़ेगा और अंत में उसे मना कर ही छोड़ेगा। सुभद्रा के प्रेम और अनुराग का नया प्रमाण पाकर वह मानों एक कठोर निद्रा से जाग उठा था। उसे अब अनुभव हो रहा था कि सुभद्रा के लिये उसके हृदय में जो स्थान था, वह ख़ाली पड़ा हुआ है। उर्मिला उस स्थान पर अपना आधिपत्य नहीं जमा सकती। अब उसे ज्ञात हुआ कि उर्मिला के प्रति उसका प्रेम केवल वह तृष्णा थी, जो स्वादयुक्त पदार्थों को देख कर ही उत्पन्न होती है। वह सच्ची क्षुधा न थी। अब फिर उसे उसी सरल सामान्य भोजन की इच्छा हो रही थी। विलासिनी उर्मिला कभी इतना त्याग कर सकती थी, इसमें उसे संदेह था।

सुभद्रा के घर के निकट पहुँचकर केशव का मन कुछ कातर होने लगा। लेकिन उसने जी कड़ा करके ज़ीने पर क़दम रक्खा और एक क्षण में सुभद्रा के द्वार पर पहुँचा, लेकिन कमरे का द्वार बंद था। अंदर भी प्रकाश न था। अवश्य ही वह कहीं गई है, आती ही होगी। तब तक उसने बरामदे में टहलने का निश्चय किया।

सहसा मालकिन आती हुई दिखाई दी। केशव ने बढ़ कर पूछा—आप बता सकती हैं ये महिला कहाँ गई हैं ?

मालकिन ने, उसे सिर से पाँव तक देख कर कहा—'वे तो आज यहाँ से चली गईं।'

केशव ने हकबकाकर पूछा—'चली गईं ! कहाँ चली गईं ?'

"यह तो मुझसे कुछ नहीं बताया।"

"कब गईं।"

"वे तो दुपहर को ही चली गईं।"

"अपना असबाब लेकर गईं ?"

असबाब किसके लिये छोड़ जातीं। हाँ, एक छोटा-सा पैकेट अपनी एक सहेली के लिये छोड़ गई हैं। उस पर 'मिसेज़ केशव' लिखा हुआ है। मुझसे कहा था कि यदि वे आ जायँ, तो उन्हें दे देना, नहीं डाक से भेज देना।

केशव को अपना हृदय इस तरह बैठता हुआ मालूम हुआ, जैसे सूर्य का अस्त होता है। एक गहरी साँस लेकर बोला—आप मुझे वह पैकेट दिखा सकती हैं ? केशव मेरा ही नाम है।

मालकिन ने मुस्करा कर कहा—मिसेज़ केशव को कोई आपत्ति तो न होगी ?

"तो फिर मैं उन्हें बुला लाऊँ ?"

"हाँ, उचित तो यही है।"

"बहुत दूर जाना पड़ेगा।"

केशव कुछ ठिठकता हुआ ज़ीने की ओर चला, तो मालकिन ने फिर कहा—मैं समझती हूँ, आप इसे लिए ही जाइए, व्यर्थ आपको क्यों दौड़ाऊँ। मगर कल मेरे पास एक रसीद भेज दीजियेगा। शायद उसकी ज़रूरत पड़े।

यह कहते हुए उसने एक छोटा-सा पैकेट लाकर केशव को दे दिया। केशव पैकेट लेकर इस तरह भागा, मानो कोई चोर भागा जा रहा हो। इस पैकेट में क्या है, यह जानने के लिये उसका हृदय व्याकुल हो रहा था। उसे इतना विलंब असह्य था कि अपने स्थान पर जाकर उसे खोले। समीप ही एक पार्क था। वहाँ जाकर उसने बिजली के प्रकाश में उस पैकेट को खोल डाला। उस समय उसके हाथ काँप रहे थे और हृदय इतने वेग से धड़क रहा था, मानों किसी बंधु की बीमारी के समाचार के बाद तार मिला हो।

पैकेट का खुलना था कि केशव की आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। उसमें एक पीले रंग की साड़ी थी, एक छोटी-सी सेंदुर की डिबिया और एक केशव का फोटो-चित्र। साथ ही एक लिफ़ाफ़ा भी था। केशव ने उसे खोलकर पढ़ा। उसमें लिखा था—

"बहन, मैं जाती हूँ। यह मेरे सोहाग का शव है। इसे टेम्स-नदी में विसर्जित कर देना। तुम्हीं लोगों के हाथों यह संस्कार भी हो जाय तो अच्छा।

—तुम्हारी सुभद्रा"

* * *

केशव मर्माहत-सा पत्र हाथ में लिए वहीं घास पर लेट गया और फूट-फूट कर रोने लगा।

हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी

हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी का झगड़ा कोई सौ बरस से चल रहा है, आज तक इसका फ़ैसला नहीं हुआ कि इनमें से भाषा का कौन-सा रूप राष्ट्रभाषा समझा जाय और कौन-सी लिपि राष्ट्रलिपि ठहरा ली जाय !

हिंदीवाले चाहते हैं कि ऐसी विशुद्ध भाषा का प्रचार हो जिसमें संस्कृत तत्सम शब्दों का प्राचुर्य रहे, और यदि सरलता अपेक्षित हो तो विशुद्ध तद्भवों से ही काम लिया जाय; विदेशी भाषा के शब्दों का भरसक बहिष्कार हो, प्रत्युत जहाँ आवश्यकता विवश करे वहाँ संस्कृत से ही पारिभाषिक शब्द भी गढ़ लिए जायँ। कुछ विशुद्धतावादियों के मत में तो 'लालटेन' का प्रयोग करना अशुद्धि के अंधकार में पड़ना है, उसके स्थान में वह 'दीपमन्दिर' या 'हस्तकाचदीपिका' का प्रकाश अधिक उपयुक्त समझेंगे।

उर्दूवाले नये-नये मुअर्रब और मुफ़र्रस अलफ़ाज़ तक से गुरेज़ करते हैं और उनके बजाय अरबी और फ़ारसी की मुस्तनद लुग़ात से इस्तलाहात नौ-ब-नौ से अपने तर्ज़ेतहरीर में ऐसा तसन्नो पैदा करते हैं कि उनका एक एक फ़िक़रा 'ग़ालिब' के बाज़ मुश्किल मिसरे की पेचीदगी पर भी ग़ालिब आ जाता है, और बसा औक़ात अलफ़ाज़ की नशिस्त ऐसी होती है कि जुमले के जुमले महज़ इतनी बात के मोहताज होते हैं कि ख़ालिस फ़ारसी (अजमी) शक्ल अख़्तियार करने में सिर्फ़ हिंदी अफ़आल में तबदील कर दिया जाय और बस।

विशुद्ध हिंदी और फ़सीह उर्दू-ए-मुअल्ला की एक दरम्यानी सूरत का नाम "हिंदुस्तानी" कहा जाता है, जिसमें सक़ील और ग़ैर-मानूस अरबी फ़ारसी अलफ़ाज़ और दुरूह तथा दुर्बोध संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों से जहाँ तक हो सके बचने की कोशिश की जाती है और इस पर ध्यान रक्खा जाता है कि नित्य के कारबार में जो शब्द और मुहावरे बोलचाल में काम आते हैं वही पोथियों में और अख़बारों में भी बरते जाएँ।

इन तीनों रूपों में एक एक कठिनाई है। विशुद्ध हिंदी और ख़ालिस उर्दू पुस्तकों और समाचार-पत्रों के बाहर, बहुत ही कम काम में आती है। पंडितों के व्याख्यान और मौलवियों के खुतबे मुश्किल से सुननेवालों की समझ में आते हैं, और इनका दायरा बहुत ही महदूद है—क्षेत्र अत्यंत संकुचित है। हिंदुस्तानी में यह कठिनाई है कि शास्त्रों के गूढ़ और गहन विषयों पर जब कभी कोई ग्रंथ या लेख लिखना पड़ता है तो लेखक अपने शब्द-भंडार को काफ़ी नहीं पाता और अपने 'हिंदुस्तानी' के दायरे को छोड़कर कभी उसे ख़ालिस उर्दू की तरफ़ और कभी विशुद्ध हिंदी की ओर झुकना पड़ता है और उनसे परिभाषाएँ या इस्तलाहें उधार लेनी पड़ती हैं।

ख़ालिस और विशुद्ध फ़िरक़े और संप्रदायवाले जनता या अवाम को इतना ऊँचा उठाना चाहते हैं कि उनकी मामूली बोलचाल ऐसी फ़सीह और परिमार्जित हो जाय कि बोली जानेवाली और लिखी जानेवाली भाषा में भेद न रहे। हिंदुस्तानी के पैरो यह दावा करते हैं कि बोलचाल की भाषा स्वाभाविक रास्ते पर चलेगी, बनावट से वह ज़बरदस्ती ऊँचे नहीं उठाई जा सकती। विशुद्ध पक्षवाले हिंदुस्तानी की यह निर्बलता बतलाते हैं कि उसका भंडार इतना रीता है कि वैज्ञा-

निक ग्रंथों की रचना तो क्या उसमें उच्च कोटि की कविता भी नहीं हो सकती—वह विशेष प्रकार की अनुभूतियों और अभिव्यक्तियों के प्रकाशन का साधन नहीं बन सकती—ख़याल अपने ज़ोर में मनचाही ऊँची उड़ान नहीं ले सकते; हिंदुस्तानी में कुछ स्वाभाविक कविता हो सकती है पर वह अनंत की ओर दौड़ नहीं लगा सकती,—अपने संकीर्ण क्षेत्र में ही उछल कूद कर रह जाती है। ऐसी दशा में "हिंदुस्तानी" भाषा प्रमाण या आदर्श मान ली जाय, तो साहित्य और ज्ञान-विज्ञान का सर्वसाधारण से कोई संबंध नहीं रह जाएगा। संक्षेप में वर्तमान झगड़े का यही स्वरूप है।

हमारे देश में विदेशियों से व्यवहार, व्यापार और संघर्ष हज़ारों बरस से चला आ रहा है, और उनमें भी मुसलमानों से विशेष रूप से, लगभग एक हज़ार साल से, संबंध हो गया है। मेरी समझ में जो लोग केवल राजनीतिक संबंध या सियासी ताल्लुक़ात पर ही ज़ोर देते हैं, वे भूलते हैं। मुसलमानों से, सामाजिक और व्यापारिक संबंध, राजनीतिक की अपेक्षा अधिक रहा है। लड़ाइयाँ निरंतर नहीं होती रहतीं और राज-काज भी हर शहर और हर बस्ती में इतना सार्वजनिक प्रभाव डालनेवाला और व्यापक नहीं हुआ करता परंतु बाहर से बस जानेवाले विदेशी, बस्तियों के भीतर कभी बिलकुल अलग अलग—चुप चाप मौन साध कर—नहीं रह सकते। अपने पड़ोसियों से मेल-जोल, लेन-देन, बनिज-व्यापार, कारबार और व्यवहार किए बिना उनका काम नहीं चल सकता, और यह सब कुछ मूक या नीरव भाषा में होना असंभव है। इस प्रकार के संबंध अधिक व्यापक, अधिक प्रभावशाली और निरंतर बने रहनेवाले—चिरस्थायी या देरपा—होते हैं, इनका प्रभाव भाषा पर स्थायी

और अमिट होता है। इसी लिये हमारी यह सहेतुक धारणा है कि राजनीतिक की अपेक्षा सामाजिक संबंध का भाषा के ऊपर बहुत गहरा असर पड़ता है। यह बात मैं मानता हूँ कि साधारण श्रेणी के विदेशियों से सबसे अधिक संपर्क, सेनावाली बस्तियों और बाज़ारों में होता है। परंतु साथ ही यह बात भी याद रखनी चाहिये कि जब विदेशियों की एक बड़ी संख्या कहीं आकर बस जाती है, तो इसका काम सिर्फ़ सेनाविभाग में नौकरी करने से नहीं चल सकता; फिर ऐसी बस्तियों में सिपाहियों के सिवाय पेशेवर, रोज़गारी, मज़दूर, किसान और दफ़्तरों में काम करनेवाले अमले भी रहते हैं, उन सबका भी भाषा पर संमिलित प्रभाव पड़ता है।

फ़ारसी, अरबी, तुर्की, पुर्तगाली और फिरंगी शब्द, बँगला, मराठी, गुजराती आदि और भाषाओं में भी मिले-जुले पाए जाते हैं। जहाँ इनकी संख्या बहुत बढ़ी हुई है, वहाँ इनके अधिक की शैली भी पृथक् होगई है। जैसे गुजराती में हिंदू-गुजराती के साथ साथ, पारसी-गुजराती की भी एक पृथक् शैली चलती है, जिसमें फ़ारसी शब्दों की बहुतायत है। सौभाग्य से वहाँ लिपि-भेद का प्रश्न कभी पैदा ही नहीं हुआ, नहीं तो शायद हिंदी उर्दू के-सा झगड़ा वहाँ भी खड़ा हो जाता। बंगला में, नित्य की बोलचाल में, 'दरकार', 'पोशाक', 'आईना', 'बालिश' इत्यादि फ़ारसी के सैकड़ों शब्द काम में आते हैं। 'आलमारी', 'बासन' (बरतन), 'बजरा' (डोंगी), 'बिस्कुट', 'काजू' (फल), 'फ़ीता', 'गोदाम', 'गिरजा', 'इंगला (रा) ज' (अंगरेज़), 'जुलाब', 'जानाला' (जँगला), 'नीलाम', 'लेबू' (नीबू), 'मार-तौल' (हथौड़ा), 'मास्तूल' (मस्तूल), 'पादरी', 'पिस्तौल', 'तामाक' (तमाकू), 'बियाला' (बाजा)' 'अचार' (अचार

चटनी), 'चाबी' (कुंजी), 'तौलिया', 'कुर्ता', आदि अनेक पुर्तगाली शब्द, जो बँगला में प्रचलित हैं थोड़े से हेर-फेर के साथ हिंदी, मराठी, गुजराती आदि अन्य भारतीय भाषाओं में भी व्यवहृत होते हैं। बात यह है कि विदेशियों का संपर्क, जिस प्रांत में जितनी कमी-बेशी के साथ रहा है, उसी हिसाब से उन-उन प्रांतों की बोलियों में विदेशी शब्द भी घुलमिल गए हैं। भारत की कोई प्रांतीय भाषा ऐसी नहीं है जिसमें विदेशी शब्दों की एक अच्छी संख्या शामिल न हो। यह सब कुछ होते हुए भी किसी विदेशी भाषा ने ऐसी प्रबल चढ़ाई हमारे देश पर नहीं की है कि किसी देशी बोली को एक-दम निकाल कर बाहर कर दे और ख़ुद उसकी जगह ले ले। जिस तरह विदेशी आकर बस जाता है और अपनाए हुए देश की भाषा, संस्कृति, चाल-ढाल, रीति-रिवाज, वेष-भूषा ग्रहण कर लेता है, उसी तरह उसके साथ आए हुए बाहरी शब्द भी अंगीकृत देश के शब्दों का रंग-रूप ग्रहण करके उसके व्याकरण की अधीनता स्वीकार कर लेते हैं। इस तरह, चाहे वह विजयी जातियों के साथ ही क्यों न आए हों, पर विजित देश की शब्द-राशि में मिलकर अपनी पृथक् सत्ता को गवाँ ही बैठते हैं, या यों कहना चाहिये कि देशी भाषा के निरंतर आक्रमण संघर्ष और घेरघार से विजित होकर—हार मान कर—आत्म-समर्पण कर देते हैं और यथानियम अपनी 'शुद्धि' करा कर देशी चोला धारण कर लेते हैं।

ख़ालिस उर्दू के सैकड़ों शब्द ऐसे हैं जो अपने पूर्व रूप को एक-दम खो बैठे हैं—अपने पहले वाच्यार्थ से अब कोई सरोकार नहीं रखते—बल्कि कइयों का तो रूप ऐसा बिगड़ गया है कि वे पहचाने तक नहीं जाते कि किस देश से आए हुए हैं, और किस

जाति या वंश के भूषण हैं। कई की सूरत शक्ल तो बदस्तूर वही है पर मतलब-मानी में कहीं के कहीं जा पहुँचे हैं। इसके कुछ उदाहरण—

"फ़ैलसूफ" यूनानी शब्द है, अरबी में हकीम का और अँगरेज़ी में फ़िलासफ़र या डाक्टर का जो अर्थ है वही यूनानी में इसका है; पर उर्दू में आकर ग़रीब 'मक्कार' और दग़ाबाज़ बन गया! फैलसूफ़ी=मक्कारी!!

"ख़सम"—अरबी में प्रतिद्वन्द्वी या शत्रु को कहते हैं। उर्दू में इसने प्रियतम पति का स्थान ग्रहण कर लिया, शत्रु से परम मित्र हो गया! रूप वही है पर अर्थ में कितना अंतर!

"सैर" "तमाशा"—अरबी में फ़क़त रफ़्तार (गति-सामान्य) को कहते हैं। उर्दू में कहते हैं, "चलो बाग़ की सैर देख आयें।" अजब तमाशा है!

"तकरार"—अरबी में दुबारा कहने (पुनरुक्ति) या काम करने को कहते हैं, उर्दू में 'तकरार' लड़ाई-झगड़ा है।

"ख़ातिर"—अरबी फ़ारसी में दिल या ख़याल के मौक़े पर बोलते हैं। उर्दू में कहते हैं, इतना हमारी ख़ातिर से मान जाओ; या उनकी बड़ी ख़ातिर की।

"रोज़गार"—फ़ारसी में ज़माने (समय या काल) को कहते हैं; हिंदी में 'रोज़गार' नौकरी-धन्धा है।

"मुफ़लिस"—फ़ारसी में कंगाल को कहते हैं पर कलकत्ते में उसे कहते हैं जिसके स्त्री न हो। जब कोई किसी मकान में भाड़े के लिये कमरा या कोठरी तलाश करता है, तो घरवाला पूछता है—'आप गृहस्थ हैं या मुफ़लिस?' इस मुफ़लिसी के मारे कितने ही बेचारों को घर भाड़े नहीं मिलता।

'पावरोटी'—डबल रोटी को कहते हैं। कारण यह है कि

पुर्तगाली भाषा में 'पाओं' रोटी का नाम है। परंतु हमारी भाषा में 'पाओं' शब्द 'पाव' के रूप में एक ख़ास क़िस्म की रोटी का नाम पड़ गया। 'पाव' के साथ 'रोटी' का प्रयोग पुनरुक्ति है, पर इसका प्रचार हो गया है। सिर्फ़ पाव कहने से रोटी कोई न समझेगा। इत्तफ़ाक से डबल रोटी, जिसके असली मानी मोटी और फूली हुई रोटी के हैं, शायद यह अर्थ रखता है कि 'पावरोटी' में 'रोटी' शब्द डबल यानी दो बार आया हुआ है !!

पुर्तगाली 'फाल्टो' के मानी हमारे 'फालतू' में ज्यों के त्यों हैं, पर उच्चारण बदल गया है।

इसी प्रकार अरबी फ़ारसी के वे शब्द, जो हिंदी या हिंदुस्तानी में आगए हैं, उनका वही रूप शुद्ध है जिसमें वे बोले जाते हैं। उनके असल रूप में सही उच्चारण करना सर्वसाधारण के लिये संभव भी नहीं है; जैसे—'स्वाद' और 'से' या 'ज़े' 'ज़ाल' 'ज़ो' और 'ज़्वाद' वाले शब्दों का सही तलफ्फुज़ मामूली हिंदुस्तानी मोलवियों के लिये भी मुश्किल है, सर्वसाधारण पढ़े-लिखों की तो बात ही क्या है। इस लिये, यदि, हिंदुस्तानीपन का ध्यान रक्खा जाय तो उच्चारण-भेद के कारण जो झगड़ा भाषा में पैदा हो गया है, वह आसानी से बहुत कुछ मिट सकता है। लेकिन दिक़्क़त यह है कि असूल के तौर पर—सिद्धांत रूप में—इस बात को ठीक मान लेने पर भी इस पर अमल या व्यवहार नहीं हो रहा, 'पंचों का कहना सिर-माथे पर', पर 'परनाला वहीं बहेगा' वाली बात हो रही है ! केवल विदेशी भाषाओं के शब्दों का उच्चारण-भेद ही झगड़े का कारण नहीं है, अपनी भाषा के ठेठ हिंदुस्तानी शब्दों के बारे में भी यही बात है। प्रांतीय भेद के कारण एक ही शब्द भिन्न-भिन्न रूप में बोला जाता है यद्यपि लिखने में उसका एक ही रूप रहता है पर बोलने में लहजा

या टोन जुदा-जुदा होती है। यह बात कुछ हमारी हिंदी ही के संबंध में नहीं है, संस्कृत और अँगरेज़ी के उच्चारण में भी है। बंगालियों का संस्कृत उच्चारण बँगला ढंग का होता है दक्षिणियों का दक्षिणी ढंग का और मदरासियों का इन दोनों से जुदा अपने ढंग का। राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में संस्कृत और प्राकृत के उच्चारण-भेद पर बहुत कुछ लिखा है। किस प्रांत के लोग प्राकृत का उच्चारण अच्छा करते हैं और किस जगह के संस्कृत का इस पर ख़ूब बहस करके संस्कृत और प्राकृत के लिये पांचाल प्रांत तथा संयुक्त प्रदेश (मध्य प्रदेश) वालों का उच्चारण आदर्श माना है।

एक सज्जन के दाहने पाँव के अँगूठे में पत्थर से टकरा कर चोट लग गई थी, उस पर पनकपड़ा बाँध रक्खा था, लँगड़ा कर चलते थे। आप कुछ संस्कृत भी जानते हैं और विशुद्ध हिंदी के परम पक्षपाती हैं। मैंने पूछा, 'आपके पाँव में क्या हुआ ?' बोले—"दक्षिणपाद के अंगुष्ठ में प्रस्तर के आघात से व्रण हो गया है, उस पर आर्द्र वस्त्र वेष्टन कर रक्खा है, इससे लाभ की पूर्णतया संभावना है; अन्य प्रकार की अप्राकृत चिकित्सा-प्रणाली का मैं विरोधी हूँ।"

हिंदी-उर्दू के झगड़े में नाम-भेद भी एक मुख्य कारण बना हुआ है। हमारी भाषा के विभिन्न नामों की उत्पत्ति और उनके प्रचार के इतिहास पर विचार करना यहाँ उचित प्रतीत होता है।

उर्दू के बहुत-से हिमायती, इस रोशनी के ज़माने में भी, यह कहते सुने जाते हैं कि हिंदी एक नया और कल्पित नाम है, जो हिंदुओं ने उर्दू का बायकाट करने की ग़रज़ से गढ़ लिया है। दर असल हिंदी कोई भाषा नहीं, उर्दू ही इस देश की असली ज़बान है। इसी तरह हिंदीवालों को उर्दू नाम से कुछ चिढ़-सी

है। वे उर्दू के बारे में ठीक वैसा ही मत रखते हैं जैसा उल्लिखित उर्दूवाले हिंदी के विषय में। पर इस नाम-भेद के विवाद पर यदि ऐतिहासिक दृष्टि से निष्पक्ष हो कर विचार किया जाय, तो ये दोनों ही पक्ष कुछ भ्रांत से जँचते हैं। जो लोग हिंदी नाम को कल्पित या मन-गढ़ंत समझ कर नाक-भौं चढ़ाते हैं, या इस नाम की प्राचीनता या सत्ता ही को स्वीकार नहीं करते, वह एक ऐतिहासिक सत्य का अपलाप करते हैं। 'हिंदी' उर्दू की अपेक्षा, बहुत ही पुराना और सर्वमान्य नाम है। जिस भाषा का नाम आजकल 'उर्दू' प्रचलित है; इसके लिये उर्दू के पुराने लेखकों और कवियों ने 'हिंदी' शब्द का ही अपने ग्रंथों में सर्वत्र व्यवहार किया है; उर्दू का नाम कहीं नहीं आया। 'उर्दू' शब्द उस समय भाषा के लिये निर्मित ही नहीं हुआ था, फिर आता कैसे?

बहुत-से लोग शब्द के व्यवहार को (भाषा के लिये) शाहजहाँ के समय से मानते हैं। बहुत दिनों तक उर्दू की उत्पत्ति का काल भी यही माना जाता रहा है। अर्थात् शाहजहाँ का शासनकाल दिल्ली का उर्दू-बाज़ार (छावनी) उर्दू भाषा की जन्मभूमि या सूतिका-गृह है, ऐसा समझा जाता रहा है। पर ये दोनों ही धारणायें निराधार और किंवदंती ही हैं। इनकी पुष्टि में कोई दृढ़ ऐतिहासिक वा साहित्यिक प्रमाण नहीं मिलता।

काव्य-पद्धति और हिंदी का श्रेष्ठ कवि

काव्य के दो स्वरूप हमें देखने में आते हैं—अनुकृत या प्रकृत तथा अतिरंजित या प्रगीत। कवि की भावुकता की सच्ची झलक वास्तव में प्रथम स्वरूप में ही मिलती है। जीवन के अनेक मर्म

पक्षों की वास्तविक अनुभूति जिसके हृदय में समय समय पर जगती रहती है उसी से ऐसे रूप व्यापार हमारे सामने लाते बनेंगे जो हमें किसी भाव में मग्न कर सकते हैं और उसी से उस भाव की ऐसे स्वाभाविक रूप में व्यंजना भी हो सकती है जिसको सामान्यतः सबका हृदय अपना-सकता है। अपनी व्यक्तिगत सत्ता की अलग भावना से हटाकर, निज के योग-क्षेम के संबंध से मुक्त करके, जगत् के वास्तविक दृश्यों और जीवन की वास्तविक दशाओं में जो हृदय समय समय पर रमता रहता है वही सच्चा कवि-हृदय है। सच्चे कवि वस्तु-व्यापार का चित्रण बहुत बढ़ा-चढ़ा और चटकीला कर सकते हैं, भावों की व्यंजना अत्यंत उत्कर्ष पर पहुँचा सकते हैं, पर वास्तविकता का आधार नहीं छोड़ते। उनके द्वारा अंकित वस्तु-व्यापार-योजना इसी जगत् की होती है, उनके द्वारा भाव उसी रूप में व्यंजित होते हैं, जिस रूप में उनकी अनुभूति जीवन में होती है या हो सकती है। भारतीय कवियों की मूल प्रवृत्ति वास्तविकता की ओर ही रही है। यहाँ काव्य जीवन-क्षेत्र से अलग खड़ा किया हुआ केवल तमाशा ही नहीं रहा है।

काव्य का दूसरा स्वरूप—अतिरंजित या प्रगीत—वस्तु-वर्णन तथा भावव्यंजना दोनों में पाया जाता है। कुछ कवियों की प्रवृत्ति रूपों और व्यापारों की ऐसी योजना की ओर होती है जैसी सृष्टि के भीतर नहीं दिखाई पड़ा करती। उनकी कल्पना कभी स्वर्णकमलों से कलित सुधा-सरोवर के कूलों पर मलयानिल-स्पंदित पाटलों के बीच विचरती है। कभी मरकत-भूमि पर खड़े मुक्ता-खचित प्रवाल-भवनों में पुष्पराग और नील मणि के स्तंभों के बीच हीरे के सिंहासनों पर जा टिकती है, कभी सायं-प्रभात के कनक-मेखला-मंडित विविध वर्णमय घन-पटलों के

पर्दे डालकर विकीर्ण तारक-सिकता-कणों के बीच बहती आकाश-गंगा में अवगाहन करती है। इसी प्रकार की कुछ रूपयोजनायें प्राचीन आख्यानों में रूढ़ होकर पौराणिक होगई हैं और मनुष्य की नाना जातियों के विश्वास से संबंध रखती हैं! जैसे सुमेरु पर्वत, सूर्य्य-चंद्र के पहियोंवाला रथ, समुद्र-मंथन, समुद्र-लंघन, सिर पर पहाड़ लादकर आकाशमार्ग से उड़ना इत्यादि। इन्हें काव्यगत अत्युक्ति या कल्पना की उड़ान के अंतर्गत हम नहीं लेंगे।

काव्य में उपर्युक्त ढंग की रूप-व्यापार-योजना प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों पक्षों में पाई जाती है। कुछ कवियों का झुकाव दोनों पक्षों में अलौकिक या अतिरंजित की ओर रहता है और कुछ का केवल अप्रस्तुत पक्ष में। जैसे—

'मखतूल के झूल झुलावत केशव
भानु मनो शनि अंक लिये।'

भावव्यंजना के क्षेत्र में काव्य का अतिरंजित या प्रगीत स्वरूप अधिकतर मुक्तक पद्यों में—विशेषतः शृंगार या प्रेम संबंधी—पाया जाता है। कहीं विरहताप से सुलगते हुए शरीर से उठे हुए धुएँ के कारण ही आकाश नीला दिखाई पड़ता है, कौवे काले हो जाते हैं। कहीं रक्त के आँसुओं की बूँदें टेसू के फूलों, नई कोंपलों और गुंजा के दानों के रूप में बिखरी दिखाई पड़ती हैं। कहीं जगत् को डुबानेवाले अश्रुप्रवाह के खारेपन से समुद्र खारे हो जाते हैं। कहीं भस्मीभूत शरीर की राख का एक एक कण हवा के साथ उड़ता हुआ प्रिय के चरणों में लिपटना चाहता है। इसी प्रकार कहीं प्रिय का श्वास मलयानिल होकर लगता है; कहीं उसके अंग का स्पर्श कपूर के कर्दम या कमल-दलों की खाड़ी में ढकेल देता है।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि हिंदी के श्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदास की रुचि काव्य के अतिरंजित या प्रगीत-स्वरूप की ओर नहीं थी। गीतावली गीतकाव्य है पर उसमें भी भावों की व्यंजना उसी रूप में हुई है जिस रूप में मनुष्यों को उनकी अनुभूति हुआ करती है या हो सकती है। यह बात आगे के प्रसंगों में उद्धृत उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगी। केवल दो-एक जगह उन्होंने कवियों की अतिरंजित उक्तियों का अनुकरण किया है। जैसे, सीताजी के विरहताप के इस वर्णन में जो हनुमान् राम से कहते हैं—

"जेहि वाटिका बसत तहँ खग मृग तजि तजि भजे पुरातन भौन।"
"स्वास समीर भेंट भई भोरेहु तेहि मग पग न धर्‌यो तिहु पौन॥"

पर ये दोनों पंक्तियाँ ऐसी हैं कि यदि तुलसी के सामान्य पाठकों को सुनाई जायँ तो वे उन्हें तुलसी की न समझेंगे। तात्पर्य यह है कि गोस्वामीजी की दृष्टि वास्तविक जीवन दशाओं के मार्मिक पक्षों के उद्घाटन की ओर थी। काल्पनिक वैचित्र्य-विधान की ओर नहीं। ऊपर जो बात कही गई उसका अर्थ कलावादी लोगों के निकट यह होगा कि तुलसीदास नूतन सृष्टि-निर्माण करनेवाले कवि नहीं थे। ऐसे लोगों के गुरुओं का कहना है कि ज्ञात जगत् परिमित है और मन (या अंतःकरणविशिष्टात्मा) का विस्तार असीम और अपरिमित है; अतः पूर्ण कविता वही है जो वास्तविक जगत् या जीवन में बद्ध न रहकर, वस्तु और अनुभूति दोनों के लोकातीत स्वरूप दिखाया करे। कल्पना के इन 'विश्वमित्रों' से योरप भी कुछ दिन परेशान रहा। 'कलावादी' जिसे 'नूतन सृष्टि' कहते हैं वह स्वच्छ और स्थिर दृष्टिवालों के निकट वास्तविक का विकृत रूप-मात्र है। ऐसा विकृत रूप जो प्रायः कुतूहल-मात्र उत्पन्न करके रह जाता है, हृदय के मर्मस्थल को स्पर्श नहीं करता, कोई सच्ची

और गंभीर अनुभूति नहीं जगाता। तुलसी की गंभीर वाणी शब्दों की कलाबाज़ी, उपयुक्तियों की झूठी तड़क-भड़क आदि खेलवाड़ों में भी नहीं उलझी है! वह श्रोताओं या पाठकों को ऐसी भूमियों पर ले जाकर खड़ा करने में ही अग्रसर है और रहती आई है, जहाँ से जीते जागते जगत् की रूपात्मक और क्रियात्मक सत्ता के बीच भगवान् की भावमयी मूर्ति की झाँकी मिल सकती है! गोस्वामीजी का उद्देश लोक के बीच प्रतिष्ठित रामत्व में लीन करना है; कुतूहल या मनोरंजन की सामग्री एकत्र करना नहीं! 'श्लेष', 'यमक', 'परसंख्या' इत्यादि कोरे चमत्कार-विधायक अलंकार रखने के लिये ही उन्होंने कहीं रचना नहीं की थी। इन अलंकारों का प्रयोग ही उन्होंने दो ही चार जगह किया है। वे चमत्कारवादी नहीं थे। 'दोहावली' में कुछ दोहों की दुरूहता का कारण उनकी चमत्कार-प्रियता नहीं, समास-पद्धति का अवलंबन है, जिसमें अर्थ का कुछ आरोप ऊपर से करना पड़ता है। जैसे यह दोहा लीजिए—

"उत्तम मध्यम नीच गति, पाहन सिकता पानि।
प्रीति परीच्छा तिहुँन की, बैर बितिक्रम जानि॥"

जो इस संस्कृतश्लोक का अनुवाद है।

"उत्कृष्टमध्यमनिकृष्टजनेषु मैत्री,
यद्वच्छिलासु सिकतासु जलेषु रेखा।
वैरं निकृष्टमपि मध्यम उत्तमे च,
यद्वच्छिलासु सिकतासु जलेषु रेखा॥"

श्लोक के भाव को थोड़े में व्यक्त करने के लिये उत्तम, मध्यम, निकृष्ट को फिर उलटे क्रम से न रखकर 'बितिक्रम' शब्द से काम चलाया गया है। 'रेखा' शब्द न लाने से अर्थ

बिलकुल लापता होगया है। अनुवाद की यह असफलता समास या चुस्ती के प्रयास के कारण हुई है। नहीं तो गोस्वामीजी के समान संस्कृत उक्तियों का अनुवाद करनेवाला हिंदी का दूसरा कवि नहीं। दोहावली में जितने क्लिष्ट दोहे हैं उनकी क्लिष्टता का कारण यही समासशैली है। अनुकरण मनुष्य के स्वभाव के अंतर्गत है। गोस्वामीजी ने जैसे सब प्रकार की प्रचलित पद्यशैलियों या छंदों में रचना की है वैसे ही कहीं दो-एक जगह कूट और आलंकारिक चमत्कार आदि का भी कौशल दिखा दिया है जिसके उदाहरण 'दोहावली' में मिलेंगे। बात यह है कि 'दोहावली' में गोस्वामीजी कवि और सूत्रकार, इन दोनों रूपों में विराजमान हैं। भक्ति और प्रेम का स्वरूप व्यक्त करनेवाले दोहे तो 'काव्य' के अंतर्गत लिए जायँगे, पर नीति के दोहे 'सूक्ति' की श्रेणी में स्थान पायेंगे।

'दोहावली' के समान 'रामचरितमानस' में भी गोस्वामीजी कवि के रूप में ही नहीं धर्मोपदेष्टा और नीतिकार के रूप में भी हमारे सामने आते हैं। 'मानस' के काव्यपक्ष का तो कहना ही क्या है। उसके भीतर मनुष्य-जीवन में साधारणतः आने वाली प्रत्येक दशा, परिस्थिति का सन्निवेश तथा उस दशा और परिस्थिति का अत्यंत स्वाभाविक, मर्मस्पर्शी और सर्वग्राह्य चित्रण है, जैसा लोकाभिराम राम का चरित था, वैसी ही प्रसादमयी गंभीर गिरा, संस्कृत और हिंदी दोनों में, उसके प्रकाश के लिये मिली। इस काल में तो 'रामचरितमानस' हिंदू-जीवन और हिंदू-संस्कृति का सहारा हो गया है! भारतवर्ष के जिस कोने में लोग इस ग्रंथ को पूरा पूरा नहीं भी समझ सकते, वहाँ भी वे थोड़ा बहुत जितना समझ पाते हैं उतने के ही लिये इसे पढ़ते हैं। कथाएँ तो और भी कही जाती हैं, पर जहाँ

सब से अधिक श्रोता देखिए और उन्हें रोते और हँसते पाइए, वहाँ समझिए कि तुलसीकृत रामायण हो रही है। साधारण जनता के मानस पर तुलसी के मानस का अधिकार इतने ही में समझा जा सकता है!

इसी एक ग्रंथ से जनसाधारण को नीति का उपदेश, सत्कर्म की उत्तेजना, दुःख में धैर्य, आनंदोत्सव में उत्साह, कठिन स्थिति को पार करने का बल—सब कुछ प्राप्त होता है। यह उनके जीवन का साथी हो गया है।

जिस धूम-धाम से इस ग्रंथ की प्रस्तावना उठती है उसे देखते ही इसके महत्त्व का आभास मिलने लगता है। ऐसे दृष्टि-विस्तार के साथ, जगत् की ऐसी गंभीर समीक्षा के साथ और किसी ग्रंथ की प्रस्तावना नहीं लिखी गई है। रामायणियों में प्रसिद्ध है कि 'बाल' के आदि, 'अयोध्या' के मध्य और 'उत्तर' के अंत की गंभीरता की थाह डूबने से मिलती है। बात भी कुछ ऐसी ही है। मनुष्य-दशा की गणना से देखें तो बालकांड में आनंदोत्सव अपनी हद को पहुँचता है; 'अयोध्या' में गार्हस्थ्य की विषम स्थिति सामने आती है; 'आरण्य', 'किष्किंधा' और 'सुंदर' कर्म और उद्योग का पक्ष प्रतिबिंबित करते हैं तथा 'लंका' और 'उत्तर' में कर्म की चरम सीमा, विजय और विभूति का चित्र दिखाई देता है। जैसा कि कहा जा चुका है, 'मानस' में तुलसीदासजी धर्म्मोपदेष्टा और नीतिकार के रूप में माने जाते हैं! इससे शुद्ध काव्य की दृष्टि से देखने पर उसके बहुत-से प्रसंग और वर्णन खटकते हैं, जैसे पातिव्रत और मित्रधर्म के उपदेश, उत्तरकांड में गरुड़पुराण के ढंग का कर्मों का ऐसा फलाफल कथन—

"हरि गुरु निंदक दादुर होई। जन्म सहस्र पाव तन सोई॥
सुर-श्रुति निंदक जे अभिमानी। रौरव नरक परहिं ते प्रानी॥
सबकै निंदा जे जड़ करहीं। ते चमगादुर होइ अवतरहीं॥"

अब विचारना यह चाहिये कि साहित्य की दृष्टि से ऐसे कोरे उपदेशों का मानस में स्थान क्या होगा? मानस एक प्रबंध-काव्य है। प्रबंध-काव्य में कवि लोग पात्रों की प्रकृति और शील का चित्रण भी किया करते हैं। 'मानस' में उक्त प्रकार के उपदेशात्मक वचन किसी न किसी पात्र के मुँह से कहलाए गए हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि ऐसे वचन पात्रों के शील-व्यंजक-मात्र हैं और काव्यप्रबंध के अंतर्गत हैं। पर विचार करने पर यह साफ़ झलक जाता है कि उन उपदेशात्मक वचनों द्वारा कवि का लक्ष्य वक्ता, पात्रों का चरित्रचित्रण करना नहीं, उपदेश ही देना है। चरित्रचित्रण-मात्र के लिये जो वचन कहलाए जाते हैं उनके यथार्थ-अयथार्थ या संगत-असंगत होने का विचार नहीं किया जाता। पर 'मानस' में आए उपदेश इसी दृष्टि से रखे जान पड़ते हैं कि लोग उन्हें ठीक मानकर उन पर चलें। अतः यही मानना ठीक होगा कि ऐसे स्थलों पर गोस्वामीजी का कविरूप नहीं, उपदेशक का ही रूप है। अब हम इन कोरे और नीरस उपदेशों को काव्यक्षेत्र के भीतर समझें या बाहर? भीतर समझने के लिये यही एक शास्त्रीय युक्ति है कि जैसे समूचे प्रबंध के रस से बीच बीच में आए हुए "आगे चले बहुरि रघुराई" ऐसे नीरस पद्य भी रसवान् हो जाते हैं वैसे ही इस प्रकार के कोरे उपदेश भी!

अब रहा यह कि गोस्वामीजी ने "रामचरितमानस" की रचना में वाल्मीकि से भिन्न पथ का जो बहुत जगह अवलंबन किया है वह किस विचार से। पहिली बात तो यह है कि

वाल्मीकि ने राम के नरत्व और नारायणत्व, इन दोनों पक्षों में से नरत्व की पूर्णता प्रदर्शित करने के लिये उनके चरित्र का गान किया है। पर गोस्वामीजी ने राम का नारायणत्व लिया है और अपने 'मानस' को भगवद्भक्ति के प्रचार का साधन बनाया है, इससे कहीं कहीं उन्होंने उनके नरत्वसूचक लक्षणों को दृष्टि के सामने से हटा दिया है। जैसे वनवास का दुःसंवाद सुनाने जब राम कौशल्या के पास जाने लगे हैं तब वाल्मीकि ने उनके दीर्घ निःश्वास और कंपित स्वर का उल्लेख किया है। सीता को अयोध्या में रहने के लिये समझाते समय उन्होंने कहा है कि भरत के सामने मेरी प्रशंसा न करना। इसी प्रकार मृग को मारकर लौटते समय आश्रम पर सीता के न रहने की आशंका उन्हें होने लगी है तब उनके मुँह से निकल पड़ा है कि केकयी अब सुखी होगी। ऐसे स्थलों पर राम में इस प्रकार का क्षोभ गोस्वामी जी ने नहीं दिखाया है पर साथ ही काव्यत्व की उन्होंने पूरी रक्षा की है, अस्वाभाविकता नहीं आने दी है। अवसर के अनुसार दुःख, शोक आदि की उनके द्वारा पूरी व्यंजना कराई है। अध्यात्म-रामायण भक्ति-ग्रंथ है। इससे अनेक स्थलों पर उन्होंने उसीका अनुसरण किया है।

पर बहुत कुछ परिवर्तन गोस्वामीजी ने अपने समय की लोकरुचि और साहित्य की रूढ़ि के अनुसार किया है। वाल्मीकि ने प्रेम का स्फुरण केवल लोककर्तव्यों के बीच में ही दिखाया है उससे अलग नहीं। उनकी रामायण में सीता-राम के प्रेम का परिचय हम विवाह के उपरांत ही पाते हैं, पर गोस्वामी-जी के बहुत पहले से काव्यों में विवाह के पूर्व नायक नायिका में प्रेम का प्रादुर्भाव दिखाने की प्रथा प्रतिष्ठित चली आती थी, इसी से उन्होंने भी प्रेमाख्यानी रंग देने के लिये जयदेव के प्रसन्नराघव

नाटक का अनुसरण करके धनुषभंग के प्रसंग में 'फुलवारी' के दृश्य का संनिवेश किया है। उन्होंने जनक की वाटिका में राम-सीता का साक्षात् कराके दोनों के हृदय में प्रेम का उदय दिखाया है। पर इस प्रेमप्रसंग में भी रामकथा के पुनीत स्वरूप में कुछ भी अंतर न आने पाया। लोकमर्यादा का लेश-मात्र भी अतिक्रमण न हुआ। राम-सीता एक दूसरे का अलौकिक सौंदर्य देखकर मुग्ध होते हैं। सीता मन ही मन राम को अपना वर बनाने की लालसा करती हैं, उनके ध्यान में मग्न होती हैं; पर "पितु-पन सुमिरि बहुरि मन क्षोभा"। वे इसका कभी आभास नहीं देतीं कि 'पिता चाहे लाख करें मैं राम को छोड़ कर किसी के साथ विवाह न करूँगी।' इसी प्रकार राम भी यह कहीं व्यंजित नहीं करते कि धनुष चाहे जो तोड़े, मेरे देखते सीता के साथ कोई विवाह नहीं कर सकता।

वाल्मीकि ने विवाह हो जाने के उपरांत मार्ग में परशुराम का मिलना लिखा है। पर गोस्वामीजी ने उनका झमेला विवाह होने के पूर्व धनुभंग होते ही रखा है। इसे भी रसात्मकता की मात्रा बढ़ाने की काव्ययुक्ति ही समझना चाहिये। वीरगाथा-काल के पहले ही से वीरकाव्यों की यह परिपाटी चली आती थी कि नायिका को प्राप्त करने के पहले नायक के मार्ग में अनेक प्रकार की विघ्न-बाधायें खड़ी होती थीं जिन्हें नायक अपना अद्भुत कर्म दिखाता हुआ दूर करता था। इससे नायक के व्यक्तित्व का प्रभाव नायिका पर और भी अधिक हो जाता; उस पर वह और भी अधिक मुग्ध हो जाती थी। 'रासो' नाम के वीरप्रचलित काव्यों में वीर नायक अपने विरोधियों को परास्त करने के उपरांत नायिका को ले जाता था। रामचंद्रजी का तेज और पराक्रम धनुष तोड़ने पर व्यक्त हुआ ही था और

सीता पर उनका अनुरागवर्द्धक प्रभाव पड़ा ही था कि परशुराम के कूद पड़ने से प्रभाववृद्धि का दूसरा अवसर निकल आया। परशुराम ऐसे जगद्‌विजयी और तेजस्वी का भी तेज राम के सामने फीका पड़ गया। उस समय राम की ओर सीता का मन कितने और अधिक वेग से आकर्षित हुआ होगा; राम के स्वरूप ने किस शक्ति के साथ उनके हृदय में घर किया होगा।

गोस्वामीजी ने यद्यपि अपनी रचना "स्वांतःसुखाय" बताई है, पर वे कला की कृति के अर्थ और प्रभाव की प्रेषणीयता (Communicability) को बहुत ही आवश्यक मानते थे। किसी रचना का वही भाव जो कवि के हृदय में था यदि पाठक या श्रोता के हृदय तक न पहुँच सका तो ऐसी रचना कोई शोभा नहीं प्राप्त कर सकती; उसे एक प्रकार से व्यर्थ समझना चाहिए।

"मनि मानिक मुक्ता छबि जैसी।
अहि, गिरि, गज सिर सोह न तैसी॥
नृप किरीट तरुनी तन पाई।
लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥
तैसइ सुकवि-कवित बुध कहहीं।
उपजहिं अनत, अनत छवि लहहीं॥"

आज-कल सब बातें विलायती दृष्टि से देखी जाती हैं। अतः यह पूछा जा सकता है कि तुलसीदास की रचना अधिकतर स्वानुभूति-निरूपणी है अथवा बाह्यार्थ-निरूपणी। 'रामचरितमानस' के संबंध में तो यह प्रश्न हो ही नहीं सकता क्योंकि वह एक प्रबंधकाव्य या महाकाव्य है। प्रबंधकाव्य सदा बाह्यार्थ-निरूपक होता है। शेष ग्रंथों में से गीतावली यद्यपि गीत-काव्य है, फिर भी वह आदि से अंत तक कथा ही को लेकर चली है। उसमें

या तो वस्तुव्यापार-वर्णन है या पात्रों के मुँह से भावव्यंजना। अतः वह भी बाह्यार्थ-निरूपक ही कही जाएगी।

कवितावली में भी कथाप्रसंगों को लेकर फुटकर पद्यों की रचना की गई है। हाँ, उसके उत्तरकांड में कवि राम की दयालुता, भक्तवत्सलता आदि के साथ साथ अपनी दीनता, निरवलंबता, कातरता इत्यादि का भी वर्णन करता है। 'विनयपत्रिका' में अलबत्ता तुलसीदासजी अपनी दशा का निवेदन करने बैठते हैं। उस ग्रंथ में जगह जगह अपनी प्रतीति, अपनी भावना और अपनी अनुभूति स्पष्ट 'अपनी' कहकर प्रकट करते हैं; जैसे—

(क) संकर साखि जो राखि कहौं कछु तो जर जीह गरो।
अपनो भलो राम नाम ही ते तुलसिहि समुझि परो॥

(ख) बहुमत सुन, बहुपथ पुरातनि जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहिं लगत राज डगरो सो॥

(ग) को जाने को जैयेह जमपुर, को सुरपुर, पुरधाम को।
तुलसिहिं बहु भलो लागत जग जीवन राम गुलाम को॥

इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि तुलसी की अनुभूति ऐसी नहीं जो एकदम सबसे न्यारी हो। 'विनय' में केवल कलि की करालता से उत्पन्न जिस व्याकुलता या करालता का उन्होंने वर्णन किया है यह उन्हीं की नहीं है, समस्त लोक की है। इस प्रकार जिस दीनता, निर्बलता, दोषपूर्णता या पापमग्नता की भावना की उन्होंने व्यंजना की है वह भी भक्त-मात्र के हृदय की सामान्य वृत्ति है। वह और सब भक्तों की अनुभूति से अविच्छिन्न नहीं, उसमें कोई व्यक्तिगत वैलक्षण्य नहीं। यहाँ पर यह सूचित कर देना आवश्यक है कि 'स्वानुभूति-निरूपक' और 'बाह्यार्थ-निरूपक' यह भेद स्थूल दृष्टि से ही किया हुआ है। कवि अपने

से बाहर की जिन वस्तुओं का वर्णन करता है उन्हें भी वह आप जिस रूप में अनुभव करता है, उसी रूप में रखता है। अतः वह भी उसकी स्वानुभूति ही हुई। दूसरी ओर जिसे वह स्वानुभूति कहकर प्रकट करता है वह यदि संसार में किसी की अनुभूति से मेल नहीं खायगी तो एक कौतुक-मात्र होगी, काव्य नहीं। ऐसा काव्य और उसका कवि दोनों तमाशा देखने की चीज़ ठहरेंगे। जिस अनुभूति की व्यंजना को श्रोता या पाठक का हृदय भी अपनाकर अनुरंजित होगा वह केवल कवि की ही नहीं रह जायगी, श्रोता या पाठक की भी हो जायगी। अपने हृदय को और लोगों के हृदयों से सर्वथा विलक्षण प्रकट करनेवाला एक संप्रदाय योरप में रहा है। वहाँ कुछ दिन नक़ली हृदयों के कारख़ाने जारी रहे। पर पीछे उन खिलौनों से लोग ऊब गए।

यह तो स्थिर बात है कि तुलसीदासजी ने वाल्मीकि-रामायण, अध्यात्मरामायण, महारामायण, श्रीमद्भागवत, हनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव नाटक इत्यादि अनेक ग्रंथों से रचना की सामग्री ली है। इन ग्रंथों की बहुत-सी उक्तियाँ ज्यों की त्यों अनूदित करके रखी हैं जैसे वर्षा और शरद् ऋतु के वर्णन बहुत कुछ भागवत से लिए गए हैं। धनुषयज्ञ के प्रसंग में उन्होंने हनुमन्नाटक और प्रसन्नराघव नाटक से बहुत सहायता ली है। पर उन्होंने जो संस्कृत-उक्तियाँ ली हैं उन्हें भाषा पर अपने अद्वितीय अधिकार के बल से एक-दम मूल हिंदी रचना के रूप में कर डाला। कहीं से संस्कृतपन या वाक्य-विन्यास की दुरूहता नहीं आने दी है। बहुत जगह तो उन्होंने उक्ति को अधिक व्यंजक बनाकर और चमका दिया है। उदाहरण के लिये हनुमन्नाटक का यह श्लोक लीजिए।

"या विभूतिर्दशग्रीवे शिरश्छेदेऽपि शंकरात् ।
दर्शनाद्रामदेवस्य सा विभूतिर्विभीषणे ॥"

इसे गोस्वामीजी ने इस रूप में लिया है—

"जो संपति सिव रावनहिं दीन्हि दिए दस माथ ।
सोइ संपदा विभीषनहि सकुचि दीन रघुनाथ ॥"

इस अनुवाद में "दस माथ दिए" के जोड़ में "दरसन हीं तें" न रखने से याचक के बिना प्रयास प्राप्त करने का ज़ोर तो निकल गया पर सकुचि पद लाने से दाता के असीम औदार्य्य की भावना से उक्ति परिपूर्ण होगई है । 'सकुचि' शब्द की व्यंजना यह है कि इतनी बड़ी संपत्ति भी देते समय राम को बहुत थोड़ी जान पड़ी ।

रत्नखंड

(क) स्वयम्

हाट का समय बीत जाने पर मुझे वहाँ जाने की सुध आई । कितनी ही आवश्यक वस्तुएँ लेनी, बेचनी थीं । मैं विकल हो उठा ।

अब क्या हो सकता । संध्या-बेला थी । प्रतीची ने दिन भर के थके माँदे सूर्य्य का स्वागत किया और उसने उसका आतिथ्य अनुराग से अंगीकार करके विश्राम लिया । सब अपना अपना काम करके लौट रहे थे, देख देख कर मैं तड़पने लगा । मेरी दशा बस वह पक्षी जान सकता है जो बसेरे के लिये अपने घोंसले को नहीं लौट पाता ।

अब मेरी कुंडी खटकी। मैंने द्वार खोल तो दिया, पर न जाने क्या बड़बड़ाते हुए।

लो, यह क्या! स्वयं हाट के प्रधान, मुझे जो वस्तुएँ लेनी थीं उन्हें देने तथा जो बेचनी थीं उन्हें लेने के लिये खड़े हैं।

।———

(ख) आनंद की खोज

आनंद की खोज में मैं कहाँ कहाँ न फिरा? सब जगह से मुझे उसी भाँति कलपते हुए निराश लौटना पड़ा जैसे चंद्र की ओर से चकोर लड़खड़ाता हुआ फिरता है।

मेरे सिर पर कोई हाथ रखनेवाला न था और मैं रह रह कर यही बिलखता कि जगन्नाथ के रहते भी मैं अनाथ कैसे रहता हूँ, क्या मैं जगत् के बाहर हूँ!

मुझे यह सोचकर अचरज होता कि आनंद-कंद-मूलक इस विश्व-वल्लरी में मुझे आनंद का अणु-मात्र भी न मिले! हा! आनंद के बदले मैं रुदन और शोच को परिपोषित कर रहा था।

अंत को मुझसे न रहा गया। मैं चिल्ला उठा—आनंद, आनंद, कहाँ है आनंद! हाय! तेरी खोज में मैंने व्यर्थ जीवन गँवाया। बाह्य प्रकृति ने मेरे शब्दों को दुहराया, किंतु मेरी आंतरिक प्रकृति स्तब्ध थी। अतएव मुझे अतीव आश्चर्य हुआ। पर इसी समय ब्रह्मांड का प्रत्येक कण सजीव होकर मुझसे पूछ उठा—क्या कभी अपने आपमें भी देखा था? मैं अवाक् था।

सच तो है। जब मैंने—उसी विश्व के एक अंश—अपने आप तक में न खोजा था तब मैंने यह कैसे कहा कि समस्त सृष्टि छान डाली? जो वस्तु मैं ही अपने आपको न दे सका वह भला दूसरे मुझे क्यों देने लगे?

परंतु, यहाँ तो जो वस्तु मैं अपने आपको न दे सका था वह मुझे अखिल ब्रह्मांड से मिली और जो मुझे अखिल ब्रह्मांड से न मिली थी वह अपने आप में मिली !

(ग) प्रमाद

तुम्हें लुभाने के लिये मैं खूब सज-सजाकर घर से बाहर निकला। राजपथ पर भीड़ थी इससे मुझे रुकना पड़ा। लोग मेरी ओर देखने और सजावट की प्रशंसा करने लगे। भला, प्रशंसा किसे पागल नहीं कर देती ? मैं भी अपना प्रकृत उद्देश भूलकर उन्हें अपनी सजावट दिखाने लगा। आनंद से मेरा हृदय नाच रहा था।

यहाँ तक कि अभिमान ने मुझे अंधा बना दिया। तुम भी आकर उसी भीड़ में खड़े हो गए और मुझे देखने लगे, पर मैंने तुम्हें न देखा।

संध्या को भीड़ छँट गई और तुम्हारे दान के बोझ से दबे मँगते लौटने लगे, तब मेरी आँखें खुलीं।

परंतु अब हो क्या सकता था। हाय ! इस दिखावे में मैं तुम्हें न देख सका।

(घ) अभिमान

मैं महाराज की वाटिका में फिर रहा था। देखता क्या हूँ कि एक जन सुमन चुन रहा है। मैंने क्रोध और दर्प से कहा—जानते नहीं, यह महाराज की वाटिका है। यहाँ ऐसा दुःसाहस तुमने कैसे किया ? वह बेचारा निरुत्तर हो गया। और, उसके

कंपित करों ने उन फूलों को मेरे चरणों पर गिराकर मुझसे क्षमा-सी माँगी। पर मेरा क्रोध शांत न हुआ। मैंने विकृत स्वर में कहा—फिर इधर आने का नाम न लेना। वह चुपचाप चला गया।

वह तो गया, पर मेरा क्रोध न गया। मैं बड़बड़ाता हुआ महाराज की ओर चला। चलने को तो मैं चला, पर उस क्रुद्धावस्था में भी, मेरे हृदय में कोई पूछ रहा था कि तुम भी तो उसी श्रेणी के हो। आज महाराज के कृपा-पात्र हो जाने से उसका यह निरादर! महाराज तुम पर मोहित हुए सही, पर तुम्हारे जान-बूझकर कोई हाव-भाव करने से थोड़े ही। तुम भी तो कुछ ऐसा ही ऊत-सूत करते थे। महाराज ने उसमें न-जाने कौन-सी अदा देखी कि तुम्हें अपना लिया। किंवा, तुम डरते हो कि तुम्हारा पद न छिन जाए, अतः यह सारी लीला कर रहे हो। मैंने कुछ ध्यान न दिया। कहा—उँह यह तो हृदय-दौर्बल्य है।

क्रोध का भार न सँभाल सकने से मैं लड़खड़ाता हुआ उन तक पहुँचा।

किंतु, मुझे काटो तो खून नहीं। मैं निष्प्राण पाषाण-प्रतिमा की भाँति वहीं निश्चल रह गया। अरे, यह तो वही उस वेश में वहाँ गए थे, अब यहाँ बैठे हैं!

पर वे निराकुल थे। सरल, सस्मित भाव से उन्होंने कहा—अच्छे रहे! एक तुच्छ परिहास भी न समझ सके!

विजयानंद दुबेजी की चिट्ठी

अजी संपादकजी महाराज,

जयरामजी की !

क्या कहूँ भाई, हिंदुओं का पाखंड देखकर चित्त को बड़ा ही क्लेश होता है। हिंदुओं ने धर्म तथा आस्तिकता को अपने मनोरंजन का साधन बना रक्खा है। इनकी समझ में ईश्वर को मानने तथा उसकी उपासना करने में दो लाभ हैं। एक तो ईश्वर की खोपड़ी पर एहसान का गट्ठा लादना और दूसरे अपना मनोरंजन करना। आम के आम और गुठलियों के दाम! धर्म्म का इतना सदुपयोग और कौन कर सकता है? देवताओं की अधिकता कुछ हिंदुओं के लिये उतनी मनोरंजक है, जितनी किसी बालक के लिये खिलौनों की अधिकता होती है। जैसे कोई बालक दिन भर में अनेक तथा नए-नए खिलौनों से खेलना पसंद करता है, वैसे ही कुछ भाई भी दिन भर में अनेक देवताओं की आकांक्षा रखते हैं; सबेरे मुकटेश्वर के मंदिर में विराजमान हैं तो शाम को महेश्वरी देवी के मंदिर में डटे हैं। दो घंटे पश्चात् देखिए तो किसी अन्य ईश्वरी अथवा ईश्वर के दरबार में उपस्थित हैं। क्या ऐसा भक्ति-वश करते हैं? अजी नारायण का नाम लीजिए! भक्ति किस चिड़िया का नाम है, इसका भी पता इनको नहीं है। करते हैं केवल 'मज़े' के लिये। मज़ा ढूँढ़ते फिरते हैं—मज़े के दीवाने हैं। मैंने अनेक 'भक्तों' को यह कहते सुना—"आज अमुकीश्वरी के दरबार में गए थे—कुछ मज़ा नहीं आया। आज अमुकेश्वर के दरबार में कुछ आनंद नहीं आया।" इन कमबख़्तों से कोई पूछे—मज़ा नहीं आया तो इसके लिये ईश्वर अथवा ईश्वरी क्या करें? उन्होंने आपको मज़ा पहुँचाने

का ठेका ले रक्खा है ? और आप उनकी सेवा करने और दर्शन करने जाते हैं या मज़े लूटने ? जैसे लोग कबूतरबाज़ी, पतंग-बाज़ी तथा अनेक प्रकार की अन्य बाज़ियों में मज़ा ढूँढ़ा करते हैं ऐसे ही कुछ भक्त लोग "देवताबाज़ी" करते हैं और उसमें मज़ा ढूँढ़ते रहते हैं। जिस देवता में उन्हें कुछ मज़ा अथवा आनंद मिलता है, वह देवता सिद्ध देवता समझा जाता है। जिसमें आनंद नहीं आता, वह देवता नापास और देवताओं की बिरादरी से ख़ारिज! ऐसे देवता के मंदिर में शाम को कोई चिराग़ भी नहीं जलाता। जो देवता 'मज़ा' देता रहता है, उसकी शान देखिए—क्या ठाट रहते हैं। आप पूँछेंगे कि "देवताबाज़ी" में क्या मज़ा आता है ? मैं बहुधा यह सोचा करता हूँ कि लोगों को बटेरबाज़ी, कबूतरबाज़ी, पतंगबाज़ी में क्या मज़ा आता है ? मुझे तो वह सोलहों आने हिमाक़तबाज़ी दिखाई पड़ती है। परंतु उन्हें कुछ तो मज़ा आता ही होगा, तभी तो वे उसमें समय तथा धन नष्ट करते हैं। उस मज़े को हम आप नहीं समझ सकते। इसी प्रकार "देवताबाज़ी" के मज़े का अनुमान हम आप नहीं लगा सकते। हाँ, देवताबाज़ों को किस बात में आनंद मिलता है, इसको मैंने समझने का प्रयत्न किया है।

श्रावण तथा भादों का महीना "देवताबाज़ों" के लिये बड़े आनंद का महीना है। श्रावण के प्रत्येक सोमवार को ये लोग व्रत रखते हैं और उस दिन किसी विशेष ईश्वर के दरबार में जमा होते हैं। अतएव इन लोगों का आनंद इतवार से ही आरंभ हो जाता है। मेरे जान-पहचान के एक कायस्थ सज्जन, जो मांस के बड़े ही प्रेमी हैं, कहा करते हैं कि एक दिन मांस खाने का आनंद तीन दिन तक रहता है। जिस दिन उनके यहाँ मांस पकता है, उसके एक दिन पहले इस आशा में आनंद आता है कि कल मांस

खाने को मिलेगा। जिस दिन खाने को मिलता है उस दिन का तो कहना ही क्या है। खाने के दूसरे दिन इस बात को याद करके मज़ा आता है कि कल मांस खाया था। यही दशा इन अधिकांश व्रत रखनेवालों की होती है। इतवार ही से स्कीमें बनने लगती हैं कि कल खाने को क्या-क्या बनना चाहिये। व्रत का उद्देश तथा उसके कर्तव्य गए चूल्हे में सबसे पहले खाने की फ़िक्र होती है। रखते हैं व्रत और खाने की चिंता एक दिन पहले से पड़ जाती है। इस विरोधाभास का भी कुछ ठिकाना है? इसके पश्चात् यह तय होता है कि कल किस ईश्वर के दरबार में चलना चाहिये। इसके लिये अधिक सोच-विचार करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। हमारे शहर में चार ईश्वर हैं। प्रत्येक सोमवार को एक-एक ईश्वर के दरबार में मेला लगता है, अतएव अधिकांश वहीं जमा होते हैं। जो लोग धनी हैं, उनका सब सामान इतवार की शाम को ही ईश्वरजी के कंपाउंड में पहुँच जाता है। सोमवार के दिन शाम को इस कंपाउंड में जिधर देखिए सिल-बट्टा खटक रहा है। ख़ूब गहरी छनती है। शिवजी की भक्ति में एक यही तो सुविधा है कि छानने को ख़ूब मिलती है। सोमवार के दिन दोनों समय छनती है। सबेरे से ही नशे जम जाते हैं। भाँग-बाँग पीकर वहीं शौच से निवृत्त हुए। इसके पश्चात् स्नान किया तत्पश्चात् ईश्वरजी की खोपड़ी पर एहसान का टोकरा लादा गया। अर्थात् थोड़ी देर पूजन किया। इसके पश्चात् आनंद के साथ तर माल पर हाथ साफ़ किया।

यों चाहे कभी महीनों अजीर्ण न होता हो, परंतु व्रत के दिन निश्चय अजीर्ण हो जायगा। व्रत और उपवास के अर्थ यही हैं कि अजीर्ण हो जाय। इसके पश्चात् हा-हा, हू-हू आरंभ हुई

और रात के नौ-दस बजे तक आनंद लूटकर घर आए। जो अधिक तबीयतदार हुए वे रात में भी वहीं डट गए और नौटंकी का स्वाँग देखा। जी हाँ, ईश्वर के दरबार में नौटंकी भी होती है। इसमें भक्त लोगों का क्या दोष? प्रत्येक ईश्वर को नौटंकी की लत पड़ गई है। भक्त लोग उन्हें प्रसन्न करने के लिये यह भी करते हैं। पूजन करेंगे दस-पंद्रह मिनट और भाँग छानने में, आँखें मीच-मीचकर भोजन का स्वाद लेने में, नौटंकी देखने में सारा दिन और रात ख़र्च कर देंगे। मूर्ख और अशिक्षित उन्हें देखकर कहते हैं—भई यह शिवजी के बड़े भक्त हैं। देखो न शाम से लेकर सबेरे तक बाबा के दरबार में पड़े रहे। भाँग छानना, दाल-बाटी का आनंद लूटना, नौटंकी देखना, उछल-कूद करना इन अकल के दुश्मनों को "दरबार में पड़े रहना" दिखाई पड़ता है। भक्तराज घर आकर हमारे जैसे लोगों से, जिन्हें उनका-सा सौभाग्य कभी स्वप्न में भी प्राप्त नहीं होता, कहते हैं—"आज बाबा के दरबार में बड़ा आनंद आया। ख़ूब जी भर कर पूजन हुआ। बाबा का शृंगार भी दिव्य हुआ था। बड़ी विशाल मूर्ति है।" हालाँ कि बाबा के पास दस मिनट नहीं फटके, परंतु बातें बाबा ही की करेंगे। और इस ढंग से करेंगे मानों बाबा के प्राइवेट सेक्रेटरी हैं। और आनंद यह है कि विशाल और सिद्ध मूर्ति होते हुए भी दूसरे सोमवार को भक्तराज उनकी बात भी न पूँछेंगे—दूसरे सोमवार को दूसरे बाबा का दरबार अपनी चरण-रज से पवित्र करेंगे। इस प्रकार तीसरे सोमवार को किसी तीसरे बाबा की खोज होगी। इसे आप देवताबाज़ी नहीं तो और क्या कहेंगे? इसके साथ एक बात और है—तीन बाबा का दरबार तो गंगा-तट पर है और एक बाबा का दरबार रेलवे लाइन-तट पर। अतएव जिन बाबा का

दरबार गंगा-तट पर है वहाँ भक्त लोग अधिक जमा होते हैं। क्यों ? इसलिये कि उक्त तीन बाबा अधिक पहुँचे हुए हैं इसलिये कि गंगा-तट होने से वहाँ आनंद अधिक आता है। रेलवे लाइन-तटवाले बाबा के दरबार में उतना आनंद नहीं आता। इसलिये लोग उन्हें ज़रा कम पतियाते हैं।

श्रावण में झूलों तथा झाँकियों का ज़ोर भी रहता है। इस अवसर पर अनेक मंदिरों में रास, थिएटर तथा नौटंकी का आयोजन रहता है, अतएव काफ़ी भक्त-गण जमा होते हैं। ठाकुर जी के सामने नौटंकी के ऐसे-ऐसे अश्लील स्वाँग होते हैं कि भगवान् बचावे। रासलीलाएँ तो लोप हो ही गईं। रास-मंडली-वाले दस-पंद्रह मिनट "द्वै द्वै गोपी बिच बिच माधौ" का नाच तथा 'ताथेई' करके झट राजा-रानी बनकर खड़े हो जाते हैं। और "प्यारी तेरे इश्क़ में हुआ हाल बेहाल" के साथ नगाड़ों की "कड़-कड़ धम" का समाँ बाँध देते हैं। अड़ोस-पड़ोसवालों की नींद हराम हो जाती है और नगाड़ों की 'कड़-कड़' और 'धम-धम' से सिर में दर्द पैदा हो जाता है। परंतु ठाकुरजी के नाम पर यह सब सहन किया जाता है। एक बार नगाड़ों की धमा-धम से एक मकान गिर पड़ा था और बहुत-से आदमियों के चोट आ गई थी। जिस मकान में ठाकुरजी विराजमान थे, वह था पुराना तथा जीर्ण-शीर्ण। नगाड़ों की कड़कड़ाहट जो हुई तो एक दीवार अर्राकर बैठ गई। लोग समझे कि बरसात के कारण दीवार बैठ गई। परंतु असली कारण नगाड़ों की कड़कड़ाहट थी। जिन्होंने विज्ञान का अध्ययन किया है, वे भली-भाँति जानते हैं कि वायु के कंपन में कितनी शक्ति होती है। जितने ज़ोर का शब्द होगा, उतना ही अधिक वायु में कंपन उत्पन्न होगा। उसी कंपन के धक्के से दीवार बैठ गई।

संपादकजी, यह सब धर्म्म के नाम पर और धर्म्म की ओट में होता है। यदि इसपर कोई भला आदमी कुछ कहता है, तो भक्त लोग उसे झट नास्तिक, आर्यसमाजी, विधर्म्मी इत्यादि की उपाधियों से विभूषित कर देते हैं!

इसके पश्चात् जन्माष्टमी आती है। इस अवसर पर भी भक्त लोगों का उत्साह देखने योग्य होता है। इस दिन भी अनेक लोग उपवास करते हैं। कुछ लोग तो कृष्णजन्म होने के पश्चात् भोजन करते हैं और कुछ फलाहार के नाम से दिन भर दुनिया भर का अल्लम-गल्लम चट करते रहते हैं। यों रोज़ दिन भर में दो बार भोजन करेंगे, परंतु व्रत के दिन फलाहार के बहाने दिन भर बकरी की तरह मुँह चलता रहेगा। जन्माष्टमी का व्रत लोग कैसे रखते हैं इस संबंध की एक घटना देकर यह चिट्ठी समाप्त करता हूँ।

एक हमारे पड़ोसी महोदय ब्राह्मण हैं। बड़े धार्म्मिक तथा भक्त हैं। जन्माष्टमी के दिन रात के बारह बजे तक जागरण करना होता है। सो हमारे पड़ोसी भक्तराज जागने के लिये उस दिन बाइस्कोप देखते हैं। बाइस्कोप देखकर जब लौटते हैं, तब कृष्णजी का जन्म करते हैं। दो-तीन साल पहले की बात है। जन्माष्टमी का दिन था। घटनावश उस दिन भक्तराज बाइस्कोप नहीं गए अतएव घर में पड़ के सो गए। जब जन्म का समय आया तो घरवालों ने आप को जगाने की चेष्टा की। परंतु भक्तराज मुर्दों से बाज़ी लगाकर सोए थे। उनकी माता ने लाख प्रयत्न किया, पर वे नहीं उठे। इधर उनके न उठने से कृष्णजी का जन्म तमादी में पड़ा जा रहा था। लोग इस प्रतीक्षा में बैठे थे कि पंडितजी उठें तो कृष्ण महाराज तवल्लुद हों, और कृष्णजी तवल्लुद हों तो मीठा-मीठा पंचामृत तथा प्रसाद चखने को मिले। परंतु जब

पंडितजी नहीं उठे और कृष्णजी असहयोग करके वैकुंठ जाने पर आमादा हो गए तो लोगों ने उनकी माता से कहा—"तो तुम्हीं जन्म कर दो।" विवश होकर उनकी माता ने जन्म किया। यह दशा भक्तगणों की है। पंचामृत और प्रसाद बाँटने के समय बे-पैसे-कौड़ी का दंगल देखने को मिलता है। बहुधा प्रसादार्थी भक्तों में लात-जूता तक चल जाता है। एक-एक भक्त कई-कई बार प्रसाद लेने के लिये पहुँचता है। प्रसाद और पंचामृत लेने के लिये भक्त लोग रात के एक बजे तक जागा करते हैं। टइयाँ-से मंदिर के द्वार पर बैठे हैं। किसी ने कहा भी कि "अभी क्या है? जन्म हो ले तब आना।" तो बोले—"हम बैठे भजन कर रहे हैं, कुछ प्रसाद के लिये थोड़े ही बैठे हैं।" यदि पंचामृत की जगह गंगाजल का चरणामृत बँटा करे तो भजन का हाल खुले, तब एक भी न दिखाई पड़ें। प्रसाद बाँटनेवाले ठाकुरजी के एजेंट भी ख़ूब कतर-ब्योंत करते हैं। जान-पहिचानवालों को ख़ूब दोने भरकर और गिलास भरकर प्रसाद देते हैं और अपरिचितों को वही माशे भर की कुल्हिया और तोले भर का दोना। इसपर भी ठाकुरजी का दिवाला निकल जाता है, तब पंचामृत में गंगाजल की बाढ़ आ जाती है। गंगाजल की बाढ़ आते ही भक्तगणों का रेला भी बन्द! गङ्गाजल का प्रसाद कौन भकुआ लेता है। उसकी क्या कमी है—गंगा भरी पड़ी हैं। प्रसाद की भक्ति तो पंचामृत की कुल्हिया और दोने के ही साथ रहती है। जहाँ उनमें फ़र्क़ पड़ा, बस भक्ति भी बिदा होगई।

यह दशा है; और ये ही भक्तगण हमारे जैसे लोगों को, जो इससे कोसों दूर रहते हैं, नास्तिक कहते हैं। संपादकजी, अपने राम नास्तिक रत्ती भर नहीं हैं और न ठेठ आर्यसमाजी ही हैं कि कृष्ण और शिव को न मानते हों। बात केवल इतनी है कि जब

तक हृदय में सच्ची श्रद्धा तथा भक्ति नहीं, तब तक केवल लोगों को दिखाने के लिये, अथवा ईश्वर के सिर पर एहसान लादने के लिये कोई काम नहीं करते। यदि अपने राम के हृदय में इनकी भाँति श्रद्धा-भक्ति नहीं है, तो इसमें अपने राम का क्या अपराध? अपने राम तो बहुत प्रयत्न करते हैं कि कभी-कभी इन लोगों जैसी श्रद्धा-भक्ति उत्पन्न हो जाया करे। परंतु जब कभी प्रस्फुटित भी होती है, तो पाखंडी भक्तों की लीला और देवताओं की छीछालेदर देखकर वह अंकुर मुरझाकर रह जाता है। उस समय यह सोचकर संतोष होता है कि इन भक्तों से तो हम अभक्त लाख दर्जे अच्छे हैं।

भवदीय
विजयानंद (दुबेजी)

नाटक

नाटक शब्द नट्-धातु से बना है। 'नट्' नाचने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अँगरेज़ी में नाटक को ड्रामा कहते हैं। ड्रामा के लिये संस्कृत में नाटक की अपेक्षा 'रूपक'-शब्द अधिक उपयुक्त है। ड्रामा का मूल-शब्द इसी अर्थ का द्योतक है। ड्रामा उन रचनाओं को कहते हैं, जिनमें अन्य लोगों के क्रिया-कलापों का अनुकरण इस प्रकार किया जाता है कि मानों वे ही काम कर रहे हों। जूलियस सीज़र के नाटक में कोई व्यक्ति उसका इस प्रकार अनुकरण करता है, मानों वही जूलियस सीज़र है। दूसरों का अनुकरण करना मनुष्य-मात्र का स्वभाव है। बालक अपने माता-पिता का अनुकरण करता है। छोटे लोग बड़ों का अनुकरण करते

हैं। नाटकों की उत्पत्ति मनुष्यों के स्वभाव ही से हुई है। एक बात और है। नाटक में सिर्फ़ क्रिया-कलापों का ही अनुकरण नहीं होता, मनुष्यों की हृद्गत भावनाओं का भी अनुकरण किया जाता है। यह तभी संभव है, जब हम दूसरों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझें। यही सहानुभूति है। यह भाव भी स्वाभाविक है। सच पूछा जाय, तो इसी आधार पर मानव-समाज स्थित है। यदि यह न रहे, तो मानव-समाज छिन्न-भिन्न हो जाय। अस्तु। हमारे कहने का तात्पर्य यही है कि नाटकों का मूल-रूप मनुष्यों के अंतर्जगत् में विद्यमान है। बाह्य जगत् में उसका विकास क्रमशः हुआ है।

नाटक में नट दूसरे के कार्यों का अनुकरण करता है। इसी को अभिनय कहते हैं। यह कला है। भावों के आविष्करण को कला कहते हैं। किसी भी कला में नैपुण्य प्राप्त करने के लिये विशेष योग्यता की ज़रूरत है। इसी लिये, यद्यपि अनुकरण करने की प्रवृत्ति सभी में होती है, तथापि, नाट्य-कला में दक्ष होना सबके लिये संभव नहीं।

नाटक और नाट्य-कला में परस्पर संबंध है। नाटक के लिये नाट्य-कला आवश्यक है। परंतु नाटक स्वयं एक कला है, और उसकी उत्पत्ति मनुष्यों के अंतःकरण में होती है। बाह्य-जगत् में उसको प्रत्यक्ष कर दिखाना नाट्य-कला का काम है। नाटकों की गणना काव्यों में की जाती है। उन्हें दृश्य-काव्य कहते हैं, अर्थात् वे ऐसे काव्य हैं, जिनमें हम कवि की कुशलता का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। यद्यपि रंग-भूमि में कवि नहीं आता, तथापि नटों के द्वारा हम उसी की वाणी सुनते हैं। नाट्य-शाला शरीर है, और कवि उसकी आत्मा।

नाटक का प्रधान अंग है चरित्र-चित्रण और व्यक्तित्व-प्रदर्शन। नाटकों में कवि का मुख्य उद्देश्य यह रहता है कि वह मानव-जीवन के रहस्य का उद्घाटन कर उसे शब्दोंद्वारा स्पष्ट कर दे। परंतु यह विशेषता सिर्फ़ नाटकों में ही नहीं पाई जाती।

महाकाव्य, नाटक और उपन्यास, तीनों में ही मानव-चरित्र का चित्रण रहता है। पर इसमें परस्पर बड़ा भेद है। महाकाव्यों में एक अथवा एक से अधिक मनुष्यों के चरित्र वर्णित होते हैं। परंतु उनमें चरित्र-चित्रण गौण होता है। वर्णन ही कवि का मुख्य लक्ष्य होता है। अज-विलाप में इंदुमती की मृत्यु उपलक्ष्य-मात्र है। यह विलाप जैसे अज के लिये है वैसे ही अन्य किसी भी प्रेमिक के लिये उपयुक्त हो सकता है। प्रियजन के वियोग से जो व्यथा होती है, उसीका वर्णन करना कवि का उद्देश्य था। इंदुमती की मृत्यु के उपलक्ष्य में कवि ने उसीका वर्णन कर दिया। उपन्यास में मनोहर कथा की रचना पर कवि का ध्यान अधिक रहता है। कहानी की मनोहरता उसकी विचित्रता पर निर्भर रहती है। नाटक में महाकाव्य और उपन्यास दोनों की विशेषताएँ रहती हैं। उसमें कवित्व भी होना चाहिये और मनोहरता भी। इसके लिये कुछ नियम बनाए गए हैं। सबसे पहिला नियम यह है कि उसमें आख्यान-वस्तु की एकता हो। नाटक का वर्णनीय विषय एक होना चाहिये। उसीको परि-स्फुट करने के लिये उसमें अन्य घटनाओं का समावेश करना चाहिये। यदि नाटक का मुख्य विषय प्रेम है तो प्रेम के परिणाम में ही उसका अंत होना चाहिये। दूसरा नियम यह है कि उसकी प्रत्येक घटना सार्थक रहे। वे घटनायें नाटक की मुख्य घटना के चाहे प्रतिकूल हों, चाहे अनुकूल, परंतु उससे उनका संबंध अवश्य रहना चाहिये।

नाटकों में अलौकिक घटनाओं का भी वर्णन रहता है। जो लोग नाटकों में स्वाभाविकता देखना चाहते हैं, उन्हें कदाचित् अलौकिक घटनाओं का समावेश रुचिकर न होगा। आधुनिक नाटककार इब्सन ने अपने नाटकों में अलौकिक घटनाओं को स्थान नहीं दिया। पर प्राचीन हिंदू-नाटकों में अलौकिक घटनायें वर्णित हैं। उदाहरण के लिये कालिदास के अभिज्ञान-शाकुंतल को ही ले लीजिए। उसमें दुर्वासा के शाप से दुष्यंत का स्मृति-भ्रम, शकुंतला का अंतर्धान होना, दुष्यंत का स्वर्गारोहण, ये सभी घटनाएँ अलौकिक हैं। शेक्सपियर के नाटकों में भी प्रेतात्मा का दर्शन कराया जाता है। हिंदू-मात्र का यह विश्वास है कि मानव-जीवन में एक अदृष्ट शक्ति काम कर रही है। उसी शक्ति का महत्त्व बतलाने के लिये अलौकिक घटनाओं का समावेश किया जाता है। शेक्सपियर भी इस अदृष्ट शक्ति को मानता था। उसने भी कहा है कि मनुष्यों के जीवन में कभी एक ऐसी लहर उठती है, जो उन्हें सफलता के सिरे पर पहुँचाती है और फिर निष्फलता के ख़ंदक़ में गिरा देती है। दूसरी बात यह है कि नाटकों में तत्कालीन समाज का चित्र अंकित रहता है। लोगों का जो प्रचलित विश्वास है, उसका समावेश नाटकों में करना अनुचित नहीं। शेक्सपियर के समय में लोग प्रेतों पर विश्वास करते थे। उसी प्रकार कालिदास के समय में मुनियों के शाप पर लोगों का विश्वास था। अतएव जो नाटकों में यथार्थ चित्रण के पक्षपाती हैं, उनकी दृष्टि में भी ऐसी घटनाओं का समावेश अस्वाभाविक नहीं हो सकता।

नाटक की एक विशेषता और है। उसमें घटनाओं का घात-प्रतिघात सदैव होता रहता है। नाटकीय मुख्य चरित्र की गति सदैव वक्र रहती है। जीवन-स्रोत एक ओर बहता है। धक्का

खाते ही उसकी गति दूसरी ओर पलट जाती है। फिर धक्का लगने पर वह तीसरी ओर बहने लगता है। नाटक में मानव-जीवन का एक रूप दिखलाना पड़ता है।

उच्च श्रेणी के नाटकों में अंतर्द्वंद्व दिखलाया जाता है। मनुष्यों के अंतःकरण में सदा दो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों के बीच युद्ध छिड़ा रहता है। यह बात नहीं कि सदा धर्म्म और अधर्म्म अथवा पाप और पुण्य में ही युद्ध होता हो, कभी कभी सत्प्रवृत्तियाँ भी एक दूसरे का विरोध करने लगती हैं। भवभूति के उत्तर-रामचरित में, रामचंद्र के हृदय में, दो सत्प्रवृत्तियों का ही अंतर्द्वंद्व प्रदर्शित किया गया है। एक ओर राजा का कर्तव्य है, और दूसरी ओर पति का कर्तव्य। आधुनिक नाट्य-साहित्य में इब्सन के एक नाटक—एन एनीमी आव् दी पीपुल—में एक मनुष्य संसार की कल्याण-कामना से संसार के ही विरुद्ध लड़ा है। पाश्चात्य नाटकों के दो विभाग किए गए हैं—प्रसादांत और विषादांत। प्राचीन हिंदू-साहित्य में दुःखांत नाटक एक भी नहीं है। हिंदू-नाट्य-शास्त्र के आचार्य्यों की आज्ञा थी कि नाटकों का अंत दुःख में न होना चाहिये। यदि नायक पुण्यात्मा है, तो पुण्य का परिणाम दुःख नहीं हो सकता। पुण्य की जय और पाप की पराजय ही दिखलानी चाहिये। अधर्म्म की जय दिखलाने से डर रहता है कि लोगों पर कहीं उसका बुरा प्रभाव न पड़े, वे अधार्म्मिक न हो जायँ। हम इस नियम को अच्छा नहीं समझते; क्योंकि जीवन में प्रायः अधर्म्म की ही जय देखी जाती है। यदि यह बात न होती, तो संसार में इतनी क्षुद्रता और स्वार्थ न रहता। यदि धर्म्म की अंतिम जय देखने से लोग धार्म्मिक हो जायँ, तो धार्म्मिक होना कोई प्रशंसा की बात नहीं। हम तो यह देखते हैं कि संसार में जो धर्म्म का अनुसरण करते हैं और सत्पथ

से विचलित नहीं होते, वे मृत्यु का आलिंगन करते हैं और असत्पथ पर विचरण करनेवाले सुख से रहते हैं। बात यह है कि धर्म्म का पथ श्रेयस्कर होता है, सुखकर नहीं। जो पार्थिव सुख और सम्मृद्धि के इच्छुक हैं, उनके लिये धर्म्म का पथ अनुसरण करने योग्य नहीं, क्योंकि यह पथ सुख की ओर नहीं कल्याण की ओर जाता है। नाटकों में धर्म्म की पराजय बतलाने से उसकी हीनता नहीं सूचित हो सकती। धर्म्म, धर्म्म ही रहता है। दुख और दारिद्र्य की छाया में रह कर भी पुरुष गौरवान्वित होता है। पृथ्वी में पराजित होने पर भी वह अजेय रहता है। कुछ भी हो, भारतवर्ष के आधुनिक साहित्य में दुःखांत नाटकों की रचना होने लगी है। इसमें संदेह नहीं कि कमेडी की अपेक्षा ट्रैजडी का प्रभाव अधिक स्थायी होता है। इसलिये नाट्य-शालाओं में इनका अभिनय अधिक सफलतापूर्वक हो सकता है। परंतु आजकल दुःखांत नाटकों का प्रचार कम हो रहा है। कुछ समय पहिले इँगलैंड में म्युजिकल कमेडी का, जिसमें हँसी-दिल्लगी और नाच-गान की प्रधानता रहती है, खूब दौरदौरा रहा।

हिंदू-साहित्य-शास्त्रकारों ने यह नियम बना दिया है कि नाटक के नायक को सब गुणों से युक्त और निर्दोष अंकित करना चाहिये। कुछ विद्वानों की राय है कि यह नियम बड़ा कठोर है इससे नाटककार का कार्य-क्षेत्र बड़ा संकुचित हो जाता है। किंतु हिंदू-साहित्य-शास्त्र में नाटक के नायकों को दोष-शून्य अंकित करने का जो विधान है उसका एकमात्र उद्देश्य यही है कि नाटकों का विषय महत् हो। यही कारण है कि प्राचीन संस्कृत-नाटकों में राजा अथवा राजपुत्र ही नाटक के नायक बनाए गए हैं। नायकों के चार भेद किए गए हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीर-ललित और धीर-प्रशांत। इन नायकों में भिन्न

भिन्न गुणों का प्रदर्शन करते हैं। आधुनिक नाट्य-साहित्य में इस नियम की उपेक्षा की गई है। अब तो मज़दूर, क़ैदी और पागल तक नायक के पद पर अधिष्ठित हो सकते हैं।

आजकल मनुष्यों के मानसिक भावों में एक बड़ा परिवर्तन हो गया है। पहले की तरह वे देशकाल में आबद्ध होकर संकीर्ण विचारों के नहीं होगए हैं। उनमें यथेष्ट स्वतंत्रता आगई है। पहिले मनुष्यों की जैसी प्रवृत्ति थी, उनमें प्रेम, घृणा आदि भावों का जैसा संघर्षण होता था, वही लीला हम शेक्सपियर आदि नाटककारों की रचनाओं में देखते हैं। परंतु अब यह बात नहीं है। आजकल युवावस्था की उद्दाम वासना और प्रेम व्यक्त करने के लिये हमें 'रोमियो-जूलियट' अथवा 'एंटोनी-क्लियापेट्रा' की सृष्टि नहीं करनी होगी। उनसे हमारा काम भी नहीं चलेगा। आजकल मनुष्य की भोग-लालसा के साथ ही एक सौंदर्य-वृत्ति भी है, जिसमें समाज-बोध और अध्यात्म-बोध का मिश्रण हो गया है। उनके हृदय का आवेग रोमियो अथवा ओथेलो के समान नहीं है, वह बड़ा जटिल हो गया है। क्राइम एंड पनिशमेंट नामक उपन्यास में एक ख़ूनी का चरित्र अंकित किया गया है। अंत तक यह नहीं जान पड़ता कि वह ख़ूनी दानव है या देवता। उसमें विपरीत भावों की अभिव्यक्ति इस तरह हुई है कि यदि उसे हम हत्याकारी मानें, तो भी हमें दिव्य भावों की प्रधानता मालूम पड़ेगी। जार्ज मेरिडिथ के 'दी इगोइस्ट' नामक उपन्यास का नायक सचमुच कैसा था, यह न तो वह जान सका और न उसके साथी ही। उपन्यास भर में उसके चरित्र की इसी जटिलता का विश्लेषण किया गया है। रवींद्र बाबू के 'घरे-बाहिरे' नामक उपन्यास में संदीप जैसा इंद्रिय-परायण है, वैसा ही स्वदेश-वत्सल और वीर भी। इब्सन, मेटरलिंक अथवा रवींद्रनाथ

की कुछ प्रधान नायिकाओं के चरित्र ऐसे अंकित हुए हैं कि जब हम अपने संस्कारों के अनुसार उन पर दृष्टिपात करते हैं, तो उनके चरित्र में हीनता देखते हैं, परंतु सत्य की ओर लक्ष्य रखने से यही कहना पड़ता है कि हम उन पर अपनी कोई संमति नहीं दे सकते।

अँगरेज़ी नाटककार बर्नार्ड शा के आते ही इँगलैंड की रंगभूमि पर मनोविज्ञान की छाया पड़ने लगी है। समालोचक तो ऐसे नाटक चाहते हैं, जिनमें कठिन समस्यायें हों, जिनका अंतर्गत भाव देखने के लिये उन्हें छिन्न-भिन्न करना पड़े। शा ने उन्हें वैसे ही नाटक दिए और उन समालोचकों ने उनकी कीर्ति ख़ूब फैलाई। बर्नार्ड का नाम पहले-पहल उनके श्रव्य-काव्यों से हुआ। पीछे उन्होंने दृश्य-काव्यों की रचना में मन लगाया। युद्ध के पहिले कुछ नाटककार यह समझने लगे थे कि अब नाटकों को अधिक आधुनिक रूप देने की आवश्यकता है। इसलिये १९१४ में इँगलैंड में एक ऐसी नाट्य-शाला स्थापित हुई, जिसमें मानव-जीवन का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय। उसका अभी शैशव-काल है, तो भी अन्य प्रचलित नाट्यशालाओं की अपेक्षा उसमें अधिक सजीवता आ गई है। युद्ध के पहिले नाट्य-साहित्य का यही हाल था।

नाटक सभी काल और सभी देशों में लोक-प्रिय होते हैं। कालिदास का कथन है—"नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।" अब तो नाटक जीवन की आवश्यक सामग्री बन जाने के कारण और भी अधिक लोक-प्रिय हो गए हैं। लंदन आधुनिक सभ्यता का एक केंद्र-स्थान है। वहाँ सैकड़ों नाट्य-शालाएँ हैं। हज़ारों लोगों का जीवन-निर्वाह उसीसे होता है। सभी नाटक-घर सभी समय भरे रहते हैं। कुछ ऐसी

नाट्यशालाएँ हैं, जहाँ दिन और रात में दो बार एक ही नाटक खेला जाता है। कहीं कहीं तो एक ही नाटक दो वर्ष तक खेला जाता है।

कभी हमारे देश में नाटकों का बड़ा आदर था। नाटक खेलनेवाले नटों व नटियों की अच्छी प्रतिष्ठा की जाती थी। इतना ही नहीं, उच्च कुल के स्त्री-पुरुष भी नाट्य-कला में प्रवीणता प्राप्त करने के लिये चेष्टा करते थे। उन्हें अभिनय-कला की शिक्षा देने के लिये योग्य शिक्षक नियुक्त किए जाते थे। कालिदास के मालविकाग्निमित्र-नाटक से ये सब बातें विदित होती हैं। अब नाटक-कला का पुनरुद्धार हो रहा है।

जिन्होंने दूसरे देशों में नाटकों का अभिनय देखा है, वे जब भारतीय नाट्यशालाओं में प्रवेश करते हैं, तब यहाँ की भद्दी सजावट देखकर विस्मित हो जाते हैं। यहाँ विदेशी दृश्यों की नक़ल तो ज़रूर की जाती है, पर सारा सामान इतना बेढंगा रहता है कि योरप की छोटी छोटी नाट्यशालाओं में भी इतनी बेढंगी चीज़ें नहीं रहतीं। जो लोग भारतवर्ष में नाटकों के लिये परदे रँगते हैं, वे विदेशी नाटकों का अनुसरण करते हैं। परंतु विदेशी समाज से अनभिज्ञ रहने के कारण वे उनका रूप बिलकुल विकृत कर डालते हैं। अपनी अज्ञता के कारण जनता उन्हीं से संतुष्ट हो जाती है। इनसे भी भद्दी होती है भारतीय नटों की वेष-भूषा। जो लोग राजा, सामंत, राजसेवक आदि का अभिनय करते हैं, उनकी पोशाक विलक्षण होती है। हम नहीं समझते कि भारतीयों में कभी वैसे परिच्छद काम में लाए गए होंगे। ग़नीमत यही है कि स्त्री-पात्रों में भारतीयता की रक्षा की जाती है। अपना वेष बदलने के लिये भारतीय नट चेहरे पर पाउडर लगाकर

निकलते हैं। हम नहीं समझ सकते कि अपने चेहरे में सफ़ेदी लाने की यह विफल चेष्टा क्यों की जाती है ?

भारतीय रंगमंच के ये दोष बिलकुल स्पष्ट हैं। इनसे नाटकों का महत्त्व घट जाता और उनका उद्देश्य निष्फल हो जाता है। इन दोषों को दूर करने की चेष्टा की जानी चाहिये। नाटकों में जिस युग का वर्णन है, उसीके अनुरूप दृश्य दिखलाए जायँ। भारतीय रंगभूमि में जब किसी सड़क अथवा महल का दृश्य दिखाया जाय, तब वेनिस के स्थान में जयपुर का दृश्य दिखाना अधिक उचित होगा। भारतवर्ष के नाटककार भी अपने नाटकों के दृश्यों की बिलकुल उपेक्षा करते हैं। कैसा भी दृश्य हो, काम निकल जाता है। हमारी समझ में इससे तो बेहतर यही होगा कि परदों का कोई झमेला ही न रहे। दर्शक कथा-भाग सुनकर अपने मन ही में दृश्यों की कल्पना कर लें। प्राचीनकाल में जब परदों का प्रचार नहीं था, तब ऐसा ही होता था।

भारतीय नाटकों में पात्रों के लिये उचित वेष-भूषा तैयार करने के लिये योग्यता की ज़रूरत नहीं है। ज़रा भी बुद्धि से काम लेने से यह बात समझ में आ सकती है कि किसके लिये कौन-सा परिच्छद प्रयुक्त है। परंतु आजकल तो सभी नाटक-मंडलियाँ अपने नटों को घुटने तक ब्रीचेज़ पहनाकर, भड़कीला कोट डटाकर निकालना चाहती हैं। नक़ली दाढ़ी और मूँछ से चेहरे को विकृत करना इसलिये आवश्यक समझा जाता है कि दर्शक नटों को पहचान न सकें।

हिंदी के कुछ नाटककार संगीत के ऐसे प्रेमी हैं कि वे मौक़े बे-मौक़े अपने पात्रों से गाना ही गवाया करते हैं। राजा की कौन कहे, राजमहिषी तक अपने पद का गौरव भूलकर नाचने-गाने

लग जाती हैं। राज-सभा तो बिलकुल संगीतालय ही हो जाती है। यह भी खेद की बात है।

एक घूँट

(अरुणाचल-आश्रम का एक सघन कुञ्ज।

श्रीफल, वट, आम, कदंब और मौलसिरी के बड़े बड़े वृक्षों की झुरमुट में प्रभात की धूप घुसने की चेष्टा कर रही है। उधर समीर के झोंके, पत्तियों और डालों को हिला-हिलाकर, जैसे किरणों के निर्विरोध प्रवेश में बाधा डाल रहे हैं। वसंत के फूलों की भीनी-भीनी सुगंध, उस हरी-भरी छाया में कलोल कर रही है। वृक्षों के अंतराल से गुंजारपूर्ण नभखंड की नीलिमा में जैसे पक्षियों का कलरव साकार दिखाई देता है!

मौलसिरी के नीचे वेदी पर वनलता बैठी हुई, अपनी साड़ी के अंचल की बेल देख रही है। आश्रम में कहीं होते हुए संगीत को कभी सुन लेती है, कभी अनसुनी कर जाती है।)

(नेपथ्य में गान)

खोल तू अब भी आँखें खोल!
जीवन-उदधि हिलोरें लेता उठती लहरें लोल।
छवि की किरनों से खिल जा तू,
अमृत-झड़ी सुख से भिल जा तू।
इस अनंत स्वर से मिल जा तू वाणी में मधु घोल।
जिससे जाना जाता सब यह, उसे जानने का प्रयत्न! अह!
भूल अरे अपने को मत रह जकड़ा, बंधन खोल।
खोल तू अब भी आँखें खोल।

(संगीत बंद होने पर कोकिल बोलने लगती है। वनलता अंचल छोड़कर खड़ी हो जाती है। उसकी तीखी आँखें जैसे कोकिल को खोजने लगती हैं। उसे न देखकर हताश-सी वनलता अपने-ही-आप कहने लगती है—)

कितनी टीस है, कितनी कसक है, कितनी प्यास है; निरंतर पंचम स्वर की पुकार! कोकिल! तेरा गला जल उठता होगा। विश्व-भर से निचोड़कर यदि डाल सकती तेरे सूखे गले में एक घूँट! (कुछ सोचती है) किंतु इस संगीत का······क्या अर्थ है······बंधनों को खोल देना, एक विशृंखलता फैलाना; परंतु मेरे हृदय की पुकार क्या कह रही है। आकर्षण किसी को बाहुपाश में जकड़ने के लिये प्रेरित कर रहा है। इस संचित स्नेह से यदि किसी रूखे मन को चिकना कर सकती? (रसाल को आते हुए न देखकर) मेरी विश्व-यात्रा के संगी, मेरे स्वामी! तुम काल्पनिक विचारों के आनंद में अपनी सच्ची संगिनी को भूल······(रसाल चुपचाप वनलता की आँखें बंद कर लेता है, वह फिर कहने लगती है) कौन है? नीला, शीला, प्रेमलता! बोलती भी नहीं; अच्छा मैं भी खूब छकाऊँगी, तुम लोग बड़े दुलार पर चढ़ गई हो न।

रसाल—(निःश्वास होकर हाथ हटाते हुए) इन लोगों के अतिरिक्त और कोई दूसरा तो हो ही नहीं सकता। इतने नाम लिये, किंतु······किंतु एक मेरा ही स्मरण न आया। क्यों वनलता?

वनलता—(सिर पर साड़ी खींचती हुई) आप थे? मैं नहीं जान·········

रसाल—(बात काटते हुए) जानोगी कैसे लता? मैं भी जानने की, स्मरण होने की वस्तु होऊँ तब न! अच्छा तो है, तुम्हारी

विस्मृति भी मेरे लिये स्मरण करने की वस्तु होगी। (निःश्वास लेकर) अच्छा, चलती हो आज मेरा व्याख्यान सुनने के लिये ?

वनलता—(आश्चर्य से) व्याख्यान ! तुम कब से देने लगे ? तुम तो कवि हो कवि, भला तुम व्याख्यान देना क्या जानो, वह विषय कौन-सा होगा जिसपर तुम व्याख्यान दोगे ? घड़ी दो घड़ी बोल सकोगे ! छोटी-छोटी कल्पनाओं के उपासक ! सुकुमार सूक्तियों के संचालक ! तुम भला क्या व्याख्यान दोगे ?

रसाल—तो मेरे इस भविष्य अपराध को तुम क्षमा न करोगी। आनंदजी के स्वागत में मुझे कुछ बोलने के लिये आश्रमवालों ने तंग कर दिया है। क्या करूँ वनलता !

वनलता—(मौलसिरी की एक डाल पकड़कर झुकाती हुई) आनंद जी का स्वागत ! अब होगा ! कहते क्या हो ? उन्हें आए तो कई दिन हो गए।

रसाल—(सिर पकड़कर) ओह ! मैं भूल गया था स्वागत, नहीं उनके परिचय-स्वरूप कुछ बोलना पड़ेगा।

वनलता—हाँ परिचय ! अच्छा, मुझे तो बतलाइए यह आनंदजी कौन हैं, क्यों आए हैं और कब ! नहीं-नहीं, कहाँ रहते हैं ?

रसाल—मनुष्य हैं, उनका कुछ निज का संदेश है; उसीका प्रचार करते हैं। कोई निश्चित निवास नहीं। (जैसे कुछ स्मरण करता हुआ) तुम भी चलो न ! संगीत भी होगा। आनंदजी अरुणाचल पहाड़ी की तलहटी में घूमने गए हैं; यदि नदी की ओर भी चले गए हों तो कुछ विलंब लगेगा, नहीं तो अब आते ही होंगे। तो मैं चलता हूँ।

(रसाल जाने लगता है। वनलता चुप रहती है। फिर रसाल के कुछ दूर जाने पर उसे बुलाती है।)

वनलता—सुनो तो !

रसाल—(लौटते हुए) क्या ?

वनलता—यह अभी अभी जो संगीत हो रहा था (कुछ सोच-कर) मुझे उसका पद स्मरण नहीं हो रहा है; वह.........

रसाल—मेरी 'एक घूँट' नाम की कविता मधुमालती गाती रही होगी।

वनलता—क्या नाम बतलाया—'एक घूँट'? उहूँ! कोई दूसरा नाम होगा। तुम भूल रहे हो; वैसा स्वरविन्यास एक घूँट नाम की कविता में हो ही नहीं सकता।

रसाल—तब ठीक है। कोई दूसरी कविता रही होगी। तो मैं जाऊँ न !

वनलता—(स्मरण करके) अहो, उसमें न जकड़े रहने के लिये, बंधन खोलने के लिये, और भी क्या क्या ऐसी ही बातें थीं। वह किसकी कविता है ?

रसाल—(दूसरी ओर देखकर) तो, तो वह मेरी—हाँ—हाँ—मेरी ही कविता थी।

वनलता—(त्योरी चढ़ाकर) अच्छा, तो आप बंधन तोड़ने की चेष्टा में हैं आजकल ! क्यों, कौन बंधन खल रहा है ?

रसाल—(हँसने की चेष्टा करता हुआ) यह अच्छी रही। किंतु लता ! यह क्या पुराने ढंग की साड़ी तुमने पहन ली है ? यह तो समय के अनुकूल नहीं; और मैं तो कहूँगा, सुरुचि के भी यह प्रतिकूल है।

वनलता—समय के अनुकूल बनने की मेरी बान नहीं, और सुरुचि के संबंध में मेरा निज विचार है। उसमें किसी दूसरे की सम्मति की मुझे आवश्यकता नहीं।

रसाल—उस दिन जो नई साड़ी मैं ले आया उसे पहन आओ न !

वनलता—अच्छा-अच्छा, तुम जाते कहाँ हो ? व्याख्यान कहाँ होगा ? ए कविजी, सुनूँ भी।

रसाल—यही तो मैं पूछने जा रहा था।

(वनलता दाहिने हाथ की तर्जनी से अपना अधर दबाए, बायें हाथ से दाहिनी कुहनी पकड़े, हँसने लगती है और रसाल उसकी मुद्रा साग्रह देखने लगता है, फिर चला जाता है।)

वनलता—(दाँतों से ओठ चबाते हुए) हूँ ! निरीह, भावुक प्राणी ! जंगली पक्षियों के बोल, फूलों की हँसी और नदी के कलनाद का अर्थ समझ लेते हैं। परंतु मेरे अंतर्नाद को कभी समझने की चेष्टा भी नहीं करते। और मैंने ही·········

(दूर से कुछ लोगों के बातचीत करते हुए आने का शब्द सुनाई पड़ता है। वनलता चुपचाप बैठ जाती है। प्रेमलता और आनंद का बात करते हुए प्रवेश। पीछे-पीछे और भी कई स्त्री-पुरुषों का आपस में संकेत से बातें करते हुए आना। वनलता जैसे उस ओर ध्यान ही नहीं देती।)

आनंद—(एक ढीला रेशमी कुरता पहने हुए है, जिसकी बाँहें उसे बार बार चढ़ानी पड़ती हैं। बीच-बीच में चदरा भी सम्हाल लेता है। पान को रूमाल से पोंछते हुए प्रेमलता की ओर गहरी दृष्टि से देखकर) जैसे उजली धूप सबको हँसाती हुई आलोक फैला देती है, जैसे उल्लास की मुक्त प्रेरणा फूलों की पँखड़ियों को गद्गद कर देती है, जैसे सुरभि का शीतल झोंका सबका आलिंगन करने के लिये विह्वल रहता है, वैसे ही जीवन की निरंतर परिस्थिति होनी चाहिये।

प्रेमलता—किंतु जीवन की झंझटें, आकांक्षायें, ऐसा अवसर आने दें तब न ! बीच-बीच में ऐसा अवसर आ जाने पर भी वे चिरपरिचित निष्ठुर विचार गुर्राने लगते हैं। तब !

आनंद—उन्हें पुचकार दो, सहला दो; तब भी न मानें, तो किसी एक का पक्ष न लो। बहुत संभव है कि वे आपस में लड़ जायँ और तब तुम तटस्थ दर्शक-मात्र बन जाओ और खिल-खिलाकर वह दृश्य देख सको। देख सकोगे न !

प्रेमलता—असंभव ! विचारों का आक्रमण तो सीधे मुझी पर होता है। फिर वे परस्पर कैसे लड़ने लगे ? (स्वगत) अहा, कितना मधुर यह प्रभात है ! यह मेरा मन जो गुदगुदी का अनुभव कर रहा है, उसका संघर्ष किससे करा दूँ।

(मुकुल भौंओं को चढ़ाकर अपनी एक हथेली पर तर्जनी से प्रहार करता है, जैसे उसकी समझ में प्रेमलता की बात बहुत सोच-विचार कर कही गई हो। आनंद दोनों को देखता है, फिर उसकी दृष्टि वन-लता की ओर चली जाती है।)

आनंद—(सँभालते हुए) जब तुम्हारे हृदय में एक कटु विचार आता है, उसके पहले से क्या कोई मधुर भाव प्रस्तुत नहीं रहता ? जिससे तुलना करके तुम कटुता का अनुभव करती हो।

प्रेमलता—हाँ, ऐसा ही तो समझ में आता है।

आनंद—तो इससे स्पष्ट हो जाता है कि पवित्र हृदय-मंदिर में दो भावों—कटु और मधुर—का द्वंद्व चला करता है, और उन्हीं में से एक दूसरे पर आतंक जमा लेता है।

प्रेमलता—लेता है; किंतु यह बात मेरी समझ में······

आनंद—(हँसकर) न आई होगी। किंतु तुम उस द्वंद्व के प्रभाव से मुक्त हो सकती हो। मान लो कि तुम किसी से स्नेह

करती हो (ठहरकर प्रेमलता की ओर गूढ़ दृष्टि से देखकर) और तुम्हारे हृदय में इसे सूचित करने···व्यक्त करने के लिये इतनी व्याकुलता······

प्रेमलता—ठहरिए तो, मैं प्यार करती हूँ कि नहीं, पहले इस पर—भी मुझे दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये।

आनंद—(विरक्ति प्रगट करता हुआ) उँह, दृढ़ निश्चय को बीच में लाकर तुमने मेरी विचार-धारा दूसरी ओर बहा दी। दृढ़ निश्चय! एक बंधन है। प्रेम की स्वतंत्र आत्मा को बंदीगृह में न डालो। इससे उसका स्वास्थ्य, सौंदर्य्य और सरलता सब नष्ट हो जायगी।

प्रेमलता—एँ! (और भी कोई व्यक्ति आश्चर्य से) एँ!

आनंद—हाँ-हाँ, उस नियमबद्ध प्रेम-व्यापार का बड़ा ही स्वार्थपूर्ण विकृत रूप होगा। जीवन का लक्ष्य भ्रष्ट हो जायगा।

प्रेमलता—(आश्चर्य से) और वह लक्ष्य क्या है?

आनंद—विश्व-चेतना के आकार धारण करने की चेष्टा का नाम 'जीवन' है। जीवन का लक्ष्य 'सौंदर्य्य' है; क्योंकि आनंद-मयी प्रेरणा जो उस चेष्टा या प्रयत्न का मूल रहस्य है, स्वस्थ—अपने आत्मभाव में, निर्विशेष रूप से—रहने पर सफल हो सकती है। दृढ़ निश्चय कर लेने पर उसकी सरलता न रहेगी, अपने मोह-मूलक अधिकार के लिये वह झगड़ेगी।

प्रेमलता—किंतु अभी-अभी आपने नदी-तट पर जाल की कड़ियों को आपस में लड़ाते हुए मछुओं की बातें सुनी हैं। वे न जाने·········

आनंद—सुनी है। आनंद के संबंध में पहले एक बात मेरी सुन लो। आनंद का अंतरंग सरलता है और बहिरंग सौंदर्य्य है, इसी में वह स्वस्थ रहता है।

प्रेमलता—किंतु आपकी ये बातें समझ में नहीं आतीं।

आनंद (हँसकर) तो इसमें मेरा अपराध नहीं। प्रायः न समझने के कारण मेरे इस कथन का अर्थ उलटा ही लगाया जायगा। किंतु करूँ क्या, बात तो जैसी है वैसी ही कही जायगी न! उन मछुओं को सरलता और सौंदर्य्य दोनों का ज्ञान नहीं। फिर आनंद के नाम पर वे दुःख का नाम क्यों न लें?

प्रेमलता—(उदास होकर) यदि हम लोगों की दृष्टि में उनके यहाँ सौंदर्य्य का अभाव हो, तो भी उनके पास सरलता नहीं है मैं ऐसा नहीं मान सकती।

आनंद—तुम्हारा न मानने का अधिकार मैं मानता हूँ, किंतु वे अपने भीतर ज्ञाता बनने का निश्चय करके, अपने कुछ स्वार्थों के लिये दृढ़ अधिकार प्रकट करते हुए, अपनी सरलता की हत्या कर रहे थे और सौंदर्य्य को मलिन बना रहे थे। काल्पनिक दुखों को ठोस मानकर……

मुकुल—(बात काटते हुए) ठहरिए तो, क्या फिर 'दुख' नाम की कोई वस्तु हई नहीं?

आनंद—होगा कहीं! हम लोग उसे खोज निकालने का प्रयत्न क्यों करें? अपने काल्पनिक अभाव, शोक, ग्लानि और दुख के काजल आँखों के आँसू में घोलकर सृष्टि के सुंदर कपोलों को क्यों कलुषित करें? मैं उन दार्शनिकों से मतभेद रखता हूँ जो यह कहते आए हैं कि संसार दुःखमय है और दुःख के नाश का उपाय सोचना ही पुरुषार्थ है।

(वनलता चुपचाप तीव्र दृष्टि से दोनों को देखती हुई अपने बाल सँवारने लगती है और प्रेमलता आनंद को देखती हुई अपने-आप सोचने लगती है।)

प्रेमलता—(स्वगत) अहा ! कितना सुंदर जीवन हो, यदि मनुष्य को इस बात का विश्वास हो जाय कि मानव-जीवन की मूल सत्ता में आनंद है । आनंद ! अहा ! इनकी बातों में कितनी प्रफुल्लता है ! हृदय को जैसे अपनी भूली हुई गति स्मरण हो रही है । (वह प्रसन्न नेत्रों से आनंद को देखती हुई कह उठती है) और !

आनंद—और दुःख की उपासना करते हुए एक दूसरे के दुःख से दुःखी होकर परंपरागत सहानुभूति—नहीं नहीं, यह शब्द उपयुक्त नहीं; हाँ—सहरोदन करना मूर्खता है । प्रसन्नता की हत्या का रक्त पानी बन जाता है । पतला, शीतल ! ऐसी समवेदनाएँ संसार में उपकार से अधिक अपकार ही करती हैं ।

प्रेमलता (स्वगत सोचने लगती है) सहानुभूति भी अपराध है ? अरे यह कितना निर्दय ! आनंद ! आनंद ! यह तुम क्या कह रहे हो ? इस स्वच्छंद प्रेम से या तुम से क्या आशा !

मुकुल—फिर संसार में इतना हाहाकार !

आनंद—उँह, विश्व विकास-पूर्ण है; है न ? तब विश्व की कामना का मूल रहस्य 'आनंद' ही है, अन्यथा वह 'विकास' न होकर दूसरा ही कुछ होता ।

मुकुल—और संसार में जो एक दूसरे को कष्ट पहुँचाते हैं, झगड़ते हैं !

आनंद—दुख के उपासक उसकी प्रतिमा बनाकर पूजा करने के लिये द्वेष, कलह और उत्पीड़न आदि सामग्री जुटाते रहते हैं । तुम्हें हँसी के हलके धक्के से उन्हें टाल देना चाहिये ।

मुकुल—महोदय, आपका यह हलका जोगिया रंग का कुरता जैसे आपके सुंदर शरीर से अभिन्न होकर हम लोगों की आँखों में भ्रम उत्पन्न कर देता है, वैसे ही आपको दुःख के झलमले अंचल में सिसकते हुए संसार की पीड़ा का अनुभव स्पष्ट नहीं हो पाता ।

आपको क्या मालूम कि बुद्धू के घर की काली-कलूटी हाँड़ी भी कई दिन से उपवास कर रही है। छुन्नू मूँगफलीवाले का एक रुपये की पूँजी का खोंमचा लड़कों ने उछल-कूदकर गिरा भी दिया और लूटकर खा भी गए, उसके घर पर सात दिन की उपवासी रुग्ण बालिका मुनक्के की आशा में पलक पसारे बैठी होगी या खाट पर पड़ी होगी।

प्रेमलता—(आनंद की ओर देखकर) क्यों ?

आनंद—ठीक वही बात ! यही तो होना चाहिये। स्वच्छंद प्रेम को जकड़कर बाँध रखने का, प्रेम की परिधि संकुचित बनाने का यही फल है, यही परिणाम है। (मुसकराने लगता है।)

मुकुल—तब क्या सामाजिकता का मूल उद्गम वैवाहिक प्रथा तोड़ देनी चाहिये ? यह तो साफ़ साफ़ दायित्व छोड़कर उद्भ्रांत जीवन बिताने की घोषणा होगी। परस्पर सुख-दुख में गला बाँधकर एक दूसरे पर विश्वास करते हुए, संतुष्ट दो प्राणियों की आशाजनक परिस्थिति क्या छोड़ देने की वस्तु है ? फिर···

प्रेमलता—(स्वगत) यह कितनी निराशामयी शून्य कल्पना है। (आनंद को देखने लगती है।)

आनंद—(हताश होने की मुद्रा बनाकर) ओह ! मनुष्य कभी न समझेगा। अपने दुःखों से भयभीत कंगाल दूसरों के दुःख में श्रद्धावान बन जाता है।

मुकुल—मैंने देखा है कि मनुष्य एक ओर तो दूसरे से कुछ ठग लेने के लिये सावधान और कुशल बनने का अभिनय करता रहता है।

प्रेमलता—ऐसा भी होता होगा।

आनंद—यह मोह की भूख······

वनलता (पास आकर) और केवल पेट की ही भूख-प्यास तो मानव-जीवन में नहीं होती। हृदय को—(छाती पर हाथ रखकर) कभी इसको—भी टटोल कर देखा है। इसकी भूख-प्यास का भी कभी अनुभव किया है? (आनंद कौतुक से वनलता की ओर देखने लगता है। आश्रम के मंत्री कुंज के साथ रसाल का प्रवेश।)

आनंद—(मुसकराकर) देवि, तुम्हारा तो विवाहित जीवन है न! तब भी हृदय भूखा और प्यासा! इसीसे मैं स्वच्छंद प्रेम का पक्षपाती हूँ।

वनलता—वही तो मैं समझ नहीं पाती, प्रतिकूलताएँ...... (कहते-कहते रसाल को देखकर रुक जाती है, फिर प्रेमलता को देखकर) प्रेमलता! तुमने आज प्रश्न करके हम लोगों के अतिथि श्री आनंद जी को अधिक समय तक थका दिया है। अच्छा होता कि कोई गान सुनाकर इन शुष्क तर्कों से उत्पन्न हुई हम लोगों की ग्लानि को दूर करतीं।

प्रेमलता—(सिर झुकाकर प्रसन्न होती हुई) अच्छा, सुनिए। (सब प्रसन्नता प्रकट करते हुए एक दूसरे को देखते हैं।)

प्रेमलता—(गाती है।)

जीवन-वन में उजियाली है।
यह किरनों की कोमल धारा—
बहती ले अनुराग तुम्हारा।
फिर भी प्यासा हृदय हमारा—
व्यथा घूमती मतवाली है।
हरित दलों के अंतराल से—
बचता-सा इस सघन जाल से।

यह समीर किस कुसुमवाल से—
माँग रहा मधु की प्याली है।

एक घूँट का प्यासा जीवन—
निरख रहा सबको भर लोचन।

कौन छिपाये है उसका धन—
कहाँ सजल वह हरियाली है।

(गान समाप्त होने पर एक प्रकार का सन्नाटा हो जाता है। संगीत की प्रतिध्वनि उस कुंज में अभी भी जैसे सब लोगों को मुग्ध किए है। वनलता सब लोगों से अलग कुंज से धीरे-धीरे कहती है।)

आधुनिक विज्ञान और प्रकृति के रहस्य

पचास वर्ष पहले विज्ञान शुष्क समझा जाता था। वैज्ञानिक प्रकृति को ही मानते थे। चार्वाकों की नाईं उनकी दृष्टि में आत्मा प्रकृति का ही रूपांतर था। परलोक और जन्मांतर में तो अब भी संदेह है। पर इधर पचास बरसों में अनेक अद्भुत खोजों से विज्ञान-विदग्धों की आँखें खुल गई हैं। और जो पहले समझते थे कि प्रकृति के रहस्य हमको हस्तामलकवत् हो गए हैं वे ही अब प्रत्यक्ष देखते हैं कि "ज्यों कदली के पात में पात, पात में पात। त्यों ही प्रकृति की बात में बात, बात में बात॥" उन्हें नित्य यह विश्वास होता जा रहा है कि प्रकृति का रहस्य अभी अनंत है और अनेक इसके क़ायल हो गए हैं कि कसन "कुदो न कुशाय-द-हिकमतईं मुअम्मारा"—यह पहेली किसी हिकमत से न हल हुई है, न होगी। प्रकृति की थाह बुद्धि से नहीं लगने की, क्योंकि

बुद्धि तो आप प्रकृति का एक अंश है। परंतु जहाँ तक बुद्धि पहुँचती है अद्वैतवाद की क़ायल होती जाती है। एकता के सबूत पर सबूत मिलते जा रहे हैं। यद्यपि एकता तक वस्तुतः पहुँच जाना अपना आपा खो बैठना है तथापि अनुमान की ऐनक के सहारे दूर से बुद्धि की धुँधली निगाह को भी एकता का तेजोमय रूप प्रकृति के परदे को फाड़कर चकाचौंध में डाल देता है। बस, उसके क़दम आगे नहीं बढ़ सकते। बार बार हटकर बुद्धि अपने पीछे देखती है, जाँच पड़ताल करती है। एकता की अलौकिक ज्योति के बल से, अदृष्ट पूर्व विस्तार से, अपनी जानकारी बढ़ाती जाती है। परंतु आगे जाने में (बुद्धि) जिब्रईल के पर जलते हैं।

विज्ञान ने इधर सौ बरसों में प्रकृति की एक अद्भुत लीला देखी। उसने देखा कि समस्त प्रकृति सृष्टि के आदि से ही धीरे धीरे उन्नति कर रही है। नित नये रूप बदल रही है। नित नये स्वाँग निकाल रही है। सृष्टि के मश्क़ के तख़्ते पर अपना हाथ फेरती जाती है। अच्छे से अच्छे रूप और गुण की रचना करने में समर्थ होती जा रही है। लाखों बरस के तजरबे से आज उसने वर्तमान मनुष्य का रूप बना पाया है। वर्तमान सभ्यता इसी प्रकृति का विकास है। और रंग ढंग कहता है कि इस तरह उन्नति करते करते न जाने कैसी उन्नत दशा में प्रकृति इस सृष्टि को पहुँचावेगी। इस तरह विज्ञान ने यह देखा है कि जगत् का होनहार बड़ा अच्छा है, अनेक वैज्ञानिकों ने उसके भविष्य की कुंडली बनाई है। यद्यपि कई उसकी आकस्मिक मृत्यु आदि का भय बताते हैं, तथापि अधिकांश का यही कहना है कि जगत् की आयु इतनी बड़ी है कि जितने बरस उसकी उत्पत्ति से आज तक बीत गए हैं। अरबों बरसों का ज़माना, उसके दूध पीने के दिन थे,

अभी तो पूरे दाँत नहीं आए। अभी उसने तोतले शब्द कहने सीखे हैं। उसकी आयु बहुत बड़ी है। दुनिया बूढ़ी नहीं हुई, बच्चा है। चंद ही साल में दुनिया का अंत बताकर क़यामत ढानेवाले सचेत हो जायँ और सतयुग की राह तकनेवाले निराश न हों। विश्व के हाथ की रेखाएँ देखकर गणितज्ञ वैज्ञानिक ज्योतिषी का पूरा समर्थन करते हैं और सृष्टि को भावी बड़ी भाग्यवती बताते हैं। ऐसी स्थिति में विज्ञान के सामने बराबर यह प्रश्न आया है कि सृष्टि वा मानव-जीवन का ही क्या उद्देश्य है? यह समस्त सृष्टि किस मार्ग से मुद्दत से चली आ रही है? और इस मार्ग का यद्यपि कहीं ओर छोर नहीं दीखता तथापि जिस रीति से यह यात्रा हो रही है क्या उससे यह नहीं जान पड़ता कि इस मार्ग के अंत में कोई बड़े मार्के की बात होगी, जिसका लक्ष्य सब को प्रेरित कर रहा है। ये प्रश्न बड़े महत्त्व के हैं। क्योंकि यदि यह मालूम हो कि हम कहाँ जाएँगे तो हम कोई पास की राह ले सकते हैं।

जैसे "क्या था और कैसा था", इन प्रश्नों का उत्तर इतिहास समझा जाता है, 'क्या और कैसा होना चाहिए' इन प्रश्नों का उत्तर नीति और धर्म्मशास्त्र है, उसी तरह "क्या है और कैसा है" इन प्रश्नों का उत्तर ही विज्ञान समझा जाता है। स्थायी तथ्यों को लेते हुए विज्ञान जिस प्रकार ज्ञात इतिहास की सीमाओं का अतिक्रमण कर जाता है, उसी तरह जीवन-मात्र पर विचार करते हुए नीति और धर्म्मशास्त्र के क्षेत्र में भी उसका प्रवेश होता है। जैसे स्वास्थ्य के लिये डाक्टर की राय लिए बिना काम नहीं चलता, वैसे आधुनिक योगक्षेत्र के लिये विज्ञान को भी बुलाना पड़ता है। सारांश यही कि "क्या है और कैसा है" इन प्रश्नों के उत्तर से ही उसे छुटकारा नहीं मिल जाता, उससे यह भी

पूछा जाता है कि तुम्हारी राय में—"क्या और कैसा होना चाहिए।"

विविध वैज्ञानिकों ने विविध भाँति से इसका उत्तर दिया है। विकासवादियों की यह धारणा है कि प्रकृति में चुनाव का नियम चलता है। जो अधिक बलवान् है वह निर्बलों का अंत कर देता है। सबलों और निर्बलों आदि का संघर्ष आदि से ही चला आ रहा है। निर्बल नष्ट हो जाता है, सबल की वृद्धि होती है। इसे योग्यतमावशेष नियम कहते हैं। प्रेम व करुणा व दया का तो कोई स्थान ही नहीं। बल्कि अहिंसा भी पास नहीं फटकने पाती। बलवान् के व्यक्तिगत स्वार्थ के आगे समस्त निर्बल संसार को सिर झुकाना पड़ता है। इसलिये विकासवादियों के निकट संसार का स्वार्थपर होना ही स्वाभाविक है। अपनी रक्षा तथा अपने सुख के लिये भरपूर बल लगाना व्यक्ति का परम धर्म्म है, परम उद्देश्य यह है :—

आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि॥

योग्यतमावशेष की ऐसी व्याख्या संकुचित पक्ष की है। संतति का दंपति का प्रेम नन्हें से नन्हें जीवों से लेकर मनुष्य तक में पाया जाता है। समय समय पर स्वजातीय पर दया, निर्बल को सहायता और रक्षा ये बातें भी चराचर जीव-मात्र में देखी गई हैं। ज्यों ज्यों शरीर और शारीरिक जीवन में विकाश होता जाता है, त्यों त्यों इन गुणों की मात्रा भी बढ़ती जाती है। मनुष्य-शरीर में योग्यतमावशेषवाला पाशविक नियम नहीं रह जाता। जीवन संघर्षमय अवश्य है पर वह संघर्ष नहीं जो पशु-पशु में था। मनुष्य का जीवन संघर्ष प्रकृति के साथ है, परिस्थिति के साथ है, उसके सजातीय के साथ नहीं।

समस्त मानवजाति शरीर है और यह पृथ्वी ग्रह उसकी परिस्थिति है, जिससे वह दिन पर दिन अधिक परिचित, अभिज्ञ और अनुवर्ती होता जा रहा है। यही बात उपस्थित सत्य घटनाओं से मेल खाती है। किसी अन्य रीति से तो घटनाएँ समझ में नहीं आतीं, प्रत्युत असंबद्ध दीखती हैं। क्योंकि मनुष्य झगड़ों से हटता जाता है। शारीरिक बलप्रयोग से दूर होता जाता है, वरन् सहकारिता की ओर उसका अधिकाधिक बढ़ता जाना निर्विवाद है।

किंतु यदि मनुष्यों में परस्पर स्पर्धा का नाश कर देना ही जीवन का नियम है तो यों समझना चाहिये कि मानव-जाति प्रकृति के नियम की अवहेलना कर रही है और अवश्य नाश के मार्ग पर होगी।

सौभाग्यवश इस विषय में प्रकृति के नियम को समझने में भूल हुई है। समाज वैज्ञानिक दृष्टि से कोई सर्वांग-शरीर नहीं समझा जा सकता। जो अपने सजातीयों के संसर्ग के बिना ही जीवन बिताने का प्रयत्न करता है वह मर जाता है। राष्ट्र भी सर्वांग-पूर्ण देह नहीं है। अन्य जातियों की सहकारिता बिना ही यदि ब्रिटेन जीवित रहने का प्रयत्न करे तो आधी आबादी भूखों मर जाय। सहकारिता जितनी ही पूर्ण हो उतनी ही जीवन-शक्ति की वृद्धि समझनी चाहिये। सहकारिता जितनी ही अपूर्ण होगी उतनी ही कम जीवन-शक्ति भी होगी। जिस शरीर के भिन्न भिन्न अंग ऐसे अन्योन्याश्रित हैं कि बिना सहकारिता जीवन का ह्रास वा क्षय हो जाता है, उस शरीर को इस विषय में स्पर्धी वा विरोधी शरीरों का समूह न समझना चाहिये। वरन् एक ही शरीर जानना चाहिये। अपनी परिस्थिति से रगड़ा करने का प्राणियों का स्वभाव ही है, और उपर्युक्त बात इसके अनुकूल ही है।

शरीरधारी जितना ही ऊँचे दर्जे का होगा उतना ही उसके अंगों में अन्योन्याश्रय और निकट संबंध होगा और उतनी ही सहकारिता की भी आवश्यकता होगी।

यदि जीव-वैज्ञानिक नियम का अर्थ यों समझा जाए तो सब बातें स्पष्ट हो जाएँ। विरोध से मनुष्य की अनिवार्य निवृत्ति और सहकारिता में विवश प्रवृत्ति इस बात को प्रकट करती है कि मानवजातिरूपी शरीर अपनी परिस्थिति का अधिकाधिक स्वामी होता जाता है और इस तरह उसकी शक्ति बढ़ती जाती है।

पूर्वोक्त नियम जीव-वैज्ञानिक रीति से वर्णन किया गया है। इन रीतियों से मनुष्य के जीवनप्रयास में जो आध्यात्मिक अभ्युदय संमिलित है उसका सबसे अच्छा वर्णन उसकी वृद्धि के स्थूल विवरण में बड़ी उत्तमता से हो जायगा।

डारविन के सिद्धांतानुसार मानवी सृष्टि के आदि में मनुष्य का साधारण स्वभाव मनुष्यभक्षक था। अगले मनुष्य राक्षस वा मनुजाद थे। मान लो कि किसी मनुजाद ने अपने बंदी को मार डाला। यह स्वभावानुकूल होगा कि वह उस मांस को अपने लिये ही रखे, दूसरे को न दे। शक्ति के प्रयोग का यह प्रचंड रूप है और मनुष्य के स्वार्थ का सबसे नीच भाव है। किंतु सारा मांस एक ही दिन में खाया जाना संभव नहीं था, अतः वह सड़ने लगा और खाने योग्य न रहा और मनुजाद भूखों मरने लगा। जो लोग यह कहा करते हैं कि मनुष्य-स्वभाव नहीं बदलता, उनकी भूल दिखाने को इस बीभत्स का वर्णन आवश्यक है। अतः पाठक क्षमा करें।

वह मनुजाद जिस समय भूखों मर रहा है, उसी काल उसके दो पड़ोसियों की भी ठीक वही दशा है। यद्यपि पूर्वोक्त मनुजाद अपने भोज्य की रक्षा में शारीरिक दृष्टि से संपूर्ण

समर्थ था तो भी उसके स्वाभाविक नाश के (सड़ने के) रोकने में असमर्थ होने से यों प्रबंध करना पड़ा कि दूसरी बार तीनों ने मिलकर एक ही बंदी को मारकर मिल-बाँटकर खाने का निश्चय किया। पहले के बंदी से दोनों पड़ोसियों ने भाग लिया और दूसरे दिन अपने बंदी से पहले को भाग दिया। इस प्रकार मांस ख़राब होने न पाया। यह सबसे पहला दृष्टांत है, जिसमें संसार में शारीरिक बल को सहकारिता के आगे सिर झुकाना पड़ा। अंत में तीनों के तीन बंदी दस बारह दिन में समाप्त हो गए और खाने को कुछ न रह गया। तब यह बात सूझी कि यदि हम इन्हीं बंदियों को जीता रखते तो इनसे अपने लिये शिकार कराते और कंद-मूल खुदवाते। निदान अब जो बंदी मिले वे मारे नहीं गए। दास बना लिए गए। यह भी शारीरिक बल-प्रयोग की कमी ही हुई। जिस स्वार्थ की प्रवृत्ति से पहले मारे जाते थे उससे ही अब सेवा में लगाए जाते हैं। तब भी युद्ध-कामना के साथ समझदारी इतनी कम ख़र्च की गई कि दास भूखों मरने लगे और उपयोगी काम के लिये सर्वथा अशक्त हो गए। अब उनसे धीरे धीरे अच्छा बर्ताव होने लगा और युद्ध-कामना घटने लगी। दास भी इतने सध गए कि बिना देख-रेख के कंद-मूल की खुदाई करने लगे और उनके स्वामी देख-रेख के समय को शिकार में लगाने लगे। जो झगड़ालूपन पहले दासों पर ख़र्च होता था, अब और जातियों के वैरियों से उन्हें बचाने में ख़र्च होता है। यह बात कठिन भी थी, क्योंकि दासों में स्वयम् एक स्वामी से दूसरे स्वामी के यहाँ चले जाने की प्रवृत्ति बहुधा देखी जाती थी। इसलिये राज़ी रखने के लिये उनसे और भी अच्छा व्यवहार किया जाने लगा। शक्ति के प्रयोग में यह और भी कमी हुई और सहकारिता में और भी वृद्धि हुई। दासों

ने उनके लिये मजूरी की और स्वामियों ने उन्हें भोजन दिया और उनकी रक्षा की! ज्यों-ज्यों जातियों की वृद्धि हुई त्यों-त्यों यही बात पाई गई कि जिस जाति में दासों को जितना ही अधिकार, जितना ही सुख, दिया गया उतनी ही उन जातियों में वृद्धि और दृढ़ता हुई। धीरे-धीरे दासत्व ने रैयत वा आसामी का रूप ग्रहण किया। स्वामी ने भूमि दी और रक्षा का प्रबंध किया और रैयत ने स्वामी के लिये मजदूरी की और सैनिक बने। शारीरिक बल के प्रयोग से मानव-जाति और भी हट गई और मिल-जुल कर काम करने की और अदला-बदली की रीति और भी बढ़ी। जब सिक्के चले बल का रूप भी बदल गया और रैयत लगान देने लगी। सैनिक तनख़्वाह पाने लगे। अब दोनों पक्षों में स्वच्छंदता से अदला-बदली होने लगी। शारीरिक बल आर्थिक शक्ति से बदल गया। ज्यों-ज्यों बल-प्रयोग से साधारण आर्थिक सुभीते की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति होती गई त्यों-त्यों व्यवसाय का अधिकाधिक प्रतिफल मिलने लगा। तातारी ख़ान जो अपने राज्य का धन ज़बरदस्ती लूट लेता था, अब लूट को कुछ पाता ही नहीं, क्योंकि जिस धन से लाभ नहीं हो सकता उसके उपार्जन के लिये मनुष्य उद्योग न करेंगे। अतः खाने के लिये अंततः किसी धनी को अनेक दुर्यातना करके मार डालने पर भी उस धन का सहस्रांश न मिल सकेगा जो लंदन का कोई व्यापारी बल-प्रयोगाधिकारहीन उपाधि के प्राप्त करने में खुशी से ख़र्च कर देगा। और वह उपाधि भी ऐसे शासक से, ऐसे महाराजाधिराज से, मिलेगी जो बलप्रयोग का कोई भी अधिकार न रखते हुए संसार के सबसे धनी साम्राज्य का स्वामी है। जिसका धन ऐसे उपायों से इकट्ठा हुआ है, जिनका बल-प्रयोग से कोई सरोकार ही नहीं है।

जाति वा उपजाति के भीतर ही भीतर यह सिलसिला जिस समय बराबर जारी रहा, उसी काल में भिन्न भिन्न राष्ट्रों वा जातियों में जो परस्पर बल-प्रयोग वा द्वेषभाव था वह दूर नहीं हुआ, पर उसमें कमी अवश्य आई। पहले तो यह बात थी कि झाड़ी के भीतर से अपने वैरी जातिवाले का धूलिधूसरित सिर दिखाई दिया नहीं कि इधर राक्षस के तीर का निशाना बन गया, क्योंकि यह 'पर' है अतः मारणीय है। कुछ दिन पीछे यह दस्तूर हो गया कि अपनी जातिवालों से लड़ाई हो तभी उसे मारने का प्रयत्न किया जाय। ऐसे भी अवसर आने लगे जिनमें शांति होती थी, शत्रुता में कमी होती थी। पहले के युद्धों में वैरी की स्त्रियाँ, बूढ़े सभी मारे जाते थे। बल और युद्ध-कामना अनियंत्रित होती तो है, किंतु ज्यों-ज्यों दासों से मजूरी का और दासियों से उपस्त्री का काम लिया जाने लगा युद्ध-कामना घटती गई। बल-प्रयोग कम होता गया। वैरी की स्त्रियाँ विजयता के पुत्र उत्पन्न करने लगीं। झगड़ालूपन और भी हटा। वैरी की बस्ती पर जो फिर चढ़ाई की गई तो मिला कुछ नहीं, क्योंकि लूट-मार से कुछ बचा ही न था। अतः वैरियों के सरदार को ही मार कर संतोष किया। युयुत्सा में और कमी आई। संवेग का और भी ह्रास हुआ। या वैरियों से देश छीन कर अपने लोगों में बाँट दिया, जैसा नारमन विजेताओं ने किया था। अब मनुष्य सर्वनाश करने के दरजे से आगे बढ़ गए।

अब विजेता विजित को केवल अपने में मिला लेता है वा विजित ही विजेता को मिला लेता है। जैसा समझ लिया जाय। अब एक दूसरे को चट कर जाने की बात नहीं रही। दोनों में एक भी निगला नहीं जाता। इसके अनंतर विजेता अपने

वैरी राजा को बेदख़ल नहीं करता, वरन् उस पर कर लगा देता है। यह बल-प्रयोग में और भी कमी हुई। किंतु विजेता राष्ट्र की दशा अपने ही राज्य में श्वान की-सी हो जाती है। जितना ही वह निचोड़ता है उतना ही कम पाता है। यहाँ तक कि अंत को जो कुछ मिलता है उससे भी अधिक उसके पाने के लिये सेना में ख़र्च हो जाता है। स्पेनिश अमेरिका में स्पेन की जो दशा हुई—जितना अधिक उसका राज्य बढ़ता था उतना ही स्पेन दरिद्र होता जाता था—वही दशा हो जाती है। अब बुद्धि-मान् विजेता को यह बात सूझती है कि कर लेने की जगह उस देश के बाज़ार पर अपना इजारा कर लिया जाय तो अधिक लाभ होगा। इस सिद्धांत पर अँगरेज़ों ने उपनिवेशों की पुरानी रचना की। किंतु इजारे की रीति में लाभ के बदले हानि बहुत हुई। इसपर उपनिवेशों को अपनी-अपनी ही रीति चलाने की आज्ञा दे दी गई। इस तरह बल-प्रयोग में और भी कमी हुई। विरोध और झगड़ालूपन और भी घटा। इसका अंतिम परि-णाम यह हुआ कि बल-प्रयोग एकदम छोड़ दिया गया। अब परस्पर लाभवाली सहकारिता का ही संबंध रह गया। सो केवल उपनिवेशों में ही नहीं जो पर-राज्य बन गए हैं, किंतु उन राज्यों में भी जो नाम-मात्र को वा वस्तुतः पराये हैं। अब मनुष्यों में परस्पर कठिन रगड़े की दशा नहीं है। हम ऐसी दशा को पहुँचे हैं कि परदेशियों के सुखी रहने पर ही हमारी जीविका या जीवन है। यदि इँग्लैंड किसी जादू से समस्त विदेशियों को मार डाले तो उसकी आधी प्रजा भूखों मर जाए। ऐसी दशा में परदेशियों से बहुत दिन तक विरोध रह नहीं सकता। किसी गंभीर जीव-वैज्ञानिक नियम से वा आत्मरक्षा के सच्चे भाव से ही ऐसे विरोध का कोई न्याय्य कारण समझा जाए

ऐसी भी कोई स्थिति नहीं है। ज्यों-ज्यों शरीर के अंग प्रत्यंग का अन्योन्याश्रय नवीन रीति से घनिष्ट होता जाता है, त्यों-त्यों वह आध्यात्मिक अभ्युदय आवश्यक है, जो आदि से ही मानव-प्रकृति के इतिहास-पट पर अंकित होता आया है। उस दिन से जब मनुष्य अपने बंदी को मारकर खा जाते थे और साथियों तक में बाँटना अस्वीकार करते थे, आज तक जब कि तार और बैंक ने आर्थिक रीति से सैन्य-बल को बिलकुल निरर्थक कर दिया है।

प्रस्तुत विचारों से कोई ऐसा न समझ ले कि विकासवाद एकदम नई बात है। डारविन के दिमाग़ की ही उपज है। डारविन को समझानेवाले अफ्रीक़ा के पादरी थे, जिन्होंने वहाँ के बनमानुसों और जंगली मनुष्यों में बड़ा सादृश्य पाया था। जैसे साधारण गोरी सभ्यतावाला अपने को ही मनुष्य समझता है और अ-गोरी जातियों को मनुष्यकोटि में गिनता ही नहीं, और जैसे अब तक अधिकांश भारतीय गोरी जातियों को त्रिजटा की संतान समझा करते हैं। उसी तरह यह निष्कर्ष निकाला था कि अफ्रीक़ा के मनुष्य वानर से ही उत्पन्न हुए होंगे। मनुजादों, बनमानुसों और वानरों से और मनुष्यों से प्राचीन संबंध हमारी कल्पना नहीं है, ऐतिहासिक बात है। वह भी दो चार हज़ार बरस का इतिहास नहीं, युगों पहले की बात है, जहाँ आधुनिक पाश्चात्य कल्पना और प्राच्य परंपरा में इतना घना सादृश्य है।

सृष्टि की घटनाओं के अवतारों के क्रम के विश्लेषणपूर्वक अध्ययन से विकास का पूरा पता लगता है। एक स्थल पर हक्सले इन बातों को इन शब्दों में मानता है कि "हिंदू ऋषियों की चर्चा ही क्या जो युगों पहले विकास-सिद्धांत से पूर्ण परिचित

थे"। वैष्णवों में भी श्री संप्रदाय के आचार्य्य रामानुज स्वामी ने बड़ी योग्यता से विकास को सिद्ध किया है। उनका कहना यह है कि जीवात्मा में प्रत्येक शक्ति पहले से ही विद्यमान है। चींटी में वे ही शक्तियाँ हैं जो ब्रह्मा में हैं। शक्ति की नदी सब जगह वेग से बहती है। जो किसान अपने खेत का बाँध हटावेगा उसके खेत में जल तुरंत भर जायगा, यही आंतरिक शक्ति हमारे यहाँ विकास का हेतु मानी गई है। हिंदू-विकासवाद में और डारविन के विकासवाद में यह अंतर अवश्य है कि डारविन ने जीवन का रगड़ा विकास का हेतु माना है और हिंदुओं ने आंतरिक शक्ति को ही हेतु समझा है। मनुष्येतर योनियों में जीवन-संग्राम देखकर ही डारविन ने भूल की, कार्य्य का कारण समझ बैठा। वस्तुतः जीवन-संग्राम उसी प्रवृत्ति का कार्य्य है।जो सृष्टिमात्र में कूटस्थ है। जो सारे खेल खिलाती और सब खोये कुटवाती है। श्री रामानुजाचार्य्य के अनुसार नीच से नीच योनि में आत्मा की दशा अत्यंत खींची हुई कमानी के समान है, जिसमें प्रसार की बड़ी प्रबल प्रवृत्ति है। शक्तियों के घनीभवन के कारण प्रसार का होना ही स्वाभाविक और आवश्यक है। प्रसार के बदले संकोच उत्पन्न करने के जो कारण उपस्थित होंगे वे ही अधर्म वा पाप समझे जाने चाहिएँ। ऊर्ध्वगति स्वभावसिद्ध है। अधोगति अस्वाभाविक है और घोर पाप कर्म से ही हो सकती है।

'धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण।'

अविद्या के कारण नीच योनियों के स्वाभाविक विकास से जब मार्ग में बाधायें उपस्थित होंगी, रुकावटें आगे आवेंगी तभी जीवन-संग्राम का दृश्य सामने आवेगा। वेगवती तरंगिणी की राह में जब तक चट्टानों की रुकावट नहीं है, चुपचाप धारा

बहती जाती है। चट्टानों ने बीच में रुकावट डाली कि धारा कुछ देर के लिये रुकी, परंतु धीरे-धीरे बल एकत्र करके चट्टानों को मारे थपेड़ों के रेत कर डालती है और घोर नाद करती और तटों को बहाती दूने वेग से समुद्र को जाती है। इस अवरोध को ही देखकर पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने जीवन-प्रयास तथा योग्यतमावशेष का हेतु समझ लिया। नीच योनियों से जीव का विकास होते होते मानव-योनि तक पहुँचा है, इससे ही विकास का मार्ग प्रशस्त और अनिरुद्ध-सा हो जाता है। जीवों में साधारणतया तीन प्रकार की उच्चाभिलाषा होती है जो उसे उन्नति की ओर झुकाती है—तरक्क़ी की राह में लगाती है—सातत्य, सर्वज्ञता और सुख। सभी चाहते हैं कि हम सदा बने रहें, मरें नहीं, हमारा नाश न हो जाय। इसके लिये सच्चे झूठे जितने उपाय सूझते हैं, मनुष्य सभी करता है। यही सातत्य की कामना है। सब कुछ जानने की इच्छा सबके मनों में होती है और उसके जानने के लिये अपने बल भर सभी उपाय करते हैं। यही सर्वज्ञता की इच्छा है। जिये तो सुख से जिये और मरे भी तो जहाँ कहीं आत्मा जाय सुखी ही रहे, यह इच्छा ऐसी प्रबल है कि कई गयाजी में अपना श्राद्ध भी कर आते हैं। यही सुख की इच्छा है। इस प्रकार इन तीनों इच्छाओं को साथ लिए हुए जीवात्मा शरीर-परिवर्तन करता है। चराचर जीवों में इन्हीं इच्छाओं के अनेक रूपों में चिह्न पाए जाते हैं। वनस्पतियों के जीवन का जैसा अनुशीलन विज्ञानाचार्य्य सर जगदीशचंद्र बसु ने किया है, संसार में प्रसिद्ध ही है। वनस्पतियों में भी ऐसी प्रवृत्ति पाई जाती है। अपने यहाँ जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और पशुओं की स्वप्नावस्था बताई है। अवस्थाभेद से जैसे जागृत अवस्था कर्म के लिये सबसे अधिक विकसित दशा

है, उसी तरह मानव-शरीर में इन तीनों इच्छाओं का सबसे ज़्यादा ज़ोर है। इन इच्छाओं को दूसरे शब्द में कहें तो क्रमशः सत्, चित और आनंद कह सकते हैं; और यह भी कह सकते हैं कि जीव की स्वाभाविक इच्छा सच्चिदानंद होने की है।

जीवात्मा की सबसे ऊँची आकांक्षा यही हो भी सकती है कि वह सच्चिदानंद हो जाय। सच्चिदानंद उस आनंद का नाम है जिसे आस्तिक हिंदू ईश्वर, जैन तीर्थंकर और बौद्ध बुद्ध वा अर्हत कहते हैं। परंतु हम यह कह आए हैं कि जीवात्मा चेतन आत्मा और अचेतन अनात्मा के संसर्ग का फल है। अतः उसी ऊँची से ऊँची आकांक्षा ईश्वरता की ही हद तक पहुँच सकती है और ईश्वरता भी प्रकृति से सविकार है, निर्विकार नहीं।

इस स्थल पर यह कह देना भी उचित होगा कि जहाँ रामानुज स्वामी के मत से विकास का होना जीव के लिये आवश्यक है, वहाँ भगवान् शंकर विकास नहीं मानते। बात ठीक ही है। विकास-प्रवृत्ति और निवृत्ति, वृद्धि और क्षय, ये बातें प्रकृति की हैं। घटना बढ़ना आदि विकार प्रकृति में ही संभव है। आत्मा पूर्ण अखंड, अनंत, अविकार, सनातन, एकरस है। अनिर्वचनीय और एक है। उसमें विकास की कल्पना की गुंजाइश कहाँ है? शंकर के मत से आत्मा ही सत्य है। "सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म", "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या", "एकमेवाद्धितीयम्" आदि आत्मा की सत्ता को ठीक और शेष को मिथ्या और अनित्य बताते हैं। परिवर्तन उसका धर्म्म है। जगत् और संसार आदि नाम आप पुकार कर विकास की दाद देते हैं और वृद्धि और ह्रास के नियम की मर्य्यादा करते हैं। जहाँ रामानुज स्वामी सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य चार प्रकार की मुक्ति ठहराते हैं और बंधन को भ्रममात्र बताते हैं, रामानुज स्वामी का जीव सच्चिदानंद हो

जाता है। शंकर स्वामी का जीव रह ही नहीं जाता, आत्मा में लीन हो जाता है।

श्री रामानुजाचार्य्य के अनुसार जीवन की सायुज्यशक्ति भगवान् के अंग में संमिलित हो जाना है, परंतु भगवान् शंकर के यह द्वैत है ही नहीं। कौन अंगी और कैसा अंग। जब आत्मा को छोड़ और कोई सत्ता ही नहीं तो बंधन भी भ्रम ही ठहरा। झूठ ही बात है। जीव जिसे कहते हैं कभी बँधा ही नहीं। नित्य मुक्ति है। यही कारण है कि शंकर के यहाँ विकास सिद्ध नहीं है।

साहित्य-देवता

मैं तुम्हारी एक तसवीर खींचना चाहता हूँ।

परंतु भूल मत जाना कि मेरी तसवीर खींचते-खींचते, तुम्हारी भी एक तसवीर खिंचती चली आ रही है।

अरे, मैं तो स्वयं ही अपने भावी जीवन की एक तसवीर अपने अटेची-केस में रक्खे हुए हूँ। तुम्हारी तसवीर बना चुकने के बाद मैं उसे प्रदर्शनी में रखनेवाला हूँ। किंतु, मेरे मास्टर, मैं यह पहले देख लेना चाहता हूँ कि मेरे भावी जीवन को, किस तरह चित्रित कर, तुमने अपनी जेब में रख छोड़ा है।

प्रदर्शनी में रक्खो तुम अपनी बनाई हुई, और मैं अपनी बनाई हुई रख दूँ,—केवल तुम्हारी तसवीर।

ना सेनानी, मैं किसी भी आईने पर बिकने नहीं आया। मैं कैसा हूँ, यह पतित होते समय खूब देख लेता हूँ। चढ़ते समय तो तुम्हीं, केवल तुम्हीं, दीख पड़ते हो।

क्या देखना है ?

तुम्हें, और तुम कैसे हो यह क़लम के घाट उतरने के समय हरगिज़ नहीं भूल जाना है कि तुम किसके हो।

आज चित्र खींचने की बेचैनी क्यों है ?

कल तक मैं तुम्हारा मोल-तोल कूता करता था। आज अपनी इस वेदना को लिखने के आनंद का भार मुझसे नहीं सँभलता।

सचमुच, पत्थर की, क़ीमत बहुत थोड़ी होती है; वह बोझीला ही अधिक होता है।

बिना बोझ के, छोटे पत्थर भी होते हैं ; जिनमें से एक-एक की क़ीमत पचासों हाथियों से नहीं कूती जाती। परंतु—

परंतु क्या ?

मेरे प्रियतम, तुम वह मूल्य नहीं हो, जिसकी, अभागे गाहक की अड़चनों को देखकर, अधिक से अधिक माँग की जाती है।

हाँ, तो तुम्हारा, चित्र खींचना चाहता हूँ। मेरी कल्पना की जीभ को लिखने दो; क़लम की जीभ को बोल लेने दो। किंतु, हृदय और मसिपात्र दोनों तो काले हैं। तब मेरा प्रयत्न, चातुर्य का अर्ध-विराम, अल्हड़ता का अभिराम, धवलता का गर्व गिरानेवाला, केवल श्याम-मात्र होगा। परंतु यह काली बूँदें, अमृत-बिंदुओं से भी अधिक मीठी, अधिक आकर्षक, और मेरे लिये अधिक मूल्यवान हैं। मैं अपने आराध्य का चित्र जो बना रहा हूँ !

* * *

कौन-सा आकार दूँ ? तुम मानव-हृदय के मुग्ध संस्कार जो हो ! चित्र खींचने की सुध कहाँ से लाऊँ ? तुम अनंत 'जाग्रत' आत्माओं, के ऊँचे पर गहरे 'स्वप्न' जो हो ! मेरी काली क़लम का बल, समेटे नहीं सिमटता। तुम, कल्पनाओं के मंदिर में,

बिजली की व्यापक चकाचौंध जो हो ! मानव-सुख के फूलों के, और लड़ाके सिपाही के रक्त-बिंदुओं के, संग्रह, तुम्हारी तसवीर खींचूँ मैं ? तुम तो, वाणी के सरोवर में अंतरात्मा के निवासी की जगमगाहट हो। लहरों से परे, पर लहरों में खेलते हुए। रजत के बोझ और तपन से खाली, पर पक्षियों, वृक्ष-राजियों और लताओं तक को अपने रुपहलेपन में नहलाए हुए।

वेदनाओं के विकास के संग्रहालय, तुम्हें किस नाम से पुकारूँ ? मानव-जीवन की अब तक पनपी हुई महत्ता के मंदिर, ध्वनि की सीढ़ियों से उतरता हुआ, ध्येय का माखन-चोर, क्या तुम्हारी ही गोद के कोने में, 'राधे' कह कर नहीं दौड़ा आ रहा है ? अहा, तब तो तुम, ज़मीन को आसमान से मिलानेवाले ज़ीने हो ; गोपाल के चरण-चिह्नों को साध-साध कर चढ़ने के साधन। ध्वनि की सीढ़ियाँ जिस क्षण लचक रही हों, और कल्पना की सुकोमल रेशम-डोर जिस समय गोविंद के पादारविंद के पास पहुँचकर झूलने की मनुहार कर रही हो, उस समय यदि वह झूल पड़ता होगा ?—आह, तुम कितने महान् हो ? इसी लिये बेचारा लाँगफेलो, तुम्हारे चरण-चिह्नों के मार्ग की कुंजी, तुम्हारे ही द्वार पर लटकाकर चला गया। चिड़ियों की चहक का संगीत, मैं, और मेरी अमृत-निस्यंदिनी गाय व्रज-लता, दोनों सुनते हैं। "सखि चलो सजन के देश, जोगन बन के धूनी डालेंगे।"—मैं और मेरा घोड़ा दोनों जहाँ थे, वहीं मेरे मित्र 'शंभु' जी ने अपनी यह तान छेड़ी थी। परंतु, वह तो तुम्हीं थे, जिसने द्विपाद और चतुष्पाद का, विश्व को निगूढ़ तत्त्व सिखाया। अरे, पर मैं तो भूल ही गया; मैं तो तुम्हारी तसवीर खींचनेवाला था न ?

हाँ, तो अब मैं तुम्हारी तसवीर खींचना चाहता हूँ। पशुओं को कच्चा खानेवाली ज़बान, और लज्जा ढँकने के लिये लपेटी जानेवाली वृक्षों की छालें,—वे, इतिहास से भी परे खड़े हुए हैं; और यह देखो, श्रेणी-बद्ध अनाज के अंकुर और शाहज़ादे कपास के वृक्ष, बाक़ायदा, अपने ऐश्वर्य को मस्तक पर रखकर, भू-पाल बनने के लिये, वायु के साथ होड़ बद रहे हैं। इन दोनों ज़मानों के बीच की जंज़ीर,—तुम्हीं तो हो। विचारों के उत्थान और पतन तथा सीधे और टेढ़ेपन को मार्ग-दर्शक बना, तुम्हीं न, कपास के तंतुओं से भी झीने तार खींचकर आचार ही की तरह, विचार के जगत् में, पांचाली की लाज बचाते आए हो? कितने दुःशासन आए, और चले गए। तुम्हारी बीन से, रात को, तड़पा देनेवाला सोरठ गाता हूँ, और सवेरे, विश्व-संहारकों से जूझने जाते समय, उसी बीन से, युद्ध के नक्कारे पर, डंके की चोट लगाता हूँ। नगाधिराजों के मस्तक पर से उतरनेवाली निम्नगाओं की मस्ती भरी दौड़ में, और उनसे निकलनेवाली लहरों की क़ुर-बानी से हरियाली होनेवाली भूमि में; लजीली पृथ्वी से लिपटे तरल नीलांबर महासागरों में, और उनकी लहरों को चीरकर ग़रीबों के रक्त से कीचड़ सान, साम्राज्यों का निर्माण करने के लिये दौड़नेवाले जहाज़ों के झंडों में, तुम्हीं,—केवल तुम्हीं लिखे दीखते हो। इँग्लैंड का प्रधानमंत्री, इटाली का डिक्टेटर, अफ़ग़ानिस्तान का पदच्युत, चीन का ऊँघ कर जागता हुआ, और रूस का सिंहासन उलटने और क्रांति से शांति का पुण्याहवाचन करनेवाला ग़रीब—यह कौन है? यह तो युग की छाती पर, तुम्हारे ही मधुर नाम के कठोर अक्षर हैं। यदि तुम स्वर्ग न उतारते, तो मंदिरों में किसकी आरती उतरती? वहाँ चमगीदड़ टँगे रहते; उल्लूक बोलते। मस्तिष्क के मंदिर भी जहाँ तुमसे

ख़ाली हैं, यही तो हो रहा है ! क़ुतुबमीनारों और पिरामिडों के गुंबज़, तुम्हारे ही आदेश से, आसमान से बातें कर रहे हैं। आँखों की पुतलियों में, यदि तुम कोई तसवीर न खींच देते, तो वे बिना दाँतों के ही चींथ डालतीं; बिना जीभ के ही रक्त चूस लेतीं। वैद्य कहते हैं, धमनियों के रक्त की दौड़ की आधार हृदय है,—क्या हृदय तुम्हारे सिवा किसी और का नाम है ? व्यास का कृष्ण, और वाल्मीकि का राम, किसके पंखों पर चढ़कर, हज़ारों वर्षों की छाती छेदते हुए, आज लोगों के हृदयों में विराज रहे हैं ? वे चाहे काग़ज़ के बने हों, चाहे भोजपत्रों के, वे पंख तो तुम्हारे ही थे।

रूठो नहीं, स्याही के शृंगार, मेरी इस स्मृति पर तो पत्थर ही पड़ गए कि—

मैं तुम्हारा चित्र खींच रहा था !

परंतु तुम सीधे कहाँ बैठते हो ? तुम्हारा चित्र ? बड़ी टेढ़ी खीर है ! सिपहसालार, तुम, देवत्व को मानवत्व की चुनौती हो। हृदय से छनकर, धमनियों में दौड़नेवाले रक्त की, दौड़ हो; और हो उन्माद के अतिरेक के रक्त-तर्पण भी। आह, कौन नहीं जानता, कि तुम कितनों ही की बंसी की धुन हो; धुन वह, जो 'गो-कुल' से उठकर विश्व पर अपनी मोहिनी का सेतु बनाए हुए है। काल की पीठ पर बना हुआ वह पुल, मिटाए मिटता नहीं, भुलाए भूलता नहीं। ऋषियों का राग, पैग़ंबरों का पैग़ाम, अवतारों की आन, युगों को चीरती, किस लालटेन के सहारे, हमारे पास तक आ पहुँची ? वह तो तुम हो, परम प्रकाश—स्वयं प्रकाश। और आज भी कहाँ ठहर रहे हो ? सूरज और चाँद को, अपने रथ के पहिये बना, सूझ के घोड़ों पर बैठे, बढ़े ही तो चले

जा रहे हो प्यारे ! ऐसे समय हमारे संपूर्ण युग का मूल्य तो, मेल-ट्रेन में पड़नेवाले छोटे से स्टेशन का-सा भी नहीं होता। पर इस समय तो, तुम मेरे पास बैठे हो। तुम्हारी एक मुट्ठी में, भूत-काल का देवत्व छटपटा रहा है;—अपने समस्त समर्थकों को लेकर; दूसरी मुट्ठी में, विश्व का विकसित तरुण पुरुषार्थ विराजमान है। धूलि के नंदन में परिवर्तित स्वरूप, कुंज-विहारी, आज तो कल्पना की फुलवारियाँ भी, विश्व की स्मृतियों में, तुम्हारी तर्जनी के इशारों पर लहलहा रही हैं। तुम नाथ नहीं हो; इसी लिये कि मैं अनाथ नहीं हूँ। किंतु हे अनंत पुरुष, यदि तुम विश्व की कालिमा का बोझ सँभालते मेरे घर न आते, तो ऊपर आकाश भी होता और नीचे ज़मीन भी; नदियाँ भी बहतीं, सरोवर भी लहराते; परंतु मैं और चिड़ियाँ, दोनों, छोटे-छोटे जीव-जंतु और स्वाभाविक अन्न-कण बीनकर अपना पेट भरते होते। मैं भर वैशाख में भी वृक्षों पर शाखा-मृग बना होता। चीते-सा गुर्राता, मोर-सा कूकता और कोयल-सा गा भी देता। परंतु मेरा और विश्व के हरियालेपन का, उतना ही संबंध होता, जितना, नर्मदा के तट पर, हरसिंगार की वृक्ष-राजि में लगे हुए, टेलिग्राफ के खंभे का नर्मदा से कोई संबंध हो। उस दिन, भगवान् 'समय', न जाने किसका, न जाने कब कान उमेठ कर चलते बनते ? मुझे कौन जानता ? विंध्य की जामुनों और अरावली की खिरनियों के उत्थान और पतन का भी इतिहास किसी के पास लिखा है ? इसी लिये तो मैं तुमसे कहता हूँ:—

"ऐसे ही बैठे रहो, ऐसे ही मुसकाइ"।

क्यों ?

इसलिये कि अंतरतर की तरल तूलिकाएँ समेटकर, अराजक ! मैं तुम्हारा चित्र खींचना चाहता हूँ !

क्या तुम अराजक नहीं हो ? कितनी गद्दियाँ तुमने चकनाचूर नहीं कीं ? कितने सिंहासन तुमने नहीं तोड़ डाले ? कितने मुकुटों को गलाकर घोड़ों की सुनहली खोगीरें नहीं बना दी गईं ? सोते हुए अ-खंड नर-मुंडों के जागरण, नाड़ी रोगी के ज्वर की माप बताने में चूक सकती हैं, किंतु तुम, मुग्ध होकर भी, ज़माने को, गणित के अंकों जैसा नपा-तुला और दीपक जैसा स्पष्ट निर्माण करते चले आ रहे हो। आह, राज्य पर होनेवाले आक्रमण को बरदाश्त किया जा सकता है, किंतु मनोराज्य की लूट तो दूर, उसपर पड़नेवाली ठोकर, कितने प्रलय नहीं कर डालती ? सोने के सिंहासनों पर विराजमानों की हत्याओं से, ज़माने के मनस्वियों के हाथ लाल हैं, किंतु नक़्शे पर दिए जानेवाले रंग की तरह उस शक्ति की सीमा निश्चित है। परंतु मनोराज्य की मृगछाला पर बैठे हुए, बिना शस्त्र—बिना सेना के, बृहस्पति के अधिकार को चुनौती कौन दे सके ? मनोराज्य पर छूटने वाला तीर प्रलय की प्रथम चेतावनी लेकर लौटता है। मनोराज्य के मस्तक पर फहराता हुआ विजय-ध्वज, जिस दिन धूलि-धूसरित होने लगे, उस दिन, मनुष्यत्व दूरबीन से भी ढूँढ़े कहाँ मिलेगा ? उस दिन ज्वाला-मुखी फट पड़ा होगा, वज्र टूट पड़ा होगा। प्यारे, शून्य के अंक, गति के संकेत, और विश्व के पतन-पथ की तथा विस्मृति की गति की लाल झंडी, तुम्हीं तो हो ! तुम्हारा रंग उतरने पर, वह आत्म-तर्पण ही है जो फिर तुम पर लालिमा बरसा सके। जिस मंदिर का झंडा लिपट जाय, वह डाँवाडोल हो उठे, उसमें 'नर', 'नारायण' नहीं रहते। उस देश को पराये चरण अभी धोने हैं, अपने मांस से पराये चूल्हे अभी सौभाग्यशील बनाए रखने हैं, पराई उतरन अभी पहिननी है। मैं, प्रियतम, तुम्हारी :—

"उतरन पहनी हुई तसवीर नहीं खींचूँगा !"

❦ ❦ ❦

उतरन—बुरी तरह स्मरण हो आया ! बुरे समय, बुरे दिनों। अपना कुछ न रखनेवाला ही उतरन पहने। जो क्षितिज के परे अपनी अँगुली पहुँचा पावे, जो प्रत्यक्ष के उस ओर रक्खी हुई वस्तु को छू सके, वह उतरन क्यों पहने ? फ्रेंच और जर्मन का आपस का लेन-देन, उतरन नहीं, वह तो भाईचारे की भेंट है। एक भिखारिन माँ मेरी भी है। उसने भी रत्न प्रसव किए हैं। पत्थरों से बोझीले; कंकड़ों से गिनती में अधिक; ख़ाली अंतःकरण में मृदंग से अधिक आवाज़ करनेवाले। मातृ-मंदिर में, उतरन पर एक दूसरे से होड़ ले रहा है। उतरन-संग्रह की बहादुरी का इतिहास, उनकी पीठ पर लदा हुआ है। गत वर्ष होनेवाले विश्व-परिवर्तनों के, छपे पुराने अख़बारों पर, आज हम, हवाई जहाज़ के नए आविष्कार की तरह बहस करते हैं। वीणा, बंसी और जल-तरंग का सर्वनाश ही नहीं हो चुका; हारमोनियम और पियानो भी किस काम आएँगे ?—हमारा कोई गीत भी तो हो ? कला से नहलाया हुआ, हृदय तोड़कर निकला हुआ। वीणा में तार नहीं; दिल में ग़ुबार नहीं। और साध तो है कि—

"मैं तुम्हारा चित्र बना डालूँ !"

❦ ❦ ❦

न जाने हम तुम्हारा जन्मोत्सव मनाते हैं, या मरण-त्यौहार ? बैलगाड़ी पर बैठे-बैठे हवाई जहाज़ देखा करते हैं। बिल्ली के रास्ता काट जाने पर हमारा अपशकुन होता है; किंतु बेतार का तार स्विट्ज़रलैंड की ख़बर, आस्ट्रेलिया पहुँचाकर भी, हमारी श्रुतियों को नहीं छूता ! तब, हमारी सरस्वती से तो उसका संबंध ही कैसे हो सकता है ? एंजिन के रूप में धधकते हुए ज्वालामुखी

का एक व्यापार हमारी छाती पर हो रहा है। प्यारे, इस समय अधोगति की ज्वाल-मालाओं में से ऊँचा उठने के लिये आकर्षण चाहिये। कृषकों ने, इसी लालच से तो, तुम्हारा नाम कृष्ण रक्खा होगा। ज़रा, तुम अपनी युग-संदेश-वाहिनी बाँसुरी लेकर बैठ जाओ। रामायण में जहाँ बालकांड है, वहाँ लंकाकांड भी तो है। तुम्हारी तान में भैरवी भी हो, कलिंगड़ा भी हो। ज़रा बंसी लेकर बैठ जाओ:—

मैं तुम्हारा चित्र मुरलीधर के रूप में खींचना चाहता हूँ!

* * *

"शिव संहार करते हैं"—कौन जाने? किंतु मेरे सखा, तुम ज़रूर महलों के संहारक हो। झोपड़ियों ही से तुम्हारा दिव्य गान उठता है। किंतु यह अपनी पर्ण-कुटी देखो। जाले चढ़ गए हैं, वातायन बंद हो गए हैं। सूर्य की नित्य नवीन, प्राण-प्रेरक और प्राण-पूरक किरणों की यहाँ गुज़र कहाँ? वे तो द्वार खटखटाकर लौट जाती हैं। द्वार पर चढ़ी हुई बेलें, पानी की पुकार करती हुई, बिना फलवती हुए ही, अस्तित्व खो रही हैं। पितृ-तर्पण करनेवाले अल्हड़ों को लेकर, युग, इस कुटी का कूड़ा साफ़ करने ही में लग जाना चाहता है। कितने तप हुए कि इस कुटिया में सूर्य-दर्शन नहीं होते। मेरे देवता! तुम्हारे मंदिर की जब यह अवस्था किए हुए हूँ, तब बिना प्रकाश, बिना हरियालेपन, बिना पुष्प और बिना विश्व की नवीनता को तुम्हारे द्वार पर खड़ा किए, तुम्हारा चित्र ही कहाँ उतार पाऊँगा? विस्तृत नीले आसमान का पत्रक पाकर भी, देवता! तुम्हारी तसवीर खींचने में, शायद दैवी चितेरे इसी लिये असफल हुए। उन्होंने चंद्र की रजतिमा की दावात में, क़लम डुबो-डुबोकर चित्रण की कल्पना पर चढ़ने का प्रयत्न किया, और प्रतीक्षा की

उद्विग्नता में, सारा आसमान धबीला कर चलते बने ! इस बार, मैं पुष्प लेकर नहीं, कलियाँ तोड़कर आने की तैयारी करूँगा ; और, ऐ विश्व के प्रथम-प्रभात के मंदिर, उषा के तपोमय प्रकाश की चादर तुम्हें ओढ़ाकर, तुम्हारे उस अंतरतर का चित्र खींचने आऊँगा, जहाँ, तुम, अशेष संकटों पर अपने हृदय के टुकड़े बलि करते हुए, शेष के साथ खिलवाड़ कर रहे होगे । आज तो उदास, पराजित, और भविष्य की वेदनाओं की गठरी सिर पर लादे, अपने बाग़ में उन कलियों के आने की उम्मीद में ठहरता हूँ, जिनके कोमल अंतस्तल को छेदकर, उस समय, जब तुम नगाधिराज का मुकुट पहने, दोनों स्कंधों से आनेवाले संदेशों पर मस्तक डुला रहे होगे; गंगी और जमुनी का हार पहने, बंग के पास तरल चुनौती पहुँचा रहे होगे, नर्मदा और ताप्ती की करधनी पहने, विंध्य को विश्व नापने का पैमाना बना रहे होगे; कृष्णा और कावेरी की कोरवाला नीलांबर पहने, विजय-नगर का संदेश, पुण्य-प्रदेश से गुज़र कर, सह्याद्रि और अरावली को सेनानी बना, मेवाड़ में ज्वाला जगाते हुए, देहली से पेशावर और भूटान चीरकर, अपनी चिर कल्याणमयी वाणी से, विश्व को न्योता पहुँचा रहे होगे; और हवा और पानी की बेड़ियाँ तोड़ने का निश्चय कर, हिंद-महासागर से अपने चरण धुलवा रहे होगे;—ठीक उसी संनिकट भविष्य में, हाँ सूजो से कलियों का अन्तःकरण छेद, मेरे प्रियतम, मैं तुम्हारा चित्र खींचने आऊँगा । तब तक, चित्र खींचने योग्य अरुणिमा भी तो तैयार रखनी होगी । बिना मस्तकों को गिने और रक्त को मापे ही मैं तुम्हारा चित्र खींचने आ गया ।

देवता, वह दिन आने दो; स्वर सध जाने दो ।

✓

मुरलीधर

'क्या तुम संगीत हो ?'

तुम मेरे संगीत नहीं हो। आलापों की तरह तुम मेरी मर्ज़ी पर लौटते कहाँ हो ? माना कि तुम्हारी कृपा के बादल बेइख़्तियार बरस पड़ते हैं। परंतु उस समय तुम मेरी मलार नहीं बने होते।

—'तब क्या तुम मेरे मृदंग हो ?'

हाँ, तुम मेरे प्रहार सह लेते हो; किंतु मेरे बंधनों में जकड़े जाने के लिये कब तैयार होते हो ? मीठे बोलते हो; परंतु मुँह पर आटा लगाने की रिश्वत उस मधुराई के बदले तुम्हें कब देनी होती है ? और 'सब कुछ' मेरे, मैं तुम्हारी वाणी पर यह इलज़ाम कैसे रख सकता हूँ कि तुम बाहर बोल रहे हो; किंतु अंतःकरण रहित हो ? क्या तुम्हारी वाणी पर थोथेपन का आरोप कर सकता हूँ ?

'आह ! तब तुम वीणा हो; नारद के नाद-ब्रह्म से विश्व-झंकृत कर देनेवाली।'

परंतु वीणा तो मेरी गोद में रहती है; तुम कहाँ यह शर्त स्वीकार करते हो ? माना, झनकारते ही वीणा स्वर देती है, मनुहारते ही तुम दौड़ आते हो; किंतु मेरे स्वर पर सदा ही तो तुम्हारे तार नहीं मिलते। स्वर से स्वर न मिलने पर, स्वरलहरी से विश्व भर देनेवाली वीणा को गोद में लेकर, और हृदय से लगाकर भी, मुझे उसके कान ऐंठने पड़ते हैं। पर, हाय ! तुम तो मेरे कानों को वीणा बनाने के लिये घूमते हो।

—'तब मधुर मुरली के सिवा तुम और क्या हो ?'

पर अपने ओंठ पर तुम्हारे मुँह को रखकर अपनी वेदनाओं और उल्लासों की गूँज कहाँ मचा सकता हूँ ? तुममें छिद्र कहाँ हैं ? और उनपर मैं अपनी उँगलियाँ कहाँ रख सकता हूँ ?

आह जाना, तुम न संगीत हो, न मृदंग हो, न वीणा हो, न मुरली हो,—

'तुम तो मुरलीधर हो।'

रहस्यवाद

हिंदी-संसार में रहस्यवाद के संबंध में विचित्र विचित्र धारणायें व्यक्त की जा रही हैं। ऐसे ऐसे कवियों को भी रहस्यवादी कवियों की कोटि में ढकेला जा रहा है, जो रहस्यवाद से कोसों दूर हैं। वास्तव में भाव-गंभीरता, भाषा-क्लिष्टत्व तथा विचार-जटिलता के कारण अभिव्यक्ति में जो दुरूहता आ जाती है, वह रहस्यवाद नहीं है। हिंदी-रहस्यवाद का वर्तमान स्वरूप पश्चिमीय प्रतिकृति है। अँगरेज़ी के प्रसिद्ध कोष में रहस्यवादी उस व्यक्ति को कहते हैं, जिसे ज्ञानातीत सत्य के आध्यात्मिक निरूपण में विश्वास हो। कभी कभी अध्यात्म-संबंधी विचित्र धारणा के उपहास के लिये और कभी कभी ईश्वर और संसार-संबंधी असाधारण विवेचना की मखौल उड़ाने के लिये भी रहस्यवाद शब्द का प्रयोग किया जाता है।

ईश्वर और संसार का संबंध, संसार की क्रियाशीलता का रहस्य, उसकी उत्पत्ति और लय का इतिहास सारे संसार को आदिकाल से मुग्ध किए है। इस मुग्धता में विस्मय है, विस्मय में उद्वेगाग्नि है। इसी लिये चित्त क्षुब्ध और अशांत रहता है। क्षोभ और अशांति में सुख का ह्रास होता है। अतएव सुखापेक्षी नर-समाज का चिंतनशील समुदाय इस गुत्थी को सुलझाने के लिये अपनी सारी शक्ति अनंतकाल से व्यय कर रहा है। ससीम ज्ञान असीम ज्ञान की खोज का अभ्यास अनंतकाल से कर रहा

है, परंतु उसमें शांति नहीं मिली। अतएव असीम हृदय के अन्वेषण के लिये ससीम हृदय उत्कंठा से निकला। यही रहस्य-वाद का मूल उद्गम है। चिंतन-जगत् में जो ब्रह्मवाद अथवा अद्वैतवाद है, भावना-जगत् में वही रहस्यवाद कहलाता है।

भारतीय ग्रंथों में रहस्यवाद की सुंदर व्याख्या गीता के अधोलिखित श्लोक में मिलती है,

सर्वभूतेषु येनैकं भावगम्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम्॥

परंतु काव्यगत रहस्यवाद का ज्ञान से संबंध न होकर हृदय से है। मानसिक विकास-द्वारा ज्ञान से ऐक्य अनुभव करना दूसरी बात है, और भावातिरेक-द्वारा हृदय से भावात्मक ऐक्य स्थापित करना दूसरी बात। काव्य-स्वीकृत रहस्यवाद का संबंध दूसरे प्रकार से है, पहले प्रकार से नहीं। यद्यपि अंततः दोनों का आशय एक ही है, परंतु साहित्य में दोनों के क्षेत्र भिन्न हैं। एक को दर्शन के और दूसरे को काव्य के अंतर्गत रक्खा गया है।

रहस्यवाद वास्तव में कोई 'वाद' नहीं है। यह एक प्रकार की मानसिक स्थिति है। भिन्न भिन्न रहस्यवादियों ने समूचे तथ्य का कोई-न-कोई अंग-निरूपण करके सत्य की अभिव्यक्ति में कुछ-न-कुछ नई बात कही है। उस महान् अखंड शक्ति के आलोक का आभास भक्तजनों को पृथक् पृथक् कोण से मिला है।

सुनि हस्ती कर नाँव, अँधरन टोवा धाय कै।
जेहि टोवा तेहि ठाँव, मुहमद सो तैसे कहा॥

रहस्यवादियों की अपनी मनोवृत्तियों ने उसका रूप सँवारा है। यही कारण है कि पहुँचे हुए संतों के अनुभव एक दूसरे से

भिन्न और कहीं-कहीं पर परस्पर-विरोधी दिखाई देते हैं। अँगरेज़ी कवि वर्ड्सवर्थ को दैवी अभिव्यक्ति का साक्षात्कार प्रकृति के सान्निध्य से प्राप्त हुआ था, और इसी लिये वह प्रकृति का उपासक था, परंतु वही प्रकृति का स्थूल स्वरूप दूसरे रहस्यवादी कवि ब्लेक के लिये अखंड सत्ता के अवगत करने में विरोध उपस्थित करता था।

वास्तव में रहस्यवादी मानता है कि दैवी स्फूर्ति का कोई-न-कोई स्फुलिंग जीव के निर्माण में निहित है। उसी स्फुलिंग-द्वारा—उसी दैवांश द्वारा—वह उस अखंड सत्ता की अनुभूति कर सकता है। रहस्यवादी का यह विश्वास है कि जिस प्रकार बुद्धि द्वारा मनुष्य भौतिक पदार्थों का निरूपण करता है, उसी प्रकार अध्यात्म भावना-द्वारा मनुष्य रहस्यमय अखंड सत्ता का अनुभव कर सकता है। परंतु बुद्धि और भावना के क्षेत्र भिन्न भिन्न हैं। रहस्यवादी उसे मूर्ख समझता है, जो अध्यात्म-निरूपण में बुद्धि का प्रयोग करता है।

> यह करनी का भेद है, नाहीं बुद्धि-विचार।
> बुद्धि छोड़ करनी करो, तौ पाओ कछु सार॥
>
> 'कबीर'

रहस्यवादी जीव के विभिन्न चित्रों और जन्मांतर के विभिन्न संस्करणों के समूचे संकलन को एक साथ तारतम्य में देखता है। इसी लिये उसे जन्मांतर में विश्वास करना पड़ता है। आत्मा की नित्यता उसके रहस्यमय भाव-प्रासाद की नींव है। "न जायते म्रियते वा कदाचन" अथवा "न हन्यते हन्यमाने शरीरे" रहस्य-वादी के अद्वैतवाद की पुष्टि ही करते हैं। इस प्रकार के जन्मांतर में विश्वास किसी जाति विशेष के रहस्यवादियों तक ही सीमित

नहीं है। जन्मांतर-सिद्धांत के घोर विरोधी ईसाइयों में भी रहस्य-वादी कवि रहते हैं। जन्मजन्मांतरवाद के कट्टर विरोधी मुसलमान-धर्म के पोषक कविवर मलिक मुहम्मद जायसी ने भी सूफ़ी रहस्यवादी होने के कारण जन्मांतरवाद के चित्र खींचे हैं। 'पद्मावत' का 'सुआ' पूर्व जन्म का ब्राह्मण था। कबीर ने तो खुल्लमखुल्ला जन्मांतर माना है। इसी प्रकार सूफ़ी कवि जमालुद्दीन रूमी, हाफ़िज़, जामी हज़्ज़ाज़ इत्यादि मुसलमानों में भी आत्मा की पुनर्भावना के चित्र मिलेंगे। भारतवर्ष के संतकवि तो जन्मांतर के विश्वास के साथ-साथ विकासवाद को भी कहीं कहीं स्वीकार करते दिखाई देते हैं:—

जन्म एक गुरु-भक्ति कर, जन्म दूसरे नाम।
जन्म तीसरे मुक्ति-पद, चौथे में निर्वान॥

परंतु यह सार्वभौमिक सिद्धांत नहीं है कि प्रत्येक रहस्यवादी जन्मांतर को माने ही। अँगरेज़ी साहित्य में इसके अपवाद उपस्थित हैं।

धर्म-प्रचारक, विज्ञान-वेत्ता, तार्किक और दार्शनिक तथा रहस्यवादी में बड़ा भारी अंतर है। विज्ञान-वेत्ता की भाँति रहस्यवादी रहस्योद्घाटन के लिये बुद्धि से काम न लेकर अपनी निजी भावना और आंतरिक प्रेरणा का प्रयोग करता है। दर्शनकार नवीन शोध को सीधे सामने लेकर अभिव्यक्त करता है। रहस्यवादी उसका परोक्ष निदर्शन करता है। वह अनुभव करता है कि उसने अखंड ज्योति की लपक देखी। उसने अनहद शब्द सुना है। उसने अमृत-कुंड के छींटों से स्नान किया है।

भरत अमिय-रस झरत ताल जहँ, शब्द उठे असमानी हो।
सरिता उमड़ि सिंधु कहँ सोखै नहिं कछु जात बखानी हो॥

भाषा भावों के विकास से हमेशा पीछे रहती है। भाव की उत्पत्ति के बाद तद्रूप भाषा गढ़ी जाती है। भाषा चाहे कितनी ही विकसित क्यों न हो, भावों को यथेष्ट व्यंजना संभव नहीं, इसी लिये रहस्यवाद की कविताओं में प्रतीकों का प्रयोग अनिवार्य रूप में पाया जाता है। रहस्यवादियों का इन प्रतीकों के बिना काम ही नहीं चल सकता है। रहस्योद्‌घाटन की अभिव्यक्ति कितनी कठिन है, इसका अनुमान केवल एक ही बात से हो सकता है, लगभग सभी संत कवियों ने उस अखंड ज्योति के साक्षात्कार के प्राप्त सुख की अभिव्यक्ति में गूँगे के खाए हुए गुड़ की उपमा दी है। कारण यह कि सभी कवियों की व्यंजना की कठिनता एक सी है। प्रतीक-प्रयोग की भावना के अंतर्गत संसार के ऐक्य की भावना निहित है। इसी लिये रहस्यवादी उसे अपनाता है। वह भी विश्वास करता है कि सब पदार्थों में तिरोहित साम्य है। मानवी प्रेम में दैवी प्रेम का आध्याधार देखता है, इसी लिये संकेत-द्वारा उसमें दैवी प्रेम का आरोप करता है। प्रकृति में गिरती हुई पंक्तियों को देखकर मानव-समाज के ध्वंस का रहस्य सामने आ जाता है। हिलते हुए वृक्ष से प्रकंपित वृद्ध शरीर का चित्र उपस्थित हो जाता है :—

बाढ़ी आवत देखि करि तरुवर डोलन लाग।
हमें कटे की कछु नहीं पंखेरू घर भाग॥

'कबीर'

प्रतीक-प्रयोग से अभिव्यक्ति में शक्ति आ जाती है। दैनिक जीवन में दांपत्य-प्रेम अत्यंत तीव्र और व्यापक है। समूचे जीवन-क्षेत्र में उसका प्रभाव अद्वितीय है। इसी लिये कबीर, जायसी, मीरा, दादू, दरिया इत्यादि संतों में उसकी भरमार है। वास्तव में दांपत्य-प्रेम के ही विशद मनोविकार-द्वारा किसी अंश में रहस्य

भावमय अखंड स्वरूप के दोनों पक्षों—संयोग और विप्रलंभ—की कुछ-न-कुछ अभिव्यंजना हो सकती है, अन्यथा असंभव है। गौने जाना, सिलसिली गैल में चलना, विरह में तड़पना सब प्रतीक ही है।

रहस्यवाद तथ्य के आलोक का मानसिक प्रतिवर्तन है। कुछ ऐसे रहस्यवादी हैं, जो सारे निगूढ़ रहस्यों की क्रमशील निबंधना का साक्षात्कार करते और उसे ज्यों-की-त्यों व्यक्त करते हैं। कबीर को ऐसा ही रहस्यवादी कहना चाहिये। इस साक्षात्कार की उपलब्धि की तीन अवस्थायें हैं—पूर्व-तद्रूप, तद्रूप तथा प्राग्-तद्रूप। तद्रूप होने के प्रयास की आदिम अवस्था से लेकर तद्रूप होने तक की अवस्था को पूर्व-तद्रूप अवस्था कहते हैं। तन्मय हो जाने की अवस्था को तद्रूप अवस्था कहते हैं। तथा तन्मय होने के परे की अवस्था को प्राग्-तद्रूप अवस्था कहते हैं। हिंदी में कबीर के रहस्यवाद में तीनों परिस्थितियाँ मिलती हैं।

नाटक में रहस्यवाद की उद्भावना संसार में कहीं नहीं हुई। शेक्सपियर आदि नाटककार रहस्यवादी नहीं हैं। रहस्यमयी भावनायें दर्शकों के लिये सुबोध नहीं कही जा सकतीं। शेक्स-पियर की कृतियों में अध्यात्मवाद की अभिव्यक्ति अवश्य है। अध्यात्मवादी और रहस्यवादी में थोड़ा भेद है। अध्यात्मवादी व्यक्त क्रिया-कलाप और गल्पात्मक स्वरूप-विधान के कारण ही खोज में चिंतित रहता है। परंतु रहस्यवादी ऐसा अनुभव करता है कि वह प्रत्येक तथ्य के अंतिम निष्कर्ष को जानता है। इतिहास की भाँति युग के साथ-साथ किसी क्रम से रहस्यवाद का विकास नहीं हुआ। किसी तार्किक क्रम के कटहरे में रहस्य-वाद की किसी स्थिति को बंद करना भी कठिन है। हाँ, देश-काल की परिस्थितियों-द्वारा स्वरूप में कुछ परिवर्तन अवश्य हो गया

है। हिंदू सिद्धांतानुकूल प्रकृति का आवरण आत्मा को परोक्ष-सत्ता के निरूपण में विघ्न उपस्थित करता है, और वह उसके परित्याग की भावना को अत्यंत तीव्रता के साथ व्यक्त करता है। सूफ़ी इस प्रतिरोध को नहीं मानता। सूफ़ी भावना से प्रेरित होकर कबीर ने लिखा है—

> मूये पीछे मत मिलौ, कहै कबीरा राम।
> सोना माटी मिल गया, फिर पारस केहि काम॥

कबीर इस मिट्टी को—इस शरीर को—प्रतिबंध न मानकर उसे भी सोना बनाना चाहते हैं। इस महान् सत्ता के संपर्क से जड़ प्रकृति भी चैतन्यमयी हो सकती है। परंतु उसी समय तक, जब तक उसमें स्वयं उस महान् शक्ति का स्फुलिंग उपस्थित है। सारा विश्व एक बृहत् क्रिया-कलाप का गत्यात्मक पिंड है। उसी में अखंड सत्ता का हृदय—जिसे ईश्वर कह सकते हैं—है, और वही सारे स्वरूपों और नाम-रूपों की जाति, उद्गम और ध्वंस का केंद्र है। इसकी सम्यक् जानकारी अभ्यासी क्रमशः ही उपलब्ध कर सकता है। उसकी उन्नति उतनी ही गति से होगी, जितनी वेगवती उसकी उपास्य-भावना है, और जितना अधिक उसका हृदय परिष्कृत है। उपासना का अभिप्राय स्थूल देववाद की भावना से प्रेरित होकर पूजा इत्यादि करने का नहीं है।

भारतवर्ष में अद्वैतवाद केवल चिंतन-जगत् तक ही रहा। इसकी कुछ झलक उपनिषदों में अवश्य मिलती है, वैसे सारा संस्कृत-काव्य-साहित्य रहस्यवाद से दूर है। यह अवश्य है कि देश की सुख-समृद्धि से मनुष्य बाह्यमुखी अवश्य रहता है, परंतु जिस भारतवर्ष में बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों ने अपनी अंतर्दृष्टि के पैनेपन से संसार को चकित कर रक्खा है, वह रहस्यवाद की अभिव्यक्ति से बचा रहे, यह विचारणीय अवश्य है। यहाँ का

सारा संस्कृत-काव्य रहस्यवाद से अधिकतर बचा रहा। भारतीय धर्म्म में मूर्तिपूजा की स्थापना करके भावना के लिये एक नई उर्वरा भूमि तैयार की गई। सारी भावना प्रतिभा में संमिलित कर दी गई। सारे संस्कृत-कवियों ने नितांत अर्वाचीन हिंदी-कवियों को छोड़कर, सारे हिंदी-कवियों ने अपनी भावना के विस्तार के लिये भगवान् के साकार स्वरूप को ही आलंबन बनाया। इन अवतारी स्वरूपों पर जनता का हृदय भी टिका। चित्रों की सुंदर-से-सुंदर व्यंजना दिखाई देने लगी। हिंदी कवियों में—कबीर, जायसी और कहीं-कहीं सूर में—जो रहस्यवाद की झलक यत्र तत्र दिखाई देती है, वह सूफ़ी मत के प्रभाव के कारण। सूफ़ियों के लिये तो यह प्रसिद्ध ही है कि वे "पर्दे-बुतों" में 'नूरे-खुदा' देखते हैं, और बुतों के सामने सिजदा करना उतना ही पाक समझते हैं जितना कि खुदा के सामने। इसी लिये कट्टर सुन्नियों ने सूफ़ियों को काफ़िरों के दल में खदेड़ दिया।

व्यक्त-स्वरूप पर अधिक अनुरक्ति ने सूफ़ियों में अंतर्दृष्टि के अभ्यास को मंद कर दिया। वे अधिकतर बाह्य सौंदर्य तक ही सीमित रहे। किसी-किसी परिस्थिति में उनके मनोभाव में विकार उत्पन्न हो गया, और सौंदर्य-बाहुल्य का प्रभाव मनोमुग्धकारी न रहकर स्थूल इंद्रियों में प्रकंपन उत्पन्न करने लगा। सौंदर्य हृदय में गड़ा तो, परंतु विस्मय परिपाक स्वरूप गत्यात्मक महान् अक्षय परोक्ष सौंदर्य आलोक की ओर न ले जाकर मांस-पिंड तक ही सीमित रह गया। इसी से लोग बिगड़े, और बुरी तरह बिगड़े। अमूर्त, गुण, दया, दाक्षिण्य, करुणा आदि के विश्व-रूप सौंदर्य तक उनकी पहुँच न हो सकी। मूर्त पदार्थों तक ही उनका मन टिका। करुणा-संपन्न व्यक्ति पर

मुग्ध होकर सूफ़ी रहस्य भावना में लीन हो सकते थे, परंतु करुणा के अमूर्त गुण पर नहीं। हिंदी-साहित्य के वर्तमान रहस्यवादी कवियों ने किसी अंश तक इस कमी को पूरा किया है। जयशंकरप्रसाद के अजातशत्रु-नामक नाटक में करुणा की व्याख्या में कवि किस प्रकार रहस्यवादमय हो जाता है, उसका उदाहरण नीचे दिया जाता है—

> गोधूली के राग-पटल में स्नेहांचल फहराती है।
> स्निग्ध उषा के शुभ्र गगन में हास-विलास दिखाती है॥
>
> इत्यादि।

रहस्यवाद का सूफ़ीवाद पर जो बुरा प्रभाव पड़ा, उसी से प्रेरित होकर सूफ़ी लोग अपने कर्तव्य की इतिश्री इसी में समझने लगे कि वे सुंदर स्त्री और सुंदर बालक की ओर आँखें फाड़कर देखें। इसी से वे ऐहिक विलास में पड़ गए, और भारतीय प्रवाह पहले मूर्तिपूजा की ओर झुका, और अब गुणों के सूक्ष्म सौंदर्य के आलोक में सच्चे रहस्यवाद का चित्र खड़ा कर रहा है।

स्परजन-नामक एक अँगरेज़ विद्वान् ने रहस्यवाद पर एक ग्रंथ लिखा है, जिसमें उसने रहस्यवादी कवियों को उनकी चिंतन-प्रणाली के अनुसार कुछ कोटियों में विभाजित किया है। उनकी कुछ चर्चा नीचे दी जाती है—

(१) प्रेम और सौंदर्य-संबंधी रहस्यवादी।

(२) दार्शनिक रहस्यवादी।

(३) धार्म्मिक और उपासक रहस्यवादी।

(४) प्रकृति-संबंधी रहस्यवादी।

पहली कोटि में अँगरेज़ी का प्रसिद्ध कवि शैली आता है। हिंदी के प्राचीन कवियों में जायसी, कबीर और नवीन कवियों में 'भारतीय आत्मा' और 'नवीन' इस कोटि में आ सकते हैं।

दूसरी कोटि में अँगरेज़ी कवि ब्लैक और कहीं-कहीं ब्राउनिंग है। हिंदी में जयशंकरप्रसादजी इस कोटि में आ सकते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी का 'केशव, कहि न जात का कहिए' विनय-पत्रिका का प्रसिद्ध छंद इसी कोटि में आता है।

तीसरी कोटि में मीरा, निर्गुणिये कवि दादू इत्यादि और कहीं-कहीं प्रेमवादी जायसी तथा कुतबन आते हैं। तुलसीदास रहस्यवादी नहीं हैं, परंतु उनका 'सियाराम मैं सब जग जानी' पद इसी कोटि में ही आता है।

चौथी कोटि में अँगरेज़ी कवि वर्ड्सवर्थ आते हैं। हिंदी के वर्तमान कवियों में सुमित्रानंदन और रामनरेश त्रिपाठी के कुछ पद इस कोटि में आ जाते हैं।

फ़ारस और इंग्लैंड के रहस्यवाद के इतिहास से एक बात तो स्पष्ट ही है कि जनसत्तात्मक विचारों की क्रांति से बहुधा रहस्यमयी भावना का प्रादुर्भाव होता है। ह्वीट्स साहब आयलैंड निवासी हैं। कबीर समाज के नीच जुलाहे थे। कभी-कभी बाह्य परिस्थितियों की प्रतिकूलता से भी अभ्यंतर-मुख होकर लोग रहस्यवादी हो जाते हैं।

यह बात न भूलनी चाहिये कि किसी विशेष 'वाद' में पड़ कर कविता अपना महत्त्व खो बैठती है। रहस्यमयी भावना बड़ी सुंदर वस्तु है। कविता में उसकी निबंधना कविता के स्वरूप को अत्यंत आकर्षक बना देती है। परंतु जब वह कविता की शक्ति किसी 'वाद' विशेष के निरूपण में लगाई जाती है, चाहे वह अद्वैतवाद ही क्यों न हो, तो वह कविता न रहकर केवल

तुकबंदी ही रह जाती है। कबीर ने ही जहाँ कहीं रहस्यमयी भावना के बिना ही रहस्यवाद के निरूपण के लिये कविता के पद खड़े किए हैं, वहाँ के छंद बिलकुल नीरस हैं। उदाहरण के लिये देखिए—

जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहर-भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहिं समाना यह तत कथौ गियानी॥

वर्तमान युग की कविता में यद्यपि कबीर की भाँति केवल 'वाद' के निरूपण की कविता में नीरस पद्य संभवतः न मिलेंगे, परंतु ऊटपटांग चित्रों की भरमार है। इनके बीच में पड़कर सच्चे चित्रों और मार्मिक कवियों को भी लोग संदेह से देखते हैं। 'भारतीय आत्मा' तथा बालकृष्ण शर्मा कहीं-कहीं पर रहस्यवाद के अच्छे-अच्छे चित्र उपस्थित करते हैं। प्रसादजी एक दार्शनिक वृत्ति के कवि हैं। वह प्रायः रहस्यवादी कवि कहे जा सकते हैं, परंतु उनमें सर्वत्र रहस्यवाद नहीं है। हाँ, उनकी चिंतन-शैली दुरूह अवश्य है, और उनके चित्र संश्लिष्ट हैं। उपमायें उनकी अनूठी और भाव-व्यंजना नितांत नवीन है। पं० सुमित्रानंदनजी पंत अधिकतर विस्मयवाद के रूपक सामने रखते हैं। रहस्यवादी अधिक न होकर वह 'विस्मयवादी' कहे जा सकते हैं। अन्योक्ति का अधिक सहारा लेने के कारण उनके चित्र दुरूह हो गए हैं। इसी लिये लोगों ने उन्हें रहस्यवादी कहना आरंभ कर दिया। 'निराला' जी की पंक्तियों में जहाँ कहीं रहस्यवाद लाने का प्रयास किया गया है, वहाँ तुकबंदियों का स्वरूप दिखाई देता है। यह स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि वर्तमान हिंदी के कवियों में रहस्यवादी बहुत कम हैं। समासोक्ति अथवा अन्योक्ति में रहस्यवाद देखना भ्रम है। दुरूहवाद और रहस्यवाद दो भिन्न भिन्न बातें हैं।

कर्म्मवीर महाराणा प्रताप

महाराणा प्रताप के यहाँ अच्छा आदर-सत्कार पाने पर भी विभीषण मानसिंह चित्तोड़ के कुमार से बोले, "राणाजी के सिर में जो दर्द है उसकी दवा लेकर शीघ्र ही लौटूँगा।" विभीषण चिकित्सक मानसिंह शीघ्र ही लौटा। हल्दीघाटी के मैदान ने इस सुयोग्य चिकित्सक का आवाहन किया। प्रताप भी अपनी कठिनाइयों का पहला पाठ पढ़ने के लिये इस रणक्षेत्र की ओर आगे बढ़ा। २२००० साथी—लेकिन अंत में आठ हज़ार ही बचे, शेष सब प्रताप को गुरु-दक्षिणा में देने पड़े! घमासान युद्ध! प्राणों का बाज़ार पूरा गरम! भीषणता, और उसका सच्चा महत्त्व उसी समय समझ सकते हो, जब एक किसान की कुटी की शांति और सौम्यता से इस दृश्य की तुलना करो! मनुष्य की पाशविक शक्ति का पूरा नमूना, लेकिन साथ ही संसार के उज्ज्वल गुणों का पूरा ख़ज़ाना! मर रहे और मारे जा रहे हैं! एक पर एक टूट रहे हैं, और एक पर एक गिर रहे हैं। ढाल—लेकिन अंत में कोमल शरीर ही ढाल का काम देते हैं। तलवार—मनुष्य के रक्त की तरलता देखकर उसका पानी और भी तरल हो जाता है! बर्छियाँ ज़रा-सा भी अन्याय नहीं करतीं! इस यज्ञकुंड में, प्रताप! तुम अपनी जान की बार-बार आहुति दे रहे हो! लेकिन तुम इस तरह से छुटकारा नहीं पा सकते, तुम्हें संसार में रह कर संसार से संग्राम करना है! मानसिंह! वह—विभीषण दवा लेकर प्रताप के सामने न आ सका। ओह! सलीम बच्चा है, छोड़ो प्रताप, उसे छोड़ो। आह, अब तुम बेतरह घिर गए! तुम अकेले, और ये मुग़ल सिपाही सैकड़ों! तुम्हारा मुकुट इस समय तुम्हारा शत्रु हो गया है। फेंक दो उसे! अरे फेंक दो उसे!

लेकिन कितने मारोगे, एक, दो, तीन—अरे, वे आते ही जाते हैं, अब भी फेंक दो, फेंको भी ! देश और जाति को, नहीं, संसार को, तुम्हारी जान, तुम्हारे सोने के तुच्छ मुकुट से भी ज़्यादा प्यारी है। नहीं फेंकोगे ? अच्छा राजपूत वीरो ! आगे बढ़ो, देखो तुम्हारा अधिपति मुफ़्त ही में जा रहा है ! बढ़ो आगे, बचाओ, बचाओ ! हाँ सदरी के झाला ! तुम हाँ, बढ़ो ! बस ठीक ! झाला के सिर पर मुकुट है। मुग़ल-तलवारें झाला पर पड़ने लगीं ! प्रताप को उन्होंने छोड़ दिया। एक जान के बदले दूसरी जान ! झाला ने अपनी जान देकर अधिक क़ीमती जान बचा ली ! रक्त-नदी बह उठी। लेकिन, चित्तौड़ की स्वतंत्रता देवी की प्यास न बुझी। अभी तो परीक्षा आरंभ ही हुई है प्रताप ! एक क़िले के बाद दूसरा क़िला दो ! अब क़िले नहीं रहे, तो जाओ पहाड़ियों और जंगलों की ख़ाक छानो। एँ ! रसद बंद हो गई, तो क्या हर्ज है ? पत्ते कहीं नहीं गए, जंगल का सामा और कोदों का कोई हाथ न पकड़ लेगा। आज यहाँ तो कल वहाँ, घास की रोटियाँ, लेकिन खाते ही मुग़ल आ पहुँचे। लड़ते भिड़ते निकल चलो ! सोने को बिछौने नहीं, कोई हर्ज नहीं ! बड़ों के लिये चट्टानें और बच्चों के लिये बाँस के पालने ही सही ! अँधेरी रात, धधकती दुपहरियाँ, जाड़े का कड़ाका, वर्षा की रिमझिमाहट, आत्मा की आग और परमात्मा की उदासीनता—साथियों का मरते जाना और सैनिकों का कम होते जाना, कठिन तपस्या और कठोर व्रत ! एक दिन नहीं और दो दिन भी नहीं एक साथ पचीस वर्ष तक !

(२)

यह कैसी चीत्कार ? चित्तौड़ की राजकुमारी के हाथ से एक वन-बिलाव घास-पात की रोटी छीन ले गया। राजकुमारी

चीख़ उठी। बिलाव के डर से नहीं, भूख के डर से, राजकुमारी— और रोटी के लिये तरसे! लेकिन प्रताप—यह क्या? तुम्हारी आत्मा काँप क्यों उठो? लड़की की वेदना देखकर और परिवार के कष्टों से? शांत हो और ज़रा विचारो! देखो, वह तुम्हारे शत्रु अपने खीमों में घी के दीपक जला रहे हैं। क्यों? तुम्हारी हिम्मत टूटती हुई देखकर। इन दीपकों के घी और बत्ती के साथ सच बताओ, तुम्हारा हृदय जला कि नहीं। हाँ जला, अब उस जले पर नमक छिड़कने की ज़रूरत नहीं।

(३)

हो चुका! बस, चित्तौड़ की पवित्र भूमि! तुझे नमस्कार है। तुझे छोड़ता हूँ। लेकिन स्वतंत्रता का पल्ला नहीं छोड़ता। जो था, सो सब इस देवी के अर्पण हो चुका। शरीर में जो हड्डियाँ बाक़ी हैं, वे भी उसके अर्पण हो चुकीं। जननी-जन्मभूमि अंतिम दर्शन है। लो, आज्ञा दो।

प्रताप, आगे बढ़ो! तुम्हारी सच्ची माता तुम्हें बुला रही है। हरिश्चंद्र अपनी दासता के कर्त्तव्य में जब हद से ज़्यादा आगे बढ़ गए थे, तब कहते हैं कि निराकार प्रभु ने आकर उनका हाथ पकड़ा था। मेवाड़ की भूमि भी तेरा पैर पकड़ रही है। देख, उसका एक सपूत आगे बढ़ता है। भामासाह तेरे पैर थामता है। देश को मत छोड़, वह तुझे छोड़ने के लिये तैयार नहीं। भाग्य भी अभी तक तुझे छोड़े था, लेकिन, अब वह प्रार्थना करता है कि तू उसे मत छोड़। ले धन। २५००० आदमी इस धन से १२ वर्ष तक खा सकेंगे। तेरी तपस्या पूरी हो गई और देख स्वतंत्रता देवी स्वयं तेरे पास आ रही है। तेरे साहस और तेरी दृढ़ता तथा वीरता और उदारता के सामने उसका आसन डोल उठा है।

देख, शांति से वह मुस्कुरा रही है। उसके हाथों में माला है और देख, वह तेरे गले में गिरती है।

(४)

महान् पुरुष—निस्संदेह महान् पुरुष! भारतीय इतिहास के किस रत्न में इतनी चमक है? स्वतंत्रता के लिये किसने इतनी कठिन परीक्षा दी? जननी जन्म-भूमि के लिये किसने इतनी तपस्या की? देशभक्त लेकिन देश पर एहसान जतानेवाला नहीं, पूरा राजा लेकिन स्वेच्छाचारी नहीं। उसकी उदारता और दृढ़ता का सिक्का शत्रुओं तक ने माना। शत्रु से मिले भाई शक्तिसिंह पर उसकी दृढ़ता का जादू चल गया। अकबर का दरबारी पृथ्वीराज उसकी कीर्ति गाता था। भील उसके इशारे के बंदे थे। सरदार उसपर जानें न्योछावर करते थे। भामाशाह ने उसके पैरों पर सब कुछ रख दिया। विभीषण मानसिंह उससे नज़र नहीं मिला सकता था। अकबर उसका लोहा मानता था। खानखाना उसकी तारीफ़ में पद्य-रचना करना पुण्य-कार्य समझता था। जानवर भी उसे प्यार करते थे, और घोड़े चेतक ने उसके ऊपर अपनी जान न्योछावर कर दी। स्वतंत्रता देवी को वह प्यारा था, और वह उसे प्यारी थी। चित्तौड़ का वह दुलारा था और चित्तौड़ की भूमि उसे दुलारी थी। उदार इतना कि बेगमें पकड़ी गईं और सम्मान-सहित वापिस भेज दी गईं। सेनापति फ़रीदख़ाँ ने कसम खाई कि प्रताप के खून से मेरी तलवार नहाएगी; प्रताप ने सेनापति को पकड़कर छोड़ दिया।

(५)

अंतिम काल! जान नहीं निकलती। लेकिन राणा जी, क्यों? मुझे विश्वास नहीं कि मेरे बाद चित्तौड़ की स्वाधीनता

क़ायम रह सके। क्यों? राजकुमार दृढ़ न सही, मेवाड़ के सोलह सरदार, राणा जी, कसम खाते हैं कि हम अपने खून से स्वतंत्रता के उस बीज को जो तूने बोया, सींचेंगे। शांति हुई, और उसकी आत्मा शरीर से बाहर होकर स्वतंत्रता देवी की पवित्र गोद में जा विराजी। प्रताप! हमारे देश का प्रताप! हमारी जाति का प्रताप! दृढ़ता और उदारता का प्रताप! तू नहीं है, केवल तेरा यश और कीर्ति है! जब तक यह देश है और जब तक संसार में दृढ़ता, उदारता, स्वतंत्रता और तपस्या का आदर है, तब तक हम क्षुद्र प्राणी ही नहीं, सारा संसार तुझे आदर की दृष्टि से देखेगा। संसार के किसी भी देश में तू होता, तो तेरी पूजा होती और तेरे नाम पर लोग अपने को न्योछावर करते। अमेरिका में होता, तो वाशिंगटन और इब्राहेम लिंकन से तेरी किसी तरह कम पूजा न होती। इँगलैंड में होता तो वेलिंगटन और नेलसन को तेरे सामने सिर झुकाना पड़ता। स्काटलैंड में वालेस और राबर्ट ब्रूस तेरे साथी होते। फ्रांस में जान आफ़ आर्क तेरे टक्कर की गिनी जाती और इटली तुझे मेज़िनी के मुक़ाबिले में रखती। लेकिन हा! हम भारतीय निर्बलात्माओं के पास है ही क्या, जिससे हम तेरी पूजा करें। और तेरे नाम की पवित्रता को अनुभव करें। एक भारतीय युवक आँखों में आँसू भरे हुए नेत्रों सहित अपने हृदय को खोता हुआ, लज्जा के साथ तेरी कीर्ति गा नहीं, रो नहीं, कह भर लेने के सिवा और कर ही क्या सकता है?

लंका की स्थिति

रावण की लंका के विषय में बहुत बड़ा भ्रम है। यथार्थ में लंका जाति-वाचक संज्ञा है। कई भाषाओं में लंका का अर्थ द्वीप टापू या टीला होता है। इसके कारण और भी अधिक गड़बड़ी मच गई है। बहुतेरे लोग सिंहलद्वीप या सीलोन को लंका मानने लगे हैं, परंतु कई ऐसे हैं जो उसकी स्थिति सीलोन के पश्चिमोत्तर मालद्वीप को निर्धारित करते हैं। कोई कोई पूर्व की ओर झुककर मलाया प्रायद्वीप के निकट बतलाते हैं, और कोई-कोई कहते हैं कि लंका अब रही ही नहीं; रामचंद्रजी के अयोध्या लौटने पर समुद्र में डूब गई। यह तो जल के मध्यस्थ अनुमानित लंका की दशा है। अन्य विद्वान् थल के बीच कोई आसाम और कोई विंध्य-पर्वत पर बतलाते हैं। इसी अंतिम कल्पना के आधार पर रामचरित की पूर्ण घटना अवधी प्रचारांचल के बीच में हुई समझनी चाहिये।

नौ वर्षों से जब से भारतीय विद्वत्परिषद् का जन्म हुआ है तब से ज़ोर दिया जा रहा है कि रावण की लंका मध्यभारत अमरकंटक नामक चोटी पर थी। इस मंतव्य के पक्ष और विपक्ष में अनेक हिंदी और अँगरेज़ी पत्र-पत्रिकाओं में कई लेख लिखे जा चुके हैं और विद्वत्परिषद् की बैठकों में वाद-विवाद भी हो चुका है। परंतु अभी तक कोई ऐसा तर्क उपस्थित नहीं हुआ जो इस विचार को निर्मूल सिद्ध कर सके।

वाल्मीकीय रामायण की कथा से स्पष्ट देख पड़ता है कि लंका अयोध्या से दक्षिण ओर थी। राम को जब वनवास की आज्ञा हुई तब वे दक्षिण की ओर जाकर चित्रकूट में बहुत दिनों तक रहे; वहाँ से चलकर दंडकारण्य को गए, और उसी जंगल से

रावण सीता को हर कर लंका द्वीप को ले गया। द्वीप का अर्थ सागर-मध्यस्थ टुकड़ा लेने से सैकड़ों मील के विस्तारवाले समस्त द्रविड़ देश को बिना पार किए उसकी स्थिति बैठाने का सुभीता नहीं था, परंतु राम की दैवी शक्तियों के मनन करने से इस आपत्ति को झेलना कठिन नहीं जान पड़ा, जिसका परिणाम यह हुआ कि लोग सीलोन को रावण की लंका मानने लगे। इसका प्रचार कब से हुआ इसका पता नहीं चलता, किंतु कुछ ग्रंथों से निष्कर्ष निकलता है कि सिंहल द्वीप लंका से भिन्न है। निदान सहस्रेक वर्ष पूर्व कोई-कोई विद्वान् जानते थे कि सिंहल द्वीप लंका से भिन्न है।

परंतु ये दोनों प्रदेश भिन्न हैं। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में दक्षिणीय देशों के नाम गिनाते-गिनाते लंका और सिंहल के अलग-अलग नाम लिखे हैं। इस प्रकार की विज्ञप्ति होने पर भी जो रूढ़ि चल निकली, उस पर शंका करना अधर्म का चिह्न गिना जाने लगा। इसलिये श्रद्धा-प्रवाह के प्रतिकूल जाने का किसी का साहस न हो सका।

परंतु वह ज़माना अब नहीं रहा। अँगरेज़ी शिक्षा तर्क-वितर्क पर ध्यान देती है। उसी के प्रभाव से अब लंका की स्थिति पर अनेक शंकाएँ उपस्थित की गई हैं। उनका उल्लेख ऊपर किया गया है। हर एक के विषय में जो जो प्रमाण पेश किए गए हैं उनकी जाँच से तो अभी तक यही प्रतीत होता है कि रावणीय लंका का अमरकंटक में होने का दावा दृढ़तर है।

बहुतेरे लोगों की समझ में यह नहीं आता कि लंका पहाड़ के ऊपर कैसे हो सकती है। अमरकंटक के पास सागर कहाँ है? हनूमान् सागर को पार करके लंका को गए थे। थल के

बीच सागर कैसे हो सकता है ? रामेश्वर सागर के तट पर था। वह तो कन्याकुमारी के निकट है। मध्य भारत में क्योंकर आ सकता है ? राम ने सागर में जो सेतु बाँधा था वह कहाँ है ? यद्यपि कई लोगों ने महोबे के कीर्त्ति-सागर, बिलहर के लछमन-सागर और सागर ज़िले के सागर सदरमुकाम और उसके तालाब का हाल जिसके कारण नगर और ज़िले का नाम पड़ा अवश्य सुना होगा, और कदाचित् छत्तीसगढ़ के महासमुद्र नामक तहसील का भी नाम सुना होगा, तथापि उनका ध्यान इस पर पूर्णरूप से आकृष्ट नहीं हुआ कि बड़े जलाशय भी सागर कहलाते हैं। लोग बहुधा सागर के एक ही अर्थ अर्थात् समुद्र का चिंतन कर भ्रम में पड़ जाते हैं। दंडकारण्य इस प्रकार के सागरों से भरा हुआ था। वहाँ अभी तक बड़े बड़े तालाबों की बहुलता है। वस्तुतः दंडक शब्द का शावरी भाषा में अर्थ ही 'जलमय' या 'जलप्लावित' होता है। वही अर्थ जनस्थान का होता है। अमरकंटक की तली में आज तक एक बड़ा भारी दल-दल है जिसको कोई पार नहीं कर सकता। मध्य प्रदेश के प्रथम चीफ़ कमिश्नर ने कोई साठ वर्ष पूर्व हाथी पर चढ़ कर कुछ दूर जाने का प्रयत्न अवश्य किया था, परंतु हाथी धँस जाने से उक्त साहब बहादुर को कष्ट सह कर वापिस आना पड़ा। इस पर से सरलता से अनुमान किया जा सकता है कि राम के समय में वहाँ पर पानी का कितना भारी संग्रह रहा होगा। उसको यदि सागर की उपमा दी गई रही हो तो कौन-सी असंभव बात है ! आजकल के लोग भी अमरकंटक की चोटी पर चढ़ कर नीचे की ओर जब दृष्टिपात करते हैं तो सोनभद्र के जल पर नज़र पड़ते ही सहसा उनके मुखों से निकल पड़ता है—यह कौन समुद्र भरा है। सोनभद्र इसी अमरकंटक से निकला है; वहीं से

नर्मदा का भी निकास है। परंतु नर्मदा नव-वधू के समान अपना कोश छिपाए हुए है। सोन मानों बरात सजाकर अपने वैभव की प्रदर्शिनी करता है।* अस्तु, अमरकंटक के किनारे का जलाशय ही सागर या महासागर था जिसको तैरकर (या काव्य की भाषा में कूदकर) हनूमान् लंकापुरी को पहुँच गए थे और अंत में राम ने इसी पर सेतु बाँधकर अपने वानरों की सेना का रावण की राजधानी में प्रवेश करवाया था। इस स्थल में शिव के मंदिरों की बहुतायत है। कई एक तो बिलकुल टूट-फूट गए हैं, केवल विशाल लिंग एकाकी खड़े यत्र तत्र दृष्टिगोचर होते हैं। राम के ज़माने में लंका-तटस्थ जलाशय का विस्तार सौ योजन बतलाया गया है, परंतु शत योजन शब्द ही अनुमान का संकेत करता है। उससे इतना ही बोध होता है कि उसका विस्तार अन्य तालाबों से बड़ा था। कई समीपस्थ स्थानों के नामों से भी समर्थन होता है कि लंका यहीं पर थी। यथा अमरकंटक के दक्षिण में अब तक लवन नामक परगना है जिसकी भूमि आस-पास की भूमि से नीची है। प्राचीन काल में बहुत नीची संभवतः पानी से भरी हो। प्राचीन लेखों में लंका की स्थिति लवण सागर में बतलाई गई है। इस पर से प्रश्न उठता है कि वर्तमान लवन की स्थिति क्या केवल आकस्मिक है या प्राचीन कालिक याथा तथ्य की स्मारक है? पुनः इसी प्रांत में "लक्ष्मणेश्वर" नामक शिवालय खरौद गाँव में विद्यमान है। कहा जाता है कि वहाँ खर दूषण से युद्ध हुआ था। लक्ष्मणेश्वर के मंदिर

---

* स्मरण रहे कि एक पौराणिक कथा के अनुसार नर्मदा तथा सोन का विवाह होनेवाला था, परंतु कुछ अनबन होने के कारण पूरा नहीं हो पाया।

के अस्तित्व से यह सहज भावना उत्पन्न होती है कि उसके आस पास रामेश्वर मंदिर भी कहीं रहा होगा। उसको स्थल पर होना चाहिये जहाँ पर राम ने सेतु बाँधने का काम आरंभ किया था। कालांतर में सेतु तथा जलाशय आदि के मिट जाने पर क्या मंदिर का मिट जाना कोई आश्चर्य्य की बात है ? रामायणी कथा-प्रसंग का मनन करने से जान पड़ता है कि सागर नामक एक स्थानीय सरदार भी था। इसके बीच में भी एक टापू था जहाँ पर वह संभवतः रहता था। सागर ने राम-सेना के उतरते समय रोक-टोक की थी, परंतु जब राम ने उसके विध्वंस कर डालने की धमकी दी तब वह सीधा हो गया। इस प्रकार से साधारण लोगों की शंकाओं का समाधान हो सकता है।

अब उन बातों की चर्चा करना अभीष्ट जान पड़ता है जिनके आधार पर ऊपर वर्णित नवीन कल्पना का जन्म हुआ है। मानव-शास्त्रवेत्ताओं का मत है कि आर्य लोगों ने वायव्य की ओर से इस देश में प्रवेश किया और ज्यों ज्यों वे आगे बढ़ते गए त्यों त्यों वे जंगली मूलनिवासियों को हटाते गए। जान पड़ता है कि रामचंद्र के होने तक उन्होंने विंध्य के उत्तरीय प्रांतों तक अपना अधिकार जमा लिया था। इसके पश्चात् उन्होंने आगे बढ़ने का विचार किया और मार्ग खोलने के लिये विंध्य के पार निबिड़ जंगलों में ऋषि-मुनियों को मिशनरियों की भाँति भेजना आरंभ किया, परंतु मूलनिवासियों ने इसको अपने अधिकार पर आक्रमण समझा, इसलिये वे उनको अनेक प्रकार के कष्ट पहुँचाने लगे और बहुतेरों को उन्होंने मार भी डाला। जब रामचंद्र ने दंडकारण्य में प्रवेश किया तो उनको अनेक ऋषियों की हड्डियों के ढेर दिखलाए गए और सुझाया गया कि यह सब जंगली लोगों का काम था जिनको

कि वे लोग राक्षस कहते थे। इसमें उनके राजा की भी संमति थी। उस समय यह राजा रावण था और अपने राज्य के पर्वतों की सबसे ऊँची चोटी पर रहता था। इस प्रांत में आज तक गोंडों की बहुतायत है जिनका रावण से संबंध अभी तक विस्मृत नहीं हुआ। गोंड बिलकुल अशिक्षित प्रायः जानवरों की समता की जाति है, इसलिये उनको अब यह नहीं मालूम कि रावण कौन था, परंतु वंश-परंपरा की रूढ़ि-द्वारा इतना जानते हैं कि वे रावण-वंशी हैं। सन् १८९१ ईसवी की जनसंख्या के समय प्रत्येक जाति की आंतरिक पंक्तियों के भी नाम लिखे गए थे, उस समय लाखों गोंडों ने अपने को रावण-वंशी बतलाया था। आज भी कोई जाकर पूछे तो यही बात बताते हैं। खीष्टीय १३ वीं १४ वीं शताब्दी में ये गोंड लोग मौक़ा पाकर मध्य-प्रदेश के राजा बन बैठे थे। इनका आधिपत्य तीन-चार सौ वर्षों तक स्थिर रहा। इस राजघराने में सबसे प्रतापी राजा संग्रामसिंह हुआ जिसके सोने के सिक्कों में उसके नाम के आगे पौलस्त्यवंश खुदा मिलता है। इससे स्पष्ट है कि यद्यपि संग्रामशाह ब्राह्मण मंत्रियों और कार्यकर्त्ताओं से घिरा हुआ था जिन्होंने उसे क्षत्रियों में शामिल कर लिया था तथापि उसने अपने यथार्थ वंश के नायक का तिरस्कार नहीं किया। और अपनी वंशसूचक पदवी को स्थिर रक्खा। इतनी बात जानकर चित्रकूट छोड़ने पर राम की वनचर्य्या पर मनन करने की आवश्यकता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सीता का हरण अमरकंटक के आस-पास के प्रांत में हुआ और उसी के निकट अंत में राम-रावण का युद्ध हुआ। राम ने गोंडों के विपक्षी उराँवों और शवरों को अपने पक्ष में कर लिया और उनकी सहायता से विजय पाई। यही उराँव प्राचीन काल में वानर कहलाते थे। शवरों की कदाचित् ऋक्ष

संज्ञा रही हो। ये दोनों अभी तक अमरकंटक के आस-पास पाए जाते हैं। शवरों की संख्या अब प्रायः छः लाख और उराँवों की नव लाख है। रामायण के पढ़ने से स्पष्ट देख पड़ता है कि राम ने इस संसार में नर-लीला की अर्थात् जिस प्रकार साधारण मनुष्य काम-काज करते हैं उसी प्रकार उन्होंने भी किया। यथा जब वे अयोध्या से चले तो उनके मुक़ाम प्रतिदिन पंद्रह-बीस मील की दूरी पर होने लगे। उन्होंने यह नहीं किया कि अयोध्या से एकदम उड़ान मार कर अपनी दैवीशक्ति से एक ही दिन में चित्रकूट पहुँच जाएँ। इसी प्रकार जब वे चित्रकूट से आगे बढ़े तो मामूली मंज़िलें तय करते हुए पंचवटी पहुँचे जहाँ सीता का हरण हुआ। जब वे सीता की खोज में निकले तब भी वही क्रम रहा। ऐसा कहीं नहीं पाया जाता कि वे दिन में सौ सौ मीलों की छलाँगें भरने लगे हों। इस बात को ध्यान में रख कर अब हमको जाँचना चाहिये कि वाल्मीकीय रामायण में बतलाए हुए स्थानों को अतिक्रमण कर किष्किंधा पहुँचने तक रामचंद्र की पार्टी दंडकारण्य के किस भाग तक पहुँची होगी। रामायण में एक स्थान से दूसरे स्थान तक की दूरी भी कहीं-कहीं लिखी मिलती है। इससे और भी निश्चयात्मक बोध होता है।

चित्रकूट छोड़ने पर श्रीरामचंद्र जी सबसे पहले महर्षि अत्रि के आश्रम को पहुँचे। चित्रकूट के पास इनका आश्रम अब भी प्राचीन नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ के तपस्वियों ने राम को सावधान करते हुए दंडक वन में जाने का सुगम मार्ग बतलाया। तब वे कई ऋषियों के आश्रमों को देखते मरणप्राय शरभंग के आश्रम में पहुँचे, वहाँ उनको निकटवर्ती सुतीक्ष्ण के आश्रम में जाने की सलाह दी गई और चेतावनी कर दी गई कि लंका से लेकर चित्रकूट तक राक्षसों का बड़ा उपद्रव है। सुतीक्ष्ण के

आश्रम में पहुँचकर राम वहाँ कुछ दिन रहे और फिर इधर-उधर कई वर्षों तक घूम कर वहीं आगए। पश्चात् वे वहाँ से चार योजन की दूरी पर अगस्त्य के भाई के आश्रम को गए, फिर वहाँ से अनतिदूर अगस्त्य के आश्रम को जाकर उन्होंने अपने रहने योग्य स्थान का पता लगाया। अगस्त्य ने अपने आश्रम से दो योजन पर गोदावरी नदी के तट पर पंचवटी स्थान बताया। वहाँ पर कुटी बनाकर राम की पार्टी रहने लगी। यहीं से सीता जी को रावण हर ले गया। पंचवटी से थोड़ी दूर पर जटायु ने रावण को रोका परंतु उसने गृद्ध के पंख काट डाले और पंपा सरोवर से होते हुए सागर को लाँघ कर वह ठेठ लंका को जा पहुँचा।

राम और लक्ष्मण जब सीता की खोज में निकले तो तीन कोस की दूरी पर क्रौंचारण्य में पहुँचे। उसे पार कर पूर्व की ओर मुड़ने पर एक घोर वन मिला। फिर वे एक भयंकर खोह में होकर महारण्य में घुसे। वहाँ कबंध राक्षस मिला। उसने बताया कि यहाँ से दक्षिण को ओर पंपा सरोवर के तट पर ऋष्यमूक पर्वत है; उस पर सुग्रीव नामक बंदर रहता है। उससे पूछने से सीता जी का पता चल जाएगा। तब वे पंपा की ओर चले। वहाँ पर शबरी मिली। यह स्थान पहले मतंगऋषि का आश्रम था। उसके पूर्व में ऋष्यमूक पर्वत था जहाँ पर सुग्रीव से भेंट हुई। इसके निकट ही किष्किंधा थी जहाँ सुग्रीव का भाई बालि रहता था।

चित्रकूट छोड़ने पर जितने स्थलों के नाम बतलाए गए हैं, उनकी स्थिति निश्चयपूर्वक स्थिर नहीं हुई है। तथापि रामायण में जो दूरी का हिसाब बताया गया है उससे प्रकट होता है कि चित्रकूट से सुतीक्ष्ण का आश्रम प्रायः ३० मील था और वहाँ से

पंचवटी लगभग ४८ मील पर थी। इस प्रकार चित्रकूट से किष्किंधा १०० मील से अधिक दूरी पर न थी। यदि वर्तमान रूढ़ि के अनुसार किष्किंधा निज़ाम के राज्य के दक्षिणीय अंतिम छोर पर मानी जाए तो पंचवटी से सीधी रेखा में उसका फ़ासला लगभग ४०० मील पड़ता है, चाहे आप नासिक की पंचवटी को मानें, चाहे बस्तर की पर्णशाला को मानें। ढूँढ़ते भटकते हुए लोगों को अनगुंडी तक पहुँचते हुए कम से कम एक महीना तो अवश्य लग जाना चाहिए, परंतु रामायण से व्यक्त होता है कि राम से सुग्रीव की भेंट होने में आधा भी समय नहीं लगा। पुनः वाल्मीकि रामायण ही में नर्मदा नदी को किष्किंधा के दक्षिण में बतलाया है। परंतु अनगुंडी से नर्मदा नदी ४०० मील उत्तर में है। इन बातों से स्पष्ट लख पड़ेगा कि सुग्रीव का स्थान दूर से दूर बिलासपुर में था। इस ज़िले में केंदा नाम की एक पुरानी ज़मींदारी है। संभव है कि यह किष्किंधा का लघु स्वरूप हो। इसके सिवाय अनेक स्थान मिलते हैं जो प्राचीन ऋषि-आश्रमों के स्मारक हैं यथा मातिन जहाँ आज भी जंगली हाथी मिलते हैं। मतंग ऋषि का आश्रम यहीं ज्ञात होता है। कदाचित् मतंगों की बहुतायत से ही यहाँ के ऋषि का नाम मतंग पड़ गया हो।

इन्हीं स्थलों के आसपास उराँव=वनराँव=वानर जाति की बहुलता है जिसके मुखिया सुग्रीव थे। अनगुंडी के आसपास वानर जाति का लेशमात्र भी पता नहीं है। इस प्रकार चित्रकूट और अमरकंटक के बीच में सभी बातें ऐसी जम जाती हैं कि राम की नर-लीला में कोई बाधा नहीं आती और उन जातियों का भी पता लग जाता है जो राम और रावण की सहायक थीं। एक समस्या अलबत्ता रह जाती है जो चित्त को क्षुब्ध करती है।

यद्यपि उससे रावणी लंका की स्थिति में कोई विशेष आपत्ति नहीं आती। वह यह है। जिस पंचवटी से सीता का हरण हुआ वह कहाँ है? रामायण से ज्ञात होता है कि वह गोदावरी के किनारे थी। प्रख्यात गोदावरी, जो मध्यप्रदेश और निजाम के राज्य के बीच सीमा बनाती चली गई है वह, चित्रकूट और अमरकंटक के दक्षिण में सैकड़ों मील दूर है। उसकी स्थिति नूतन कल्पना के अनुसार चित्रकूट और अमरकंटक के बीच में होनी चाहिए। निस्संदेह इन स्थलों के बीच गुप्त गोदावरी नामक एक नदी अवश्य है परंतु वह चित्रकूट से दस-बारह ही मील पर है। परंतु रामायण के अनुसार उसको चित्रकूट से कोई ७८ मील की दूरी पर होना चाहिये। अभी तक कोई तीसरी गोदावरी का पता नहीं चला। परंतु इसका भी समाधान हो जाता है, जब हम देखते हैं कि द्राविड़ी जंगली लोग नदी को 'गोदारि' कहते हैं। केवल इतना इंगित कर देते हैं कि जिसके बारे में पूँछ-ताँछ की गई है वह 'नदी' है। इसलिये गोदारि का अर्थ हुआ 'नदी' जिसको आर्यों ने व्यक्तिवाचक समझ कर साधु भाषा में गोदावरी कर डाला। इसी प्रकार राम को भी कोई स्थल बतलाया गया होगा जो किसी नदी के किनारे था और जिसे स्थानीय लोग गोदारि कहते थे। लेखक के हाल के अनुभव से ज्ञात होता है कि वे बातें जिनका हम समझते हैं लोप हो गया है अकस्मात् उभड़ पड़ती हैं। लेखक एक गाँव गया। गाँव पहुँचने पर किसान भी संग हो लिए। नर्मदा के किनारे पहुँच कर प्रश्न किया गया कि सन् १९२६ ई० का पूर कहाँ तक आया था। एक किसान ने तुरंत उत्तर दिया 'लंका तक।' हम लोग आश्चर्यान्वित होकर पूछने लगे 'लंका कहाँ है?' उसने झट एक टीले की ओर इंगित किया। तब हम सब लोग वहाँ गए और उस टीले

को देखा तो वह सबसे ऊँचा था और चारों ओर सूखे नाले थे। लेखक ने पूछा, इसको लंका क्यों कहते हैं ? क्या यहाँ कभी रामलीला हुई थी ? उत्तर मिला, "नहीं साहब, ऐसे ऊबड़-खाबड़ जंगल में रामलीला कैसे हो सकती है। यह नाम पुराना है। ऐसे ऊँचे टीलों को 'लंका' ही कहते हैं।"

लेखक ने अयोध्या, प्रयाग, चित्रकूट, अमरकंटक, बस्तर की पर्णशाला, नासिक, अनगुंडी, रामेश्वरम्, धनुषकोटि, और सिंहलद्वीप को स्वयं देखा है। और रूढ़िगत राम-मार्ग का भी मनन किया है और उसके अनुसार रावण की राजधानी को सिंहलद्वीप के पोलन नरुआ (प्राचीन पोलस्त्य नगर) में भी स्थिर करने का प्रयत्न किया है। परंतु इसके पश्चात् अमरकंटक की बात संमुख आने पर पौराणिक और स्थानीय खोज के आधार से उसको प्रतीत होता है कि राम और रावण का युद्ध अमरकंटक की चोटी पर हुआ। एक ओर गोंड सेना और दूसरी ओर उराँव और शबरों की मुठभेड़ हुई। अंत में राम की जीत का डंका बजा जिसके द्वारा उभय कोशलों में रघुवंशी राज्य स्थिर हो गया।

संतमत और कबीर

संतमत क्या है ? तत्त्वज्ञाता गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं—'मधुकर सरिस संत गुन ग्राही,' 'संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार'। इसी की प्रतिध्वनि हम मौलाना रूम की इस शेर में सुनते हैं—'मन ज़ कुरआं मग्ज़ राबर दाश्तम्। उस्तख़ाँ पेशे सगाँ अदाख़्तम्'। मैंने कुरान से मग़ज़ ले लिया और हड्डी कुत्तों के सामने डाल दी। आँखवालों के लिये पेड़

का एक पत्ता भेदों से भरा है। जिसमें विवेक बुद्धि नहीं, उसके लिये संसार के समस्त धर्म्मग्रंथों में भी सार नहीं। धर्म्म के साधनों को आडंबर कहकर हम उनसे घृणा कर सकते हैं; परंतु तत्त्वज्ञ की दृष्टि उसके तत्त्व को नहीं त्याग करती। विवेकशील कीचड़ में पड़े रत्न को भी ग्रहण करते हैं, कीचड़ में लिप्त होने के कारण उसे अग्राह्य नहीं कहते।

कबीर साहब ने एक शब्द में कहा है, कि जिनके जी में नाम नहीं बसा है उनके पुस्तक पढ़ने, सुमरनी लेने, माला पहनने, शंख बजाने, काशी में बसने, गंगा-जल पीने, व्रत रखने, तिलक देने से क्या होगा ? ऐसे शब्दों को पढ़कर लोग यह समझते हैं कि इनमें पढ़ने इत्यादि का खंडन है। किंतु वास्तव में ये शब्द खंडनात्मक नहीं हैं। इसी शब्द को देखिए; इसमें कहा है कि जिनके जी में नाम नहीं बसा है; अर्थात् परमात्मा की भक्ति करना या धर्म्म करना जिनका उद्देश्य नहीं है, उनके पुस्तक इत्यादि पढ़ने से क्या होगा ? सिद्धांत यह कि पुस्तक पढ़ना, माला पहनना, सुमरनी लेना इत्यादि धर्म्म के साधन हैं। धर्म्म के उद्देश्य से यदि यह सब क्रियायें की जायें, तब तो ठीक है, उचित है। किंतु इनको धर्म्मसाधन के स्थान पर अधर्म्म का साधन बना दिया जाय; इनके द्वारा लोगों को ठगा जाय; छल-प्रपंच किया जाय, पेट पाला जाय, तो इन कर्म्मों के करने से क्या होगा ? समस्त हिंदू-शास्त्रों का यही सिद्धांत है। कबीर साहब ऐसे शब्दों में यही कहते हैं। किंतु वे कभी कभी ऐसा भी कहते हैं कि 'जोग, यज्ञ, जप संयमा तीरथ व्रत दाना' झूठे का बाना है; परंतु यह उनका गौण विचार है। यदि योग का खंडन उनको अभीष्ट होता, तो व्यापक भाव से इसे परमात्मा की प्राप्ति का साधन वे न बतलाते। इसी प्रकार आप संयम

और दान आदि का गुणगान देखेंगे। इन सब विषयों में कबीर साहब की विचार परंपरा सर्वांश में हिंदू-भावापन्न है। किंतु चौरासी अंग की साखी में उन्होंने "तीरथ व्रत का अंग" और "मूरत पूजा का अंग" शीर्षक देकर इन सिद्धांतों का खंडन किया है। उनको अस्फुट रीति से हिंदू मुसलमानों के कतिपय छोटे मोटे धर्म्म साधनों पर भी आक्रमण करते देखा जाता है। मैं इनमें से कतिपय विषयों को लेकर देखना चाहता हूँ, कि वास्तव में इनमें कुछ तत्त्व है या नहीं। यह कहा जा सकता है कि कबीर साहब ने हिंदू मुसलमानों के अनेक सिद्धांतों में से जिनमें अधिक तत्त्व देखा उनको ग्रहण कर लिया; शेष को छोड़ दिया। इस विषय में उन्होंने तत्त्वज्ञता ही का परिचय तो दिया है। किंतु निवेदन यह है कि उन्होंने उनको छोड़ा ही नहीं उनका खंडन भी किया है; उनको निस्सार बतलाया है; अतएव मैं यही देखना चाहता हूँ कि वास्तव में उनमें कुछ सार या तत्त्व है या नहीं। तीर्थ के विषय में वे कहते हैं—

तीरथ गए ते वह मुये जूड़े पानी न्हाय।
कह कबीर संतो सुनो राक्षस ह्वै पछिताय॥
तीरथ भई विष बेलरी रही जुगन जुग छाय।
कविरन मूल निकंदिया कौन हलाहल खाय॥

क्या वास्तव में तीर्थ जाने से राक्षस होना पड़ता है? क्या वास्तव में यह विष की बेलि है? क्या उनका सेवन हलाहल खाना है? क्या कबीर-पंथियों की भाँति उसकी जड़ ही काट देनी चाहिये? किंतु हम देखते हैं कि "कविरन ने भी उसकी जड़ नहीं काटी।" काशी का कबीर चौरा और मगहर कभी तीर्थ स्थान नहीं थे; किंतु कबीर-पंथियों ने ही आज इन्हें तीर्थ-स्थान बना दिया। क्यों? इसलिये कि एक में उनके गुरू का जन्म-

स्थान है, और दूसरे में उनके तपोमय हृदय को ज्योतिर्मय बनानेवाले किसी महापुरुष का स्मृति-चिह्न है। वहाँ आज भी उनके संप्रदाय के विज्ञानी और विचारवान् पुरुष समय समय पर पधारते रहते हैं; जिनसे उनके पंथ का जीवन है। वहाँ पहुँचने पर प्रायः उनके सत्संग का सौभाग्य प्राप्त होता है; जिससे हृदय का कितना तम विदूरित होता है। और पहुँचनेवाले को वे अवसर प्राप्त होते हैं; जो उन्हें घर बैठे किसी प्रकार प्राप्त न होते। वे वर्ष में एक बार उस पंथ के महात्माओं के मिलन के केंद्र हैं, जो एकत्र होकर न केवल विचार-परिवर्तन करते हैं, वरन् अपने पंथ को निर्दोष बनाने के विषय में परामर्ष करते हैं, और यह सोचते हैं कि किस प्रकार उसको समुन्नत और सुश्रृंखल बनाया जाय। ऐसे अवसर पर जनसाधारण को और उनके पंथ के लोगों को उनके द्वारा जो लाभ पहुँचता है, वर्ष में फिर कभी वैसा अवसर हाथ नहीं आता। इनमें कौनसी बात बुरी है कि जिसके लिये इन स्थानों के उत्पन्न करने की आवश्यकता समझी जाए, या उनको विष हलाहल कहा जाय? संपूर्ण तीर्थों का उद्देश्य यही तो है? किसी महान् उद्योग या धर्म्म-संघट्ट का कार्य्य उस समय तक कदापि उत्तमता से नहीं हो सकता जब तक कि उसके लिये कुछ स्थान प्रधान-केंद्र की भाँति न नियत किए जायँ। तीर्थ ऐसे ही स्थान तो हैं। संसार में कौन जीवित जाति और सप्राण धर्म्म हैं जो अपने उन नायकों और पथ-प्रदर्शकों की जन्म-भूमि अथवा लीला-क्षेत्र या तप-स्थान को आदर-सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता? उनकी सजीवता और सप्राणता की जड़ वही वसुंधरा की रज तो है फिर उनमें उनकी प्रतिष्ठा-वृद्धि क्यों न होगी? जिस दिन यह प्रतिष्ठा-वृद्धि उनके हृदय से लुप्त होगी, उसी दिन उनकी सजीवता

और सप्राणता लोकांतरित होगी; क्योंकि उनमें परस्पर ऐसा ही घना संबंध है, यदि इसमें देशाटन की उपकारिता मिला दी जाय तो उसका महत्त्व और भी अधिक हो जाता है। फिर तीर्थों के रसातल पहुँचाने का क्या अर्थ? तीर्थ के उद्देश्यों के समझने में जन-समुदाय का भ्रांत हो जाना संभव है; तीर्थों का कतिपय अविवेकियों के अकांड तांडव से कलुषित और कलंकित हो जाना भी असंभव नहीं; परंतु इन कारणों से तीर्थों को ही नष्ट कर देना समुचित नहीं अन्यथा संस्कारों की समाज को आवश्यकता ही क्या?

जो शुद्धात्मा हैं, तीर्थ का यथोक्त फल उन्हीं को मिलता है। परंतु पापी जन का पाप भी तीर्थ में शमन होता है। पापियों को वहाँ सत्संग का, ज्ञानार्जन का, विचार-परिवर्तन का अवसर मिलता है। इसलिये उनके पाप की निवृत्ति क्यों न होगी? किंतु भाव दुष्ट न होना चाहिये।

तीर्थ में तीर्थ करने के उद्देश्य से जाना चाहिये; फिर फल की प्राप्ति क्यों न होगी? हाँ! जिसकी चित्तवृत्ति ही पाप की ओर हो, उसको लाभ कैसे होगा? ऐसे पुरुष के लिये कोई भी सद्वस्तु उपकारक नहीं हो सकती। जल संसार का जीवन है। उसे यदि कोई अनुचित रीति से पीकर अथवा व्यवहार करके प्राण दे दे, तो इसमें जल का क्या दोष? उसके ऐसा करने से जल निंदनीय नहीं ठहराया जा सकता। प्रत्येक पदार्थ का उचित व्यवहार ही श्रेयस्कर होता है। तीर्थ के विषय में भी यही बात कही जा सकती है और यही तत्त्वज्ञता है। अब मूर्ति-पूजा को लीजिए। कबीर साहब कहते हैं:—

पाहन पूजे हरि मिलैं तो मैं पूजूँ पहार।
ताते यह चाकी भली पीस खाय संसार॥

पाहन केरी पूतरी करि पूजा करतार।
वाहि भरोसे मत रहो बूड़ो काली धार॥

अब मैं यह देखूँगा कि क्या वास्तव में मूर्ति-पूजा में कुछ तत्व नहीं है। मुसलमान धर्म्म का अनुसरण ही कबीर साहब ने इस विषय में किया है।

उत्तमं ब्रह्म सद्भावो मध्यमं ध्यानधारणा।
स्तुतिप्रार्थनाधमाज्ञेया वाह्यपूजाधमाधमा॥

ब्रह्म सद्भाव उत्तम, ध्यान धारणा मध्यम, स्तुति-प्रार्थना अधम और बाह्यपूजा अर्थात् किसी मूर्ति इत्यादि को सामने रखकर उपासना करना अधमाधम है। भागवत ऐसा परम वैष्णव ग्रंथ कहता है "प्रतिमा अल्पबुद्धीनाम्" "सर्वत्र विजितात्मनाम्"। प्रतिमा अल्पबुद्धियों के लिये है? क्योंकि विजितात्माओं के लिये परमात्मा सर्वत्र है। प्रतीक-उपासना का आभास वैदिक और दार्शनिक काल में मिलता है। किंतु प्रतिमा-पूजा बौद्धकाल और उसके परवर्त्ती काल से हिंदुओं में केवल समाज की मंगल-कामना से गृहीत हुई है। जो और साधनाओं द्वारा परमात्मा की उपासना नहीं कर सकता, उसके लिये ही प्रतिमा-पूजन की व्यवस्था है। यदि विद्वानों और ज्ञानियों को प्रतिमा-पूजन करते देखा जाता है, तो उसका उद्देश्य लोकसंरक्षण-मात्र है, क्योंकि बुद्धिभेद, सर्वसाधारण को भ्रांत कर सकता है। भारतवर्ष के धर्म्म-नेताओं ने हिंदू धर्म्म के प्रधान और व्यापक सिद्धांतों पर आरूढ़ होकर सदा इस बात की चेष्टा की है कि धर्म्मांधता से किसी तत्त्व का तिरस्कार न हो। यदि कोई कार्य सद्बुद्धि और सदुद्देश्य से किया जाता है, तो उस पर उन्होंने बलात् दोषारोपण करना उचित नहीं समझा। वे समझते थे कि संसार में समस्त मानव ही समान विचार के

नहीं हैं। वे देखते ही थे कि बुद्धि का तारतम्य स्वाभाविक है; इसीलिये उन्होंने अधिकारी भेद स्वीकार किया। उन्होंने उन सोपानों को नहीं तोड़ा जो ऊँचे चढ़ने के साधन हैं; किंतु यह अवश्य देखा कि किस सोपान पर चढ़ने का अधिकारी कौन है। उन्होंने विभिन्न विचारों, नाना आचार-व्यवहारों और अनेक उपासना-पद्धतियों का सामंजस्य स्थापित किया; अनेक में एक को देखा; विरोध में अविरोध की महिमा दिखलाई; और दूसरों की अभावमयी वृत्ति को भावमयी बना दिया। उनको अनेक कंटकाकीर्ण पथों में चलना पड़ा, उनके सामने अनेक भयंकर प्रवाह आए, उन्होंने सामयिक परिवर्तनों की रोमांचकारी मूर्त्तियाँ देखीं, उन्होंने अनार्यों की अभद्र कल्पनायें। अवलोकन कीं, किंतु सब को सहानुभूति के साथ आलिंगन किया, और सब में उसी सर्वव्यापक की सत्ता स्थापित की। असाधारण प्रतिभावान् विद्वान् श्रीयुत बाबू रवींद्र-नाथ ठाकुर ब्रह्मसमाजी हैं, प्रतिमापूजक नहीं; किंतु वे क्या कहते हैं, सुनिये—

"विदेशी लोग जिसे मूर्त्तिपूजा या बुतपरस्ती कहते हैं, उसे देखकर भारतवर्ष डरा नहीं। उसने उसे देख कर नाक भौं नहीं सिकोड़ी। भारतवर्ष ने पुलिंदशबर व्याध आदि से भी वीभत्स सामग्री ग्रहण करके उसे शिव (कल्याण) बना लिया है—उसमें अपना भाव स्थापित कर दिया है—उसके अंदर भी अपनी आध्यात्मिकता को अभिव्यक्त कर दिखाया है। भारत ने कुछ भी नहीं छोड़ा, सब को ग्रहण करके अपना बना लिया।"

यही तो तत्त्वज्ञता है, यही तो धार्म्मिकता है। कबीर साहब किसी मुल्ला को मसजिद में बाँग देते देखते हैं तो कहते हैं—

"कांकर पाथर जोरि कै, मसजिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे क्या बहिरा हुआ खुदाय॥"

परंतु क्या मुल्ला के बाँग देने का यही अभिप्राय है कि वह समझता है कि बिना गला फाड़कर चिल्लाये खुदा उसकी प्रार्थनाओं को न सुनेगा? यह तो उसका अभिप्राय नहीं है। उसकी बाँग का तो केवल इतना ही अर्थ है कि वह बाँग द्वारा अपने सहधर्म्मियों को ईश्वरोपासना का समय हो जाने की सूचना देता है, और उनको ईश्वर की आराधना के लिये सावधान करता है। फिर उस पर यह व्यंग करना कि खुदा बहरा है जो वह इतना चिल्लाता है, कितना असंगत है।

परमहंस रामकृष्ण का पवित्र नाम भारत में प्रसिद्ध है। आप उन्नीसवीं शताब्दी के भारतभूमि के आदर्श महात्मा हैं।

सुविख्यात विद्वान् और दार्शनिक श्रीयुत मैक्समूलर ने एक स्थान पर कहा है—"यदि कहीं एकाधार में ज्ञान और भक्ति का समानरूप से विकास दृष्टिगत हुआ, तो परमहंस रामकृष्ण में"। ऐसे महापुरुष पर बाँग का अद्भुत प्रभाव होता था। जब कभी इस महात्मा के कानों में पवित्र गिर्जाघरों के उपासनाकालिक घंटों की लहर, या पुनीत मंदिरों में ध्वनित शंखों का निनाद, या पाक मसजिद से उठी मुल्ला की बाँग पड़ती, तो इस प्रबलता से उनके हृदय में भक्ति का उद्रेक होता कि राह चलते समाधि लग जाती। क्यों ऐसा होता? इसलिये कि उनको उस ध्वनि, निनाद और बाँग में ईश्वर-प्रेम की एक अपूर्व धारा मिलती।

कबीर साहब कहते हैं—

हिंदू एकादसि चौबिस रोजा मुसलिम तीस बनाये।
ग्यारह मास कहो किन टारौ ये केहि माँहि समाये॥

पूरब दिशि में हरि को बासा पश्चिम अलह मुकामा।
दिल में खोजि दिलै में देखो यहै करीमा रामा॥
जो खोदाय मसजिद में बसत है और मुलुक केहिकेरा।

हिंदुओं की चौबीस एकादशी और मुसल्मानों के तीस रोज़ा का यह अर्थ नहीं है कि ऐसा करके वे शेष ग्यारह महीनों को व्यर्थ सिद्ध करते हैं। यदि कोई बराबर तीन सौ साठ दिन अपना धर्म्मकृत्य नहीं कर सकता, या यदि कुछ ऐसे धर्म्मकृत्य हैं जो लगातार तीन सौ साठ दिन नहीं हो सकते, तो उनके लिये यदि कुछ विशेष दिन नियत किए जायँ, तो क्या युक्ति-संगत नहीं? यदि हिंदू पूर्व मुख और मुसल्मान पश्चिम मुख बैठकर उपासना करता है, तो इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वह परमात्मा का ध्यान हृदय में नहीं करना चाहता। उपासना-काल में उसे किसी मुख बैठना ही पड़ेगा। फिर यदि उसने किसी मुख्य दिशा को उपासना सुलभ करने के लिये नियत कर ली तो इसमें क्षति क्या? मसजिद, मंदिर या गिर्जा बनाने का यह अर्थ नहीं है कि ऐसा करके सर्वस्थल-निवासी परमात्मा की व्यापकता अस्वीकार की जाती है, उपासना की सुकरता ही उनके निर्माण का हेतु है। जो सर्वव्यापक भाव से उपासना नहीं कर सकता, उसके लिये स्थान-विशेष नियत कर देना क्या अल्पज्ञता है? धर्म्मकृत्यों के पुनीत दिनों को छोड़ दीजिए, उपासना के लिये कोई समय और पद्धति न नियत कीजिए, मंदिर, मससिद, गिर्जाघरों को तुड़वा डालिए, देखिए देश और समाज का कितना उपकार होता है? वास्तव में इन बातों में कुछ तत्त्व है, तभी यह प्रणाली सर्वसम्मत है। व्यासदेव कहते हैं—

रूपं रूपविवर्जितस्य भवतो ध्यानेन यद्कल्पितम्।
स्तुत्या निर्वचनीयताखिल गुरो दूरीकृता यन्मया॥

व्यापित्वंच निराकृतं भगवतो यत्तीर्थयात्री दिना ।
क्षंतव्यं जगदीश तद्विकलता दोषत्रयं मत्कृतम् ॥

हे परमात्मन् ! तुम अरूप हो, परंतु ध्यान-द्वारा मैंने तुम्हारे रूप की कल्पना की, स्तुति-द्वारा तुम्हारी अनिर्वचनीयता दूर की, तीर्थ-यात्रा करके तुम्हारी व्यापकता निराकृत की, अतएव तुम इन तीनों विकलता (अस्वाभाविकता या असंपूर्णता) दोषों को क्षमा करो। किंतु इतना ज्ञान होने पर भी उन्होंने ध्यान किया, स्तुति और तीर्थयात्रा की, तब तो क्षमा माँगने की आवश्यकता हुई। क्यों ? इसलिये कि उपासना का मार्ग यही तो है। ध्यानधारणा भी सदोष, स्तुतिप्रार्थना भी सदोष, मूर्तिपूजा भी सदोष, फिर परमात्मा की उपासना कैसे हो ? आप कहेंगे कि उपासना की आवश्यकता ही क्या ? ब्रह्म सद्भाव ही ठीक है, जो कि उत्तम और निर्दोष है। परंतु ब्रह्म सद्भाव दस पाँच करोड़ मनुष्यों में भी किसी एक को होता है; फिर शेष लोग क्या करें ? वही ध्यानधारणा, स्तुतिप्रार्थना आदि उनको करनी ही पड़ेगी, चाहे वह सदोष हो; परंतु इसी क्रिया-द्वारा उनको परम पुरुष की प्राप्ति होगी। अध्यापक रेखागणित की शिक्षा के लिये एक रेखा खींचता है, और एक बिंदु बनाता है, और कहता है—देखो यह एक बड़ी रेखा है, और यह एक बिंदु है। परंतु वास्तव में रेखा और बिंदु की परिभाषा के अनुसार न तो वह रेखा है और न वह बिंदु। किंतु उसी कल्पित रेखा और बिंदु के आधार से शिष्य अंत में रेखागणित शास्त्र में पारंगत होता है। इसी प्रकार कल्पित धर्म्म-साधनों से परमात्मा की प्राप्ति होती है। जैसे उस सदोष रेखा और बिंदु का त्याग करने से कोई रेखागणित नहीं सीख सकता, उसी प्रकार धर्म्म के कल्पित साधनों का त्याग करने से, चाहे वह किसी अंश में

सदोष ही क्यों न हो, कोई परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता; और यही तत्त्वज्ञता है।

धर्म्म-ग्रंथों और धर्म्म-साधनों के बंधन से स्वतंत्रता प्रदान मूलक विचार प्यारा लगता है, क्योंकि मनुष्य स्वभाव से स्वतंत्रताप्रिय है। यह बंधन को अच्छी आँख से नहीं देखता। जहाँ तक उसको बंधन छिन्न करने का अवसर हाथ आवे, उतना ही वह आनंदित होता है। किंतु बंधन ही समाज और स्वयं उसकी आत्मा और शरीर के लिये हितकर है। वह आहार-विहार में ही उच्छृंखलता ग्रहण करके देखे, क्या परिणाम होता है। जैसे राज-नियमों का बंधन छिन्न होने पर देश में विप्लव हो जाता है, उसी प्रकार धर्म्म-नियमों का बंधन टूटने पर आध्यात्मिक जगत में विप्लव उपस्थित होता है। अतएव धर्म्म-ग्रंथों और धर्म्म-साधनों को बंधन कहकर उनसे सर्वसाधारण को मुक्त करने की उत्कंठा से उसके तत्त्वों की ओर उनका दृष्टि-आकर्षण विशेष उपकारी है।

मेरा विचार है कि कबीर साहब अंत में वेदांत धर्म्मावलंबी हो गए थे। उनमें विचार की कितनी प्रौढ़ता है। बिना पूर्णतया उस सिद्धांत पर आरूढ़ हुए विचार में इतनी प्रौढ़ता आ नहीं सकती।

वैष्णव और वेदांत धर्म्म दोनों प्रकांड वैदिक-धर्म्म अर्थात् हिंदू-धर्म्म की विशाल शाखायें हैं। यह वही उदार और महान् धर्म्म है कि जिससे वसुंधरा के समग्र पुनीत ग्रंथों ने कतिपय व्यापकों सार्वभौम सिद्धांत का संग्रह करके अपने अपने कलेवर को समुज्जल किया है। कबीर साहब चाहे वैष्णव हों या वेदांती, चाहे संतमत के हों, चाहे अपने को और कुछ बतलावें, किंतु वे भी उस धर्म्म के ऋणी हैं; और उसी के आलोक से उन्होंने अपना प्रदीप प्रज्वलित किया।

श्रीयुत मैक्समूलर जैसे असाधारण विदेशी विद्वान् और श्रीमती एनी बेसंट जैसी परम विदुषी विजातीय महिला ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि हिंदू-धर्म्म के सिद्धांत बहुत ही उदार, व्यापक और सर्व-देशदर्शी हैं। वास्तव में जैसे ही हिंदू धर्म्म के सिद्धांत महान् और गंभीर हैं वैसे ही पूर्ण, सार्वभौम और सार्वजनिक भी हैं। वैशेषिक दर्शन के निम्नलिखित सूत्र जैसी व्यापक और उदात्त परिभाषा धर्म्म की कहाँ मिलेगी ?

"यतोभ्युदयनिःश्रेयः स सिद्धिः स धर्मः" जिससे अभ्युदय और कल्याण अथवा परमार्थ की सिद्धि हो, वही धर्म्म है।

हिंदू धर्म्म को छोड़कर कौन कह सकता है—

अयं निजः परोवेत्ति गणना लघुचेतसाम्।
उदार चरितानांतु वसुधैव कुटुंबकम्॥

यह अपना और यह पराया है, यह लघुचेतसों का विचार है; जो उदारचरित हैं, वसुधा ही उनका कुटुंब है। क्या इससे भी बढ़कर भ्रातृभाव की कोई शिक्षा हो सकती है? हिंदू-धर्म्म इससे भी ऊँचा उठा, उसने भ्रातृभाव में कुछ विभेद देखा; अतएव मुक्तकंठ से कहा—

"आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पंडितः"

मनुष्यमात्र ही को नहीं सर्वभूत की आत्मा को जो अपनी आत्मा के समान देखता है, वही विज्ञ है। एक धर्म्मवाला दूसरे धर्म्म को बाधा पहुँचाकर ही आत्मप्रसाद लाभ करता है, परंतु हिंदू-धर्म्म इसको युक्ति-संगत नहीं समझता।

यद्यदात्मानिचेच्छेत तत्परस्यापिचिंतयेत्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

जो जो अपनी आत्मा के लिये चाहते हो वही दूसरों के लिये भी चाहो, जिसको अपनी आत्मा के प्रतिकूल समझते हो, उसको दूसरों के लिये मत करो। इतना लिखकर मैं आपका ध्यान कबीर साहब की शिक्षाओं की ओर आकर्षित करता हूँ। हिंदू-धर्म्म के उक्त विचारों की सार्थकता तभी है, जब हम लोग भी वास्तव में उनके अनुकूल चलने की चेष्टा करें। यदि हम उन विचारों को सामने रखकर केवल गर्व करते हैं, और उनके अनुकूल आचरण करना नहीं चाहते, तो न केवल हम लोग अपनी आत्मा को कलुषित करते हैं, वरन् लोगों की दृष्टि में अपने शास्त्रों की भी मर्यादा घटाते हैं। कबीर साहब की शिक्षाओं को आप पढ़िए, मनन कीजिए, उनके मिथ्याचार-खंडन के अदम्य और निर्भीक भाव को देखिए, उनकी सत्यप्रियता अवलोकन कीजिए, उनमें आपको अधिकांश हिंदू भावों की ही प्रभा मिलेगी। यदि आपकी रुचि और विचार के प्रतिकूल कुछ बातें उसमें मिलें, तो भी उसे आप देखिए, और उसमें से तत्त्व ग्रहण कीजिए; क्योंकि विवेक-शील सज्जनों का मार्ग यही है। नाना विचार देखने से ही मनुष्य को अनुभव होता है। कबीर साहब भी मनुष्य थे, उनके पास भी हृदय था, कुछ संस्कार उनका भी था; अतएव समय प्रवाह में पड़कर, हृदय पर आघात होने पर संस्कार के प्रबल पड़ जाने पर उनके स्वर का विकृत हो जाना असंभव नहीं। उनका कटु बातें कहना चकित-कर नहीं। किंतु यदि आप उन्हें नहीं पढ़ेंगे, तो अपने विचारों को मर्यादापूर्ण करना कैसे सीखेंगे? वे प्रतिमा-पूजन के कट्टर विरोधी हैं, अवतारवाद को नहीं मानते; परंतु इससे क्या? परमात्मा की भक्ति करना तो बतलाते हैं, आपको ईश्वर-विमुख तो नहीं करते! हिंदू-धर्म्म का चरम लक्ष्य

यही तो है। आपके कुल साधनों को वे काम में लाना नहीं चाहते, न लावें; परंतु जिन साधनों को वे काम में लाते हैं, वे भी तो आप ही के हैं। यह रुचि-वैचित्र्य है। रुचि-वैचित्र्य स्वाभाविक है। हिंदू-धर्म्म उसको ग्रहण करता है, उससे घबराता नहीं। वे वेद-शास्त्र की निंदा करते हैं, हिंदू-महापुरुषों को उन्मार्ग-गामी बतलाते हैं, हिंदू-धर्म्म-नेताओं की धूल उड़ाते हैं, यह सत्य है। परंतु उनके पंथवालों के साथ आप ऐक्य कैसे स्थापन करेंगे? जब तक इन विचारों को न जानेंगे। इसके अतिरिक्त जब वे वेद-शास्त्रों के सिद्धांतों का ही प्रतिपादन करते हैं, हिंदू-महापुरुषों के ही प्रदर्शित पथ पर चलते हैं, हिंदू-धर्म्म-नेताओं की प्रणाली का ही अनुसरण करते हैं, तब उनका उक्त विचार स्वयं एक देशी हो जाता है और रूपांतर से आपकी ही इष्ट-प्राप्ति होती है। विवेकी पुरुष काम चाहता है, नाम नहीं। परमार्थ के लिये वह अपमान की परवाह नहीं करता। वे मिथ्या-चारों का प्रतिवाद तीव्र और असंयत भाषा में करते हैं, परंतु हमें उसे सह्य करना चाहिये, दो विचारों से। एक तो यह कि यदि हमने वास्तव में धर्म्म के साधनों को आडंबर बना लिया है, तो किसी न किसी के मुख से हमको ऐसी बातें सुननी ही पड़ेंगी, दूसरे यह कि यदि ये अधिकांश अमूलक हैं, तो भी कोई क्षति नहीं; क्योंकि देखिए भगवान मनु क्या कहते हैं—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्यैव चाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा॥

ब्राह्मण को चाहिये कि सम्मान से विष के समान बचे, और अपमान की अमृत के तुल्य इच्छा करे।

प्रेम और विरह

सद्गुरु कबीर की एक साखी है—

विरह-अगिन तन-मन जला, लागि रहा ततजीव ।
कै वा जानै विरहिनी, कै जिन भेंटा पीव ॥

विरह की अग्नि से जब स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही शरीर भस्मीभूत हो चुके, तब कहीं इस प्रेम-विभोर जीव का उस परम प्रिय तत्त्व से तादात्म्य हुआ। इस विरहानल-दाह का आनंद या तो विरहिणी ही लूटती है, और या वह सुहागिनी, जिसकी अपने वियुक्त प्रियतम से भेंट हो चुकी है। महात्मा कबीर की एक और साखी विरह-तत्त्व का समर्थन कर रही है—

विरहा कहै कबीर सों, तू जनि छाँड़ै मोहि ।
पारब्रह्म के तेज में, तहाँ ले राखौं तोहि ॥

इसमें संदेह नहीं, कि आत्यंतिक विरहासक्ति ही प्रेम की सब से ऊँची अवस्था है। प्रेम की परिपुष्टि विरह से ही होती है, विरह एक तरह का पुट है। बिना पुट के वस्त्र पर रंग नहीं चढ़ता। सूरदासजी ने क्या अच्छा कहा है—

ऊधो, विरहा प्रेम करै ।
ज्यों बिनु पुट पट गहै न रंगहि, पुट गहे रसहि परै ॥

जब तक घड़े ने अपना तन, अपना अहंकार नहीं जला डाला, तब तक कौन उसके हृदय में सुधा-रस भरने आएगा? विरहाग्नि में जलकर शरीर मानों कुंदन हो जाता है। मन का वासनात्मक मैल जलाकर उसे विरह ही निर्मल करता है—

विरह-अगिन जरि कुंदन होई । निर्मल तन पावै पै सोई ॥

—उसमान

बिना विरह के प्रेम की स्वतंत्र सत्ता नहीं है। इसी तरह बिना प्रेम के विरह का भी अस्तित्व नहीं है। जहाँ प्रेम है, वहाँ विरह है। प्रेम की आग को विरह-पवन ही प्रज्वलित करता है। प्रेम के अंकुर को विरह-जल ही बढ़ाता है। प्रेम-दीपक की बाती को यह विरह ही उसकाता रहता है।

इसी से तो कहा गया है, कि—

धन सो धन जेहि विरह-वियोगू। प्रीतम लागि तजै सुख-भोगू॥

विरह यदि ऐसा ही सुखदायी है, तो फिर विरही दिन-रात रोया क्यों करता है? यह न पूछो, भाई, विरह की वेदना मधुमयी होती है। उसमें रोना भी रुचिकर प्रतीत होता है। अपने बिछुड़े हुए प्यारे का ध्यान आते ही हृदय में एक ज्वाला उठती है, फिर भी वह विरही उसी का ध्यान करता रहता है। प्रेम-रत्न के जौहरी जायसी को इस जलने-भुनने की अच्छी जानकारी थी। उस विरहानुभवी साधक ने क्या अच्छा कहा है—

लागिउँ जरैं, जरैं जस भारू। फिरि फिरि भूँजेसि, तजिउँ न बारू॥

भाड़ की जलती बालू में अनाज का दाना डालकर कितनी ही बार भूनो, वह बराबर उछलता ही रहेगा, उस प्यारी बालू को छोड़कर बाहर न जायगा। विरह-दाह में वियुक्त प्रिय का ध्यान चंदन और कपूर से भी अधिक शीतल लगता है। इसी से उस दाह में दग्ध होने को विरही प्रेमी का चित्त सदा व्याकुल और अधीर रहा करता है—

जरत पतंग दीप में जैसे, औ फिरि-फिरि लपटात।

—सूर

विरही के रुदन को कोई क्या जाने? मौलाना रूम की रोई बाँसुरी कहती है—"जिसका हृदय वियोग के मारे टुकड़े-टुकड़े

न हो गया हो, वह मेरा अभिप्राय कैसे समझ सकता है ? यदि मेरी दरद-भरी दास्तां सुननी है, तो पहले अपने दिल को किसी प्यारे के वियोग में टुकड़े-टुकड़े कर दो, फिर मेरे पास आओ, तब मैं बताऊँगी कि मेरी क्या हालत है। मैंने अच्छे-बुरे सभी के पास जाकर अपना रोना रोया, पर किसी ने भी ध्यान न दिया—सुना और सुनकर टाल दिया। जिन्होंने सुना और ध्यान न दिया मैं उनको बहरा जानती हूँ, और जिन्होंने चिल्लाते देखा, पर न जाना कि क्यों चिल्ला रही है, मैंने समझ लिया कि वे अंधे हैं। मेरे रोने के रहस्य को एक वही जान सकता है जो आत्मा की आवाज़ को सुनता तथा पहचानता है। वास्तव में, मेरा रुदन आत्मा के रुदन से जुदा नहीं है।''

तब विरही के रोने को आनंददायी क्यों न कहें। धन्य है वह, जो प्रियतम के वियोग में इस बाँसुरी की तरह दिन-रात रोया करता है—

धन सो धन जेहि विरह-वियोगू। प्रीतम लागि तजै सुख-भोगू॥

युगों से कसक सो रही है। इसी से जीव भी बेहोश पड़ा है और सुरत भी सो रही है। कौन इन्हें जगावे ? द्वार पर खड़े प्यारे स्वामी से कौन इस जीव को मिलावे ? बस, विरह ही कसक को जगा सकता है और कसक जीव को जगा सकती है, और सुरत को जीव जगा लेगा। संतवर दादू दयाल कहते हैं—

विरह जगावै दरद को, दरद जगावै जीव।
जीव जगावै सुरत को, पंच पुकारै पीव॥

ऐसी महिमा है महातमा विरह-देव की। प्रिय विरह निश्चय-पूर्वक सुरत और जीव का सद्गुरु है। जिसने इस महा-महिम से गुरु-मंत्र ले लिया, उसका उसी क्षण प्रेम-देव से तादात्म्य हो

गया। जिसने यह दुस्साध्य साधन साध लिया, उसे आत्म-साक्षात्कार हो गया। पर विरहात्मक प्रेम का साधक यहाँ मिलेगा कहाँ ? इस लेन-देन की दुनिया में उसका दर्शन दुर्लभ है। शायद ही लाख-करोड़ में कहीं एकाध सच्चा विरही देखने में आए। उसकी पहचान भी बड़ी कठिन है। उसका भेद पा लेना आसान नहीं। संत चरणदास ने विरह-साधना में मतवाली विरहिणी की कैसी सच्ची तसवीर खींची है—

गद्गद् बानी कंठ में, आँसू टपकैं नैन।
वह तो विरहिन रामु की, तलफति है दिन-रैन॥
वह विरहिन बौरी भई, जानत ना कोई भेद।
अगिन बरै हियरा जरै, भये कलेजे छेद॥
जाप करै तो पीव का, ध्यान करै तो पीव।
जिव विरहिन का पीव है, पिव विरहिन का जीव॥

वह प्यारे राम की विरहिणी है। उस प्यारे के दीदार की ही उसे चाह है। वह एक प्यासी पपीहा है। एक दरद-रँगीली दीवानी है। व्यथा कैसे कहे—गला भर आया है, आँखों से झरने झरते हैं। दिन-रात बेचारी तड़पती ही रहती है। अरे, वह तो पगली है, पगली। ऐसी पगली, कि उसके पागलपने का भेद ही आज तक किसी को नहीं मिला। उस दीवानी के दिल में एक आग बल रही है, जिगर जल रहा है। कलेजे के अंदर छेद-ही-छेद हो गए हैं। जाप करती है, तो प्यारे का और ध्यान धरती है तो प्यारे का। उस विरहिणी का जीव आज उसका प्रियतम हो रहा है और उसका प्रियतम हो गया है उसका जीव। जीव पर प्यारे की छाया पड़ रही है और प्यारे पर जीव की झाईं झलक रही है ! 'जीव और पीव' में कैसा ग़ज़ब का तादात्म्य हुआ है।

प्यारे का उसे दिखाई देना क्या था, उससे बिछुड़कर खुद उसे अपने आपसे भी जुदा कर देना था। मीर साहब ने क्या अच्छा कहा है—

दिखाई दिए यूँ कि बेखुद किया,
हमें आपसे भी जुदा कर चले।

ख़ूब दिखाई दिए! अपनी जुदाई के साथ-साथ बेखुदी भी हमें देते गए। अच्छा हुआ, एक बला टली। अपना एक मन था, वह भी हाथ से चला गया। मन से भी छुट्टी पा ली। अब मनवाले उस बेमनवाले की व्यथा जानने आए हैं! पर क्या मोहित का मर्म मोहक समझ सकेगा? कभी नहीं—

कान्ह परे बहुतायत में, इक लेन की वेदन जानौ कहा तुम?
हौ मनमोहन, मोहे कहूँ न, विथा विमनेन की मानौ कहा तुम?
बौरौ वियोगिनि आय सुजान ह्वै, हाय कछू उर आनौ कहा तुम?
आरतिवंत पपीहन को घन आनँद जू! पहिचानौ कहा तुम?

हाँ, सचमुच उस बेदिल का भेद तुम्हें न मिलेगा। क्या हुआ जो तुम दिलदार हो? उस दीवाने ने तो हसरते दीदार पर ही अपने दिल को न्योछावर कर दिया है। अब शायद ही वह तुम्हारा दर्शन कर सके, क्योंकि वह बेचारा प्रेमी, दिल के न होने से, आज ताक़ते दीदार भी खो चुका है—

दिल को नियाज़ हसरते दीदार कर चुके,
देखा तो हम में ताक़ते दीदार भी नहीं।

—ग़ालिब

उसकी इस भारी बेवकूफ़ी पर तुम्हें मन-ही-मन हँसी तो ज़रूर आती होगी, सरकार! पर ज़रा उस बेदिल की आँखों से देखो क्या नज़र आता है! वह पगला कहता है, कि एक घड़ी

तनिक अपने आपसे बिछुड़ देखो, आप ही विरह का सब भेद खुल जायगा—

कैसो संजोग वियोग धौं आहि, फिरौ 'घनआनँद' ह्वै मतवारे।
मो गति बूझि परै तब हीं, जब होहु घरीक हूँ आपते न्यारे॥

बात वही है, कि प्रिय से बिछुड़ना अपने आपसे बिछुड़ जाना है। और जिसने अपने आपसे बिछुड़ना नहीं जाना, वह उस प्यारे के विरह-रस का अधिकारी ही नहीं है। अरे भाई, हसरते दीदार पर अपनी ख़ुदी को न्योछावर कर देनेवाला ही तो यह कहने का साहस करेगा, कि—

विरह-भुवंगम पैठिके किया कलेजे घाव।
विरही अंग न मोड़िहै, ज्यों भावै त्यों खाव॥
—कबीर

कुछ ठिकाना! कितना साहसी और सूर होता है विरही!

❋ ❋ ❋

व्यापकता की प्रत्यक्षानुभूति विरह-वेदना में ही होती है। विरही के प्रति सभी सहानुभूति प्रकट करते हैं, या उसकी दृष्टि ही कुछ ऐसी हो जाती है, कि सारा संसार उसे अपने ही समान विरहाकुल दिखाई देता है। विरह-दग्ध की दृष्टि में धुएँ-से बादल कोयले की तरह काले हो जाते हैं, राहु-केतु भी झुलस जाते हैं, सूर्य तप्त हो उठता है, चंद्रमा की कलाएँ जलकर खंडित हो जाती हैं और पलास के फूल तो अंगारों की भाँति उस रागमें दहकने लगते हैं। तारे जल-जलकर टूट पड़ते हैं। धरती भी धायँ-धायँ जलने लगती है। हमारे प्रेमी जायसी ने इस विश्व व्यापी विरह-दाह का कैसा सकरुण वर्णन किया है।

अस परजरा विरहकर गठा। मेघ स्याम भये धूम जो उठा॥
दाढ़ा राहु, केतु गा दाधा। सूरजु जरा, चाँद जरि आधा॥

औ सब नखत तराईं जरहीं। टूटहिं लूक, धरति महँ परहीं ॥
जरै सो धरती ठावहिं-ठाऊँ। दहकि पलास जरै तेहि दाऊँ ॥

ये सब उस विरही के दुःख में दुखी न हुए होते, उसके साथ इन सबों ने समवेदना प्रकट न की होती तो बेचारा कब तक अकेला ही उस आग में जलता रहता। वह जला और उसने सारी प्रकृति ही दहकती हुई देखी। वह रोया और उसने सारे विश्व को अपने साथ फूट-फूट कर रोता हुआ पाया। हाँ, सच तो यह है, उस विरह-दग्ध के रक्ताश्रुओं से आज सभी भीग-भीग कर लाल हो रहे हैं, सभी उसके साथ हृदय का रुधिर आँखों से टपका रहे हैं—

नैननि चली रकत कै धारा। कंथा भीजि भयेउ रतनारा ॥
सूरज बूड़ि उठा होइ ताता। औ मजीठ टेसू बन राता ॥
ईंगुर भा पहार जो भीजा। पै तुम्हार नहिं रोवँ पसीजा ॥

विरही के रक्तमय आसुओं में सारा संसार रँग गया है। कैसी करुण-कलापिनी कल्पना है! विरह की कैसी विशद विश्व-व्यापकता है!

निस्संदेह प्रिय-विरह समस्त प्रकृति में भर जाता है। अणु-परमाणु तक विरही दिखाई देता है। सूर की एक सूक्ति है—

ऊधो, यहि ब्रज विरह बढ़यो।
घर बाहिर, सरिता बन उपवन बल्ली द्रुमन चढ़यो ॥
बासर-रैन सधूम भयानक, दिसि-दिसि तिमिर मढ़यो।
द्वंद करत अति प्रबल होत पुर, पय सों अनल डढ़यो ॥
जरि कित होत भस्म छिन महियाँ हा, हरि मंत्र पढ़यो।
'सूरदास' प्रभु नँदनंदन बिनु नाहिन जात कढ़यो ॥

जो इस विरहानल से जलते-जलते बच गया, उस पर आश्चर्य होता है—

मधुवन ! तुम कत रहत हरे ?
विरह-वियोग स्यामसुंदर के ठाढ़े कत न जरे ?

अस्तु, जो भी हृदयवान् होगा, वह अवश्यमेव विरही के प्रति सहानुभूति दिखाएगा। हृदय-हीन की बात दूसरी है। हृदय की विशालता, सच पूछो तो, एक विरही में ही देखी गई है। उसके हृदय में होता है अपने प्यारे का ध्यान और उस ध्यान में होती है अखिल विश्व की व्यापकता। फिर क्यों न उसके व्यथित हृदय के साथ समस्त सृष्टि समवेदना प्रकट किया करे ? विरह-दशा में सारा संसार ही अपना सगा प्रतीत होने लगता है। सब के सामने हृदय खुला हुआ रखा रहता है। कुछ ऐसा लगा करता है, कि सभी उस प्यारे को प्यार करनेवाले हैं, सभी उस दिल-वर के दीदार के प्यासे हैं। जिसकी हमें चाह है, इन्हें भी उन्हीं की है। शायद इन सब को उस लापते का पता भी मालूम हो। विरहिणी गोपिकाएं अपने वियुक्त प्रियतम का पता, देखो, पशु-पक्षी, मधुप, लता-विटप, नदी, पृथिवी आदि सभी से पूछ रही है—

विरहाकुल ह्वै गईं सबै पूछति बेली बन।
को जड़ को चैतन्य न कछु जानत विरही जन॥
हे मालति ! हे जाति ! जूथ के ! सुनि हित दै चित।
मान-हरन मन-हरन लाल गिरधरन लखे इत ?
हे चंदन दुख-दंदन, सब को जरनि जुड़ावहु।
नँद-नंदन जगबंदन, चंदन हमहि बतावहु॥
पूछो री ! इन लतनि, फूलि रहिं फूलनि जोई।
सुंदर पिय के परस बिना अस फूल न होई॥
हे सखि ! ये मृग-बधू इन्हैं किन पूछहु अनुसरि।
डहडहे इनके नैन अबहिं कहुं देखे हैं हरि॥

हे अशोक ! हरि शोक लोक-मनि पियहि बतावहु ।
अहो पनस ! सुभ सरस मरत तिय अमिय पियावहु ॥
हे जमुना ! सब जानि-बूझि तुम हठहि गहति हौ ।
जो जल जग-उद्धार ताहि तुम प्रगट बहति हौ ॥
हे अवनी ! नवनीत-चोर चित-चोर हमारे ।
राखे कितहुँ दुराय बता देउ प्रान पियारे ॥

—नंददास

भला, पूछो तो, ये ललित लताएँ क्यों फूलों से फूल रहीं हैं। यह निश्चय है, कि बिना प्यारे का स्पर्श किए इनमें ऐसी प्रफुल्लता आ ही नहीं सकती। इन लहलही लताओं ने अवश्य ही प्रियतम का स्पर्श-सुख प्राप्त किया है। यही कारण है, कि ये फूली नहीं समातीं। और, ये सुकुमारी मृग-वधूटियाँ? धन्य इनके भाग्य ! इनकी कैसी डहडही आँखें हैं ! अभी-अभी इन सुहागिनियों ने प्यारे श्यामसुंदर को कहीं देखा है। बिना नँद-नंदन की प्यारी-प्यारी झलक पाए नयनों में यह डहडहापन कैसे आ सकता है ?

चाह-भरी चातकी चंद्रावली भी उस काले छलिया के पास अपनी विरह-व्यथा का संदेसा भेजना चाहती है। वह भी आज यह भेद-भाव भूल गई है, कि कौन जड़ है और कौन चैतन्य है ! कैसी पगली है—

अहो पौन ! सुख-भौन, सबै थल गौन तुम्हारो ।
क्यों न कहौ राधिका-रौन सों, मौन निवारो ॥
अहो भँवर ! तुम स्याम रंग मोहन-व्रत-धारी ।
क्यों न कहौ वा निठुर स्याम सों दसा हमारी ?
हे सारस ! तुम नीकें बिछुरन-वेदन जानौ ।
तौ क्यों प्रीतम सों नहि मेरी दसा बखानौ ॥

हे पपिहा ! तुम 'पिउ पिउ पिउ' पिउ रटत सदाई ।
आजहुँ क्यों नहिं रटि-रटि कै पिय लेहु बुलाई ॥

—हरिश्चंद्र

और नहीं तो, पूज्य पवनदेव, कृपाकर मेरा इतना काम तो कर ही दो । जहाँ कहीं भी मेरे प्यारे हों, उनके पैरों की थोड़ी सी धूल मुझे ला दो । उसे मैं इन जलती हुई आँखों में आँजूँगी । हाँ, विरह-व्यथा में वह प्यारी धूल ही संजीवनी का काम देगी—

विरह-बिथा की मूरि, आँखिन में राखौं पूरि,
धूरि तिन पायन की, हा हा, नेकु आनि दै ।

—आनंदघन

वियोग-श्रृंगार के मुख्य कवि जायसी ने भौंरे और कौए के द्वारा एक विरहिणी का सँदेसा उसके प्रियतम के पास बड़ी ही विदग्धता से भेजवाया है । प्रिय-वियोगिनी केवल इतना ही कहलाना चाहती है—

पिउ सों कहेहु सँदेसड़ा, हे भौंरा, हे काग ।
सो धन बिरहै जरि मुई, तेहिक धुवाँ हम्ह लाग ॥

इस 'सँदेसे' में विश्वव्यापिनी सहानुभूति की कैसी सुंदर व्यंजना हुई है !

* * *

हाय री प्रिय-स्मृति ! तब क्या था और अब क्या है ! जो कृष्ण कभी आँखों के आगे से न टलते थे, सदा पलकों पर रहते थे, हा ! आज उनकी कहानी सुननी पड़ रही है । क्या से क्या हो गया है आज !

जा थल कीनें बिहार अनेकन, ता थल काँकरी बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना सों करी बहु बातन, ता रसना सों चरित्र गुन्यो करैं॥
'आलम' जौन से कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं।
नैनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं॥

—आलम

हमें और क्या चाहिये। उनसे हम कुछ न माँगेंगी न जाने वे क्या जानकर संकोच कर रहे हैं। क्यों नहीं आते प्यारे श्याम! क्या कभी आयँगे हमारे हृदयरमण कृष्ण?

सखि, क्या कहा? तनिक फिर तो कह, फिर मृदु गिरा सुनूँ तेरी,
सहसा बधिर हो गई हूँ मैं, मिटा मनोज्वाला मेरी,
पावेगा यह दग्ध हृदय क्या फिर वह रत्न महा अभिराम?
हा हा! पैरों पड़ती हूँ मैं, सच कह, फिर आवेंगे श्याम?

—'मधुप'

क्या वह इतना भी न जानता होगा, कि हम उसकी पगली वियोगिनी हैं? सुनो—

न कामुका हैं हम राज-वेश की,
न नाम प्यारा 'यदुनाथ' है हमें।
अनन्यता से हम हैं ब्रजेश की।
विरागिनी, पागलिनी, वियोगिनी॥

—हरिऔध

पथिक! अब वीर-वर वियोग की अजेय सेना से आवृत मुझ निस्सहाय का यह अंतिम संदेश वहाँ तक ले जाओ। कहना, कि उसे अचानक ही उस सेना ने घेर लिया है। उस शूर-शिरोमणि के विकट कटक का सामना करना आसान नहीं। बचने का अब उपाय भी कोई नहीं है। उसे अब सब तरह से हारा

हुआ ही समझो। फिर भी, प्यारे, तुम्हारे द्वार पर, समय रहते, उसकी सुनवाई न हुई, तो वह प्रेम का प्रण पालनेवाला विरही, बाहर निकलकर एक मोर्चा तो लेगा ही, और प्रेम के रणांगण पर जूझकर धूल में मिल जायगा। फिर, प्यारे! तुम्हारे उस विस्मृत की यह कहानी दुनिया में चल जायगी। तो क्या अब यही कराना चाहते हो?

राति-द्यौस कटक सजेही रहै, दहै दुख,
कहा कहौं गति या वियोग बज मारे की।
लियौ घेरि औचक अकेलो कै बिचारौ जीव,
कछु न बसाति यों उपाय बलहारे की॥
जान प्यारे! लागो न गुहार तौ जुहार करि,
जूझि है निकसि टेक गहे पन धारे की।
हेत-खेत धूरि, चूरि-चूरि ह्वै मिलेगी, तब,
चलेगी कहानी घन आनंद तिहारे की॥

आकर टुक एक झलक दिखा दो तो अच्छा ही है, नहीं तो मरना तो है ही। तुम्हारे दर्शन की अभिलाषा लिए हुए ही मरेंगे। उस घड़ी भी ये आँखें हसरते दीदार में खुली रहेंगी। सच मानो, प्यारे!

देख्यो एक बारहूँ न नैन भरि तुम्हें, यातें,
जौन-जौन लोक जैहैं तहीं पछितायँगी?
बिना प्रान-प्यारे भये दरस तुम्हारे, हाय!
देखि लीजौ आँखें ये खुली ही रहि जायँगी॥
—हरिश्चंद्र

कौन आँखें खुली रह जायँगी? अरे, वही विरागिनी आँखें, जो विरह का कमंडलु लिए दिन-रात तुम्हारे दर्शन की मधुकरी भीख द्वार-द्वार माँगा करती हैं—

विरह-कमंडलु कर लिये, वैरागी दो नैन।
माँगैं दरस-मधूकरी, छके रहैं दिन-रैन॥

दे दे कोई इन योगिनियों को प्रेम-रस मधुकरी-भिक्षा। नीरस ज्ञान की बातों से इनकी भूख शांत होने की नहीं—

अखियाँ हरि-दरसन की भूखी।
कैसे रहैं रूप-रस-राची, ये बतियाँ सुनि सूखी॥

* * *

भूल होगी, भारी भूल होगी। तुम्हारे पास अभी क्यों कोई सँदेसा भेजवाया जाय ? क्यों तुम्हें उलाहना दें ? हमारी विरह-दशा अभी पराकाष्ठा को पहुँची ही कहाँ। अभी तुम्हारी प्यारी याद पर हमने यह घायल दिल क़ुर्बान नहीं किया। प्यारे, अभी तुम्हारी याद में यहाँ फ़ना हुआ ही क्या है ? विरह तो वह, जो विरही के समस्त अहंकार को प्रियतम की प्रतीक्षा में लय कर दे। सो वह बात अभी यहाँ कहाँ ? तुम्हें यहाँ तक खींच लाने की हमारे दिल में अभी तक वह ताक़त ही नहीं आई। पहले अपने दिल के घर में तुम्हारी लगन की वह आग लगा लें, जो यहाँ का सब कुछ ख़ाक कर दे, तब कहीं तुम्हारे पास कोई सँदेसा भेजें, तब तुम्हारी निठुराई पर तुम्हें उलाहना दें। अभी से यह क्यों कहें कि—

थक गए हम करते-करते इंतज़ार ;
एक क़यामत उनका आना हो गया।

तब तक यही हसरत क्यों न दिल में रक्खी जाय, कि—

ख़ुदा करे, कि मज़ा इंतज़ार का न मिटे ;
मेरे सवाल का वह दें जवाब बरसों में।

क्योंकि—

है वस्ल से ज़ियादा मज़ा इंतज़ार का।

मिलन की अपेक्षा प्रिय-मिलन की प्रतीक्षा में कहीं अधिक आनंद है। ख़ैर, हमारे सवाल का जवाब वह चाहे जब दें, पर उन्हें यह याद तो ज़रूर दिलाते रहें कि—

प्रेम-प्रीति कौ बिरवा, गयेउ लगाय,
सींचन की सुधि लीजौ, मुरझि न जाय।

—रहीम

इन आँखों ने विरह की एक बेलि बोई है। वह आँसुओं से सींची गई है, और उसकी जड़ अब पाताल तक पहुँच गई है। कैसी अलौकिक लगन-लता है वह—

मेरे नैना विरह की बेलि बई।
सींचत नीर नैन के, सजनी! मूल पाताल गई॥
बिगसति लता सुभाय आपने, छाया सघन भई।
अब कैसे निरुवारौं, सजनी! सब तन पसरि छई॥

—सूर

इसे कैसे सुलझाएँ! यह बेलि तो रोम-रोम में उलझ गई है। इसे लहलही भी कैसे बनाए रखें। हमारे पास अब नयन-नीर भी तो नहीं हैं। दोनों नाले आज सूखे पड़े हैं। अरे भई, कैसे सींचे इसे!

अरे, हम क्या सींचे इस बेलि को। वही आकर इसे जो सींच जाय, तो शायद यह कुछ लहलही हो जाय—

अबहुँ बेलि फिर पलुहै, जो पिय सींचै आइ।

सच्चे प्रेमियों का वियोग विलक्षण होता है। वियोग होते हुए भी उनमें वियोग नहीं होता। दोनों ही प्रेम की डोरी में

बँधे रहते हैं। कितने ही दूर वे प्रेमी क्यों न चले जायँ, उनके हृदय वैसे ही मिले रहेंगे। प्रेम में ज़रा-सी भी कमी न आएगी। बड़ी अद्भुत है प्रेम की डोरी। प्रेमियों का वियोग भी रहस्य-मय है—

अद्‌भुत डोरी प्रेम की, जामें बाँधे दोय।
ज्यों ज्यों दूर सिधारिए, त्यों त्यों लाँबी होय॥

—देवीप्रसाद 'पूर्ण'

एक कहीं है तो दूसरा कहीं है, पर प्रेम के एक ही बाण से दोनों के दिल एक साथ बिंधे हुए हैं। क्या कहें हम इस तीरे इश्क़ को!

हम तड़पते हैं यहाँ पर, वाँ तड़पता यार है;
एक तीरे इश्क़ है, औ दो-दिलों के पार है।

अब, इसे वियोग कहें या संयोग? भिन्न होते हुए भी दोनों अभिन्न हैं! सुना जाता है, कि विरही को दयालु दाता ने दो अजीब खिलौने बख़्श दिए हैं—आँसू और आह! ख़ूब बहला सकता है इन खिलौनों से वह पगला अपना मचला हुआ दिल। अब और क्या चाहता है? चाहता क्या है? कुछ नहीं। पर उसके पास आज वे मन बहलाव की चीज़ें हैं कहाँ? न आँखों आँसू हैं न दिल में आह। हाँ, भाई! सच तो कहते हैं—

दर्द अपने हाल से तुझे आगाह क्या करे,
जो साँस भी न ले सके, वह आह क्या करे?

अब तो आह से भी वह दिल बहलने का नहीं। यही हाल आँसू का भी है। आँखों के वे झरने कभी के बंद हो गए। अब तो वहाँ सिर्फ़ एक जलन है। या वह ना-उमेदी, जिसके आगे यह जोशेजुनूँ में मस्त विरही घुटने टेके हुए यह कह रहा है—

सँभलने दे मुझे, ऐ ना-उमेदी, क्या क़यामत है,
कि दामाने ख़याले यार छूटा जाय है मुझसे।

—ग़ालिब

मुझे, ज़रा, सँभलने तो दे, मेरी ना-उमेदी! बड़ी आफ़त है। क्या करूँ, मेरे प्यारे का ध्यान रूपी दामन तेरे मारे मेरे हाथ से छूटा जा रहा है।

ओह! कैसी होगी उस पगले वियोगी की ना-उमेदी! जिसकी बड़ी सी बड़ी उमेद 'मरना' हो, ज़रा उसकी ना-उमेदी तो देखो कितनी बड़ी होगी—

मुनहसर मरने पै हो जिसकी उमेद,
ना-उमेदी उसकी देखा चाहिए।

—ग़ालिब

पर यह ना-उमेदी सदा ना-उमेदी ही न रहेगी। इस निराशा से ही किसी दिन आशा का उदय होगा। मान लो, कि विरह की निराशा में एक दिन मौत भी आ जाय, तो भी कुछ बिगड़ने का नहीं, क्योंकि वह मौत एक असाधारण मौत होगी। वह मौत, मौत की मौत होगी। अजी, कह देना उस घड़ी—

मौत यह मेरी नहीं, मेरी क़ज़ा की मौत है,
क्यों डरूँ इससे फिर मर कर नहीं मरना मुझे।

ठीक है, पर यह बात उठाया करते हैं। क्या सचमुच वे लोग, अंत में, मर जाते या मर सकते हैं? इसमें संदेह नहीं, कि वे मरना तो जानते हैं, पर मर नहीं सकते, क्योंकि मरना उनके वश का नहीं। उनके प्राणों को एक ओर से तो प्रिय-दर्शन-प्यासी आँखें रोके रहती हैं और दूसरी ओर से उनका हसरत-भरा घायल दिल! अब, बोलो, वे कैसे और कहाँ से निकल जायँ?

नाम-पाहरू दिवस-निसि, ध्यान तुम्हार कपाट ।
लोचन-निज-पद-जंत्रिका, जाँहि प्रान केहि बाट ॥

—तुलसी

क्षणमात्र को भी वह ध्यान हृदय से नहीं टलता है—

चलत चितवत दिवस जागत सपन सोवत रात ।
हृदय तें वह श्याम मूरति छन न इत-उत जात ॥

—सूर

दिन-रात तुम्हारा प्यारा नाम पहरा दिया करता है, तुम्हारा ध्यान अंतर्द्वार का कपाट है और वहाँ तुम्हारे चरणों की ओर लगे नेत्रों ने ताला लगा रखा है; अब बताओ प्राण किस मार्ग से निकलें ? प्राण अब भी निकलने को अधीर तो बहुत हो रहे हैं, पर निकलें कैसे ? ये हठीली आँखें जब उन्हें निकलने दें—

बिरह-अगिन तनु तूल समीरा । स्वास जरइ छनमाँह सरीरा ॥
नयन स्रवहिं जल निजहित लागी । जरइ न पाव देह बिरहागी ॥

—तुलसी

तुम्हारा विरह अग्नि के समान है । उसमें यह रुई-जैसा शरीर एक क्षण में ही जल कर भस्म हो जाय, क्योंकि मेरी साँसों की हवा उस आग को और भी प्रज्वलित कर रही है, पर पापी शरीर जलने नहीं पाता, ये स्वार्थी नेत्र निरंतर वहाँ जल बरसाते रहते हैं ।

कह नहीं सकते, कि बिरह की अग्नि क्या है—

धनि बिरही औ धनि हिया जहँ अस अगिन समाइ ।

—जायसी

रानी केतकी की कहानी

यह वह कहानी है कि जिसमें हिंदी छुट।
और न किसी बोली का मेल है न पुट॥

सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ उस अपने बनानेवाले के सामने जिसने हम सबको बनाया और बात की बात में वह कर दिखाया कि जिसका भेद किसी ने न पाया। आतियाँ जातियाँ जो सांसें हैं, उसके बिन ध्यान सब फांसें हैं। यह कल का पुतला जो अपने उस खिलाड़ी की सुध रक्खे तो खटाई में क्यों पड़े और कड़ुवा कसैला क्यों हो? उस फल की मिठाई चक्खे जो बड़ों से बड़े अगलों ने चक्खी है।

मिट्टी के बासन को इतनी सकत कहाँ जो अपने कुम्हार के करतब कुछ ताड़ सके। सच है, जो बनाया हुआ है, सो अपने बनानेवाले को क्या सराहे और क्या कहे? यों जिसका जी चाहे, पड़ा बके। सिर से लगाकर पाँव तक जितने रोंगटे हैं, जो सब के सब बोल उठें और सराहा करें और इतने बरसों उसी ध्यान में रहें जितनी सारी नदियों में रेत और फूल फलियाँ खेत में हैं, तो भी कुछ न हो सके, कराहा करें। इस सिर झुकाने के साथ ही दिन रात जपता हूँ उस अपने दाता के भेजे हुए प्यारे को जिसके लिये यों कहा है—जो तूँ न होता तो मैं कुछ न बनाता। मैं फूला अपने आप में नहीं समाता।

एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिये कि जिसमें हिंदी की छुट और किसी बोली की पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप से खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो।

अपने मिलनेवालों में से कोई एक बड़े पढ़े-लिखे, पुराने-धुराने, डाँग, बूढ़े घाग यह खटराग लाए। सिर हिलाकर, मुँह थुथाकर, नाक भौंहें चढ़ा कर, आँखें फिराकर लगे कहने—यह बात होते नहीं दिखाई देती। हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस जितने भले लोग आपस में बोलते चालते हैं ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँह किसी की न दे, यह नहीं होने का। मैंने उनकी ठंडी साँस का टहोका खाकर झुँझलाकर कहा—मैं कुछ ऐसा बड़-बोला नहीं जो राई को पर्वत कर दिखाऊँ और झूँठ सच बोलकर उँगलियाँ नचाऊँ और बे-सिर, बे-ठिकाने की उलझी-सुलझी बातें पचाऊँ। जो मुझसे न हो सकता, तो यह बात मुँह से क्यों निकालता? जिस ढब से रानी केतकी एक दिन उसी ध्यान में मदनबान से यों बोल उठी—अब मैं निगोड़ी लाज से कुट करती हूँ तू मेरा साथ दे। मदनबान ने कहा—क्योंकर? रानी केतकी ने वह भभूत का लेना उसे बतलाया और यह सुनाया—यह सब आँख-मुचौवल के झाँई-झप्पे मैंने इसी दिन के लिये कर रक्खे थे। मदनबान बोली—मेरा कलेजा थरथराने लगा। अरी यह माना जो तुम अपनी आँखों में उस भभूत का अंजन कर लोगी और मेरे भी लगा दोगी तो हमें तुम्हें कोई न देखेगा और हम तुम सब को देखेंगी। पर ऐसी हम कहाँ मन-चली हैं जो बिना साथ, जोबन को लिये, बन बन में पड़ी भटका करें और हिरनों की सींगों पर दोनों हाथ डालकर लटका करें और जिसके लिये यह सब कुछ है, सो वह कहाँ? और होय तो क्या जाने जो यह रानी केतकी है और यह मदनबान निगोड़ी नोची-खसोटी उजड़ी उनकी सहेली है। चूल्हे और भाड़ में जाय यह चाहत, जिसके लिये आपको माँ-बाप का राज पाट सुखनींद लाज छोड़ कर नदियों के कछारों में फिरना पड़े, सो भी बे-डौल।

जो वह अपने रूप में होते तो भला थोड़ा बहुत आसरा था। ना जी यह तो हमसे न हो सकेगा जो महाराज जगत-प्रकाश और महारानी कामलता का हम जान-बूझकर घर उजाड़ें और उनकी जो एकलौती लाड़ली बेटी है, उसको भगा ले जावें और कहाँ तक उसको भटकावें और बिनसपत्ती खिलावें और अपने चोंड़े को हिलावें। जब तुम्हारे और उसके माँ-बाप में लड़ाई हो रही थी और उनने उस मालिन के हाथ तुम्हें लिख भेजा था जो मुझे अपने पास बुला लो, महाराजों को आपस में लड़ने दो, जो होनी हो सो हो, हम तुम मिलकर किसी देश को निकल चलें, उस दिन न समझीं। तब तो वह ताव-भाव दिखाया। अब जो वह कुँवर उदैभान और उसके माँ बाप तीनों जो हिरनी हिरन बन गए। क्या जानें किधर होंगे? उनके ध्यान पर इतनी कर बैठिए जो किसी ने तुम्हारे घराने में न की, अच्छी नहीं। इस बात पर पानी डाल दो नहीं तो पछतावोगी और अपना किया पावोगी। मुझसे कुछ न हो सकेगा। तुम्हारी जो कुछ अच्छी बात होती, तो तेरे मुँह से जीते जी न निकलती, पर यह बात मेरे पेट में नहीं पच सकती। तुम अभी अल्हड़ हो, तुमने अभी कुछ देखा नहीं। जो ऐसी बात पर सचमुच ढलाव देखूँगी तो तुम्हारे बाप से कह कर वह भभूत जो वह मुआ निगोड़ा भूत मुछंदर का पूत अवधूत दे गया है, हाथ मुरकवा कर छिनवा लूँगी। रानी केतकी ने यह रुखाइयाँ मदन-बान की सुन कर हँस कर टाल दिया। और होता, इस बखेड़े को टालता। इस कहानी का कहनेवाला आपको जताता है; और जैसा उसे लोग पुकारते हैं, कह सुनाता है। दहना हाथ मुँह पर फेरकर आपको जताता हूँ, जो मेरे दाता ने चाहा तो वह ताव-भाव और कूद-फाँद और लपट-झपट दिखाऊँ जो देखते

ही आपके ध्यान का घोड़ा, जो बिजली से भी बहुत चंचल अचपलाहट में है, अपनी चौकड़ी भूल जाय।

अब कान रख के, आँखें मिलाके, सम्मुख होके टुक इधर देखिये, किस ढब से बढ़ चलता हूँ और अपने फूल की पंखड़ जैसे होठों से किस किस रूप के फूल उगलता हूँ।

(२)

एक रात रानी केतकी ने अपनी माँ रानी कामलता को भुलावे में डालकर यों कहा और पूछा—गुरूजी, गुसाईं महेंदर-गिरि ने जो भभूत मेरे बाप को दिया है वह कहाँ रक्खा है और उससे क्या होता है? रानी कामलता बोल उठी—तेरे वारी, तू क्यों पूछती है? रानी केतकी कहने लगी—आँख-मुचौवल खेलने के लिये चाहती हूँ। जब अपनी सहेलियों के साथ खेलूँ और चोर बनूँ तो मुझे कोई पकड़ न सके। महारानी ने कहा—वह खेलने के लिये नहीं है। ऐसे लटके किसी बुरे दिन को संभालने को डाल रखते हैं। क्या जाने कोई घड़ी कैसी है, कैसी नहीं। रानी केतकी अपनी माँ की इस बात पर अपना मुँह थुथाकर उठ गई और दिन भर खाना न खाया। मुझे रुच नहीं—महाराज ने बुलाया तो कहा। तब रानी कामलता बोल उठी—अजी तुमने सुना भी, बेटी तुम्हारी आँख-मुचौवल खेलने के लिये वह भभूत गुरूजी का दिया माँगती है। मैंने न दिया और कहा, लड़की यह लड़कपन की बातें अच्छी नहीं। किसी बुरे दिन के लिये गुरूजी दे गए हैं। इसी पर मुझसे रूठी है। बहुतेरा बहलाती हूँ मानती नहीं। महाराज ने कहा—भभूत तो क्या मुझे अपना जी भी उससे प्यारा नहीं। तो क्या उसके एक पहर के बहल जाने पर एक जी तो क्या, जो करोर जी हों तो दे डालें। रानी केतकी की डिबिया में से थोड़ा सा भभूत दिया।

कई दिन तलक आँख-मुचौवल अपने माँ-बाप के सामने सहेलियों से खेलती और सबको हँसाती रही जो सौ-सौ थाल मोतियों के निछावर हुआ किए, क्या कहूँ, एक चुहल थी जो कहिये तो करोड़ों में ज्यों की त्यों न आ सके।

कहा—जिसका जी हाथ में न हो, उसे ऐसी लाखों सूझती हैं, पर कहने और करने में बहुत-सा फेर है। भला यह कोई अंधेर है जो मैं माँ-बाप, राजपाट, लाज को छोड़ कर हिरन के पीछे दौड़ कर छालें मारती फिरूँ। पर अरी तू तो बड़ी बावली चिड़िया है जो यह बात सच जानी और मुझसे लड़ने लगी।



परिशिष्ट

भारतेंदु हरिश्चंद्र—जन्म १८५० ई०, मृत्यु सन् १८८५ ई०

भारतेंदु हरिश्चंद्र सेठ अमीचंद के वंशज हैं। आपका व्यक्तित्व असाधारण प्रतिभाशाली था। शैशवकाल में ही आपकी साहित्यानुरक्ति का प्रस्फुटन प्रारंभ हो चला था। पाँच वर्ष की अवस्था में आपने एक दोहा रचकर स्पष्ट कर दिया कि सरस्वती की आप पर अनुपम अनुकंपा है। आपने अपनी प्रखर मेधा से गद्य साहित्य के एक युग का निर्माण कर दिया है। वर्तमान हिंदी संसार भारतेंदु युग का चिर आभारी रहेगा। आपने हिंदी और नागरी दोनों की ही अनन्य सेवा की है। पैंतीस वर्ष की ही अल्पावस्था में आपका स्वर्गवास हो गया था। विशेष परिचय के लिये भूमिका देखिए। उल्लिखित प्रहसन भारतेंदु जी की मौलिक रचना है।

प्रहसन = परिहासपूर्ण अभिनय।

जाइयो = खड़ी बोली का शब्द नहीं है।

श्लोक का अर्थ—

कोई कहता है कि अमृत सुरलोक में है; कोई कहता है कि अमृत रमणी के अधरपल्लव में है; परंतु सकल शास्त्र-विचार-चतुर हम लोग कहते हैं कि अमृत जंबीर नीर से परिपूर्ण मछली के टुकड़े में है।

दूसरे श्लोक का अर्थ—

संसार में मांस और मदिरा का सेवन स्वतः नित्यप्रति होता है; उसकी ओर प्रेरणा करने की आवश्यकता नहीं है।

'न मांस भक्षणे······मैथुने'

न मांस भक्षण में दोष है और न मद्य और मैथुन में दोष है।

'स्वमांस……मिच्छति'

जो अपने मांस को दूसरे का मांस खाकर बढ़ाता है।

'सर्वे शाक्ता………वेदमातरम्'

सब ब्राह्मण शाक्त कहे गए हैं, वे न शैव हैं और न वैष्णव। वे वेदमाता आदि देवी गायत्री की उपासना करते हैं।

'कृते………वागमसंभवाः'

सतयुग में वेद मान्य हैं, त्रेता में स्मृतियाँ मान्य हैं; द्वापर में पुराण मान्य हैं और कलियुग में तंत्र मान्य हैं।

धौल मार कर=चपत मारकर।

'अंतः………वैवस्वतो यमः'

वैवस्वत यम प्रच्छन्न पाप करनेवालों का अंतिम शासक है।

'अंतः शक्ताः………महीतले।'

भीतर से शाक्त हैं और बाहर शैव का आडंबर किए हैं। सभा में बैठकर वैष्णव बन जाते हैं—इस प्रकार के नाना रूपधारी चंट लोग संसार में विचरण करते हैं।

'ईश्वरः सर्वभूतानां………मायया'

'हे अर्जुन, ईश्वर सबके हृदय-देश में बैठा है। वह माया द्वारा यंत्रारूढ़ की भाँति सब प्राणियों को घुमाता है।'

अंतिम षट्पदी में आया हुआ 'लौ' शब्द व्रजभाषा का है और संस्कृत के 'अलम्' शब्द का बिगड़ा हुआ रूप है।

प्रतापनारायण मिश्र—

कानपुर-निवासी श्री प्रतापनारायण मिश्र का जन्म संवत् १९१३ में हुआ था। आप उर्दू, फ़ारसी, संस्कृत और बँगला के अच्छे विद्वान् थे। आपने अपने जीवन में "ब्राह्मण" और "हिंदी-हिंदोस्तान" दो पत्रों का संपादन किया। अपनी अनूठी शैली से आप रोचक-साहित्य

के सर्वोच्च लेखक समझे जाते हैं। मिश्र जी एक मौजी और प्रेमी जीव थे, तथा एक उन्मत्त कवि थे। भारतेंदु जी के आप अनन्य मित्र थे; और हिंदी तथा देवनागरी के बेढब हिमायती थे। आपने काव्य, नाटक तथा बहुत सुंदर निबंध रचना की है। आपकी सजीव भाषाशैली से परिचय पाने के लिये भूमिका देखिए। उल्लिखित निबंध आपकी गंभीर मौलिक कृति है।

यह लेख प्रतापनारायण के गंभीर लेखों में है।

अप्रतर्क्य = तर्क के परे।

बक-बक = व्यर्थ का कथन।

'महात्मा कबीर ने इस विषय में कहा है, वह निहायत सच है' वास्तव में इस विषय की उक्ति हिंदी कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने कही है—

> सुनि हस्ती कर नाँव, अँधरन टोवा धाइकै।
> जेहि टोवा तेहि ठाँव, मुहमद सो तैसे कहा॥

तदीय = भगवद्‌मय।

मसी = स्याही।

कवियों भरे की = सब कवियों की।

बातें गोल हैं = रहस्यमय हैं।

श्रीगणेशाय नमः = आरंभ।

बरते = आधार, प्रमाण।

शेख़चिल्ली का महल = निराधार वस्तु।

बालकृष्ण भट्ट—

आपका जन्म संवत् १९०१ में हुआ। आप संस्कृत के अच्छे पंडित थे। संवत् १९३४ में आपने "हिंदी-प्रदीप" नामक पत्र निकाला। भट्ट जी भारतेंदु-मंडल के एक प्रमुख सदस्य थे। आपने

गद्य-इतिहास के आरंभ में ही उत्कृष्ट निबंधरचना की है। आपके निबंधों में विनोद के साथ शिष्टता और नागरिकता का सुंदर सामंजस्य है। आपने साधारण लेख्य विषयों के अतिरिक्त गंभीर तथा काव्योपम सरस साहित्यिक निबंध भी लिखे हैं। इस दृष्टि से आप हिंदी-साहित्य में गद्य-काव्य के आदि-लेखक हैं। अन्यत्र भूमिका में आपका विशेष परिचय मिलेगा। उल्लिखित निबंध में आपने एक रूखे विषय को अपूर्व सरसता और वेगपूर्ण प्रणाली से लिखा है।

आत्मनिर्भरता = स्वावलंबन।

भारवि = संस्कृत के एक प्रसिद्ध कवि।

बुनियाद = नींव।

'दैव दैव आलसी पुकारा' यह उक्ति गोस्वामी तुलसीदास की है और रामचरितमानस के सुंदरकांड के अंत से ली गई है। लक्ष्मण को सिंधु से मार्ग-याचना की मंत्रणा पसंद न आई और उनके द्वारा गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहलाया है—

'कादर मन कर एक अधारा, दैव दैव आलसी पुकारा।'

समष्टि = समाहार।

टोटल = योग।

ग्रैंड = बड़ा।

चंडूख़ाने की गप्प = निराधार बात।

खेतिहर = कृषक।

गारंटी = अवश्यंभावी।

महावीरप्रसाद द्विवेदी—

आपका जन्म संवत् १९२१ में हुआ था। पहले आप एक रेलवे के आफ़िस में कर्मचारी थे। साहित्य से अनुराग होते ही आपने नौकरी छोड़ दी और प्रयाग में आकर 'सरस्वती' निकालने लगे। आप

हिंदी, उर्दू, संस्कृत, अँगरेज़ी, मराठी, बँगला, गुजराती, फ़ारसी आदि अनेक भाषाओं के पंडित और बहुज्ञ व्यक्ति हैं। वर्तमान हिंदी साहित्य के आप अनन्य निर्माणक हैं। आपने अपनी दीर्घकालव्यापी हिंदी के प्रति सेवाओं से भाषा तथा साहित्य में समीचीनता का सृजन किया है। आप अनेक ग्रंथों के लेखक हैं, तथा विभिन्न-विषयक सहस्रों लेख लिखे हैं। हिंदी-जगत् में आज आप आचार्य्य-पद से सुशोभित हैं। आपने प्रौढ़ गद्य के अतिरिक्त सरस काव्य-रचना भी की है। अपने संपादकीय परिश्रम से द्विवेदी जी ने सैकड़ों लेखक हिंदी को दिए हैं।

इस लेख में लेखक की काव्यविषयक विवेचना विशेष मह व की है।

माद्दा = शक्ति।

इस्तेदाद = स्फूर्ति।

झूठ का अंश = कल्पना का प्रभाव जो वास्तविक तथ्य से न मिले।

आकाशकुसुमों के गुलदस्ते तैयार करना = बे-सिर-पैर की बातें करना।

अपरिहार्य = अनिवार्य।

बेतुकी = अतुकांत।

पर्यालोचना = निरीक्षण।

दचके = हचके।

प्रकृति-विकास = नैसर्गिक निरीक्षण।

मिश्रबंधु—

पं० गणेशबिहारी मिश्र, पं० श्यामबिहारी मिश्र और पं० शुकदेवबिहारी मिश्र हिंदी-साहित्य में मिश्रबंधु कहलाते हैं। आप लोगों ने मिलकर बहुत बड़ी संयुक्त साहित्य-रचना की है। आपका

मिश्रबंधु-विनोद बहुत प्रसिद्ध और एक बड़ा ग्रंथ है। आप लोग पुराने साहित्य-मर्मज्ञ समझे जाते हैं। हिंदी कवियों पर आपने यथेष्ट गवेषणापूर्ण और विशद सामग्री प्रस्तुत की है। आप लोगों ने संयुक्त काव्यरचना भी की है। आपने स्फुट लेख भी प्रचुर मात्रा में लिखे हैं, जो पुष्पांजलि और सुमनांजलि के नाम से संग्रहीत हुए हैं। आप लोगों ने प्राचीन भारत का भी एक इतिहास लिखा है। देव और बिहारी-संबंधी विवाद में आपने देव को प्रधानता दी है। पं० श्याम-बिहारी मिश्र का जन्म संवत् १९३० में हुआ था, और पं० शुकदेव-बिहारी मिश्र का जन्म संवत् १९३५ में। मिश्रबंधु आजकल प्रसिद्धि-प्राप्त साहित्य-समालोचक हैं, यद्यपि आप लोगों ने अपने 'हिंदी-नवरत्न' में जिन नौ कवियों का परिचय दिया है, वह पक्षपातपूर्ण समझा गया है।

दैहिक = शारीरिक।

भौंड़ी = भद्दी।

आत्मीकरण = अपने में मिला लेना assimilation, हज़म कर लेना।

बहुभक्षी = आवश्यकता से अधिक खानेवाले।

आह्निक = दिन के।

पारगामी = पूर्ण विद्वान्।

श्लोक का अर्थ—

जो व्यक्ति संगीतकला अथवा साहित्यकला से अपरिचित है वह पूँछ और सींग के बिना साक्षात् पशु है। यह पशुओं का बड़ा भारी भाग्य है कि वह तृण खाये बिना ही जीता है।

हुनर = कला।

सुधी = विद्वान्।

श्यामसुंदरदास—

काशी के श्री श्यामसुंदरदास पुराने साहित्य निर्माणकों में अग्रगण्य हैं। आपने भाषा और साहित्य की निस्सीम सेवा की है। संभवतः आज से ३५ वर्ष पूर्व आपके सद्प्रयास से काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई थी। आपने शिक्षोपयोगी ऊँचे और गंभीर ग्रंथ लिखे और अनूदित किये हैं। आप काशी-विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग के प्रधान हैं, और अनवरत रूप से हिंदी की सेवा में तल्लीन रहते हैं। भूमिका में आपका यथेष्ट परिचय मिल सकता है।

जनश्रुति—लोक प्रचलित बात, 'वे स्त्रियों की विशेषताओं और सद्गुणों से परिचित नहीं हो सके'—यह मत कदाचित् मिश्रबंधुओं का है। गोस्वामी जी का विवाह हुआ ही नहीं ऐसे विचार पं० चंपाराम मिश्र ने एक बार एक लेखद्वारा किसी मासिक पत्रिका में व्यक्त किए थे।

आत्मनिवेदन = आत्मोत्सर्ग।

अद्वैतवाद = वह दार्शनिक सिद्धांत जिसमें आत्मा-परमात्मा, पुरुष-प्रकृति का ऐक्य स्थापित किया गया हो।

संकलित संस्करण = संक्षिप्त प्रतिरूप।

उदात्त = ऊँचे।

समकक्षता = बराबरी।

सुमेर = प्रत्यावर्त्तन का स्थल।

प्रेमचंद—

वस्तुतः आपका शुभ नाम धनपतराय हैं, प्रेमचंद साहित्यिक नाम हैं। आप फ़ारसी के बहुत अच्छे ज्ञाता हैं, और अँगरेज़ी के भी विद्वान् हैं। पहले आप शिक्षा-विभाग में एक पदाधिकारी थे; कुछ दिनों तक कानपुर में हेडमास्टर रहे, किंतु अब संभवतः गत १० वर्षों से पूर्ण साहित्यिक जीवन बिता रहे हैं। इस समय आप काशी-निवासी हैं,

और वहाँ से 'हंस' (मासिक) और 'जागरण' साप्ताहिक का संपादन करते हैं। आप इस युग के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास-लेखक हैं। मौलिक रचना के अतिरिक्त आपने अँगरेज़ी नाटकों के सरस अनुवाद भी किए हैं। विशेष परिचय के लिये भूमिका देखिये। प्रस्तुत कहानी प्रेमचंद जी की एक लब्ध-प्रतिष्ठ कहानी है।

निस्तब्धता = स्थिरता।

संपन्न = अच्छी।

इंद्रलोक की अप्सरा = स्वर्गीय रमणी-सौंदर्य।

टपकते हुए = टीसते हुए = वेदनापूर्ण।

बस = किराये की मोटर।

थीसिस = मौलिक प्रबंध।

प्रतीकार = बदला लेने के लिये।

विरक्ति हिंसा से भी अधिक हिंसात्मक होती है = उपेक्षा भाव में हिंसा से भी अधिक क्रूरता निहित रहती है।

पद्मसिंह शर्मा—

बिजनौर-निवासी श्री पद्मसिंह शर्मा संस्कृत, अँगरेज़ी और फ़ारसी आदि भाषाओं के विद्वान्, हिंदी-साहित्य-समालोचक थे। हिंदी में तुलनात्मक आलोचना के आप आदि-लेखक थे। आपकी "बिहारी-सतसई" कविवर बिहारीलाल पर एक उत्कृष्ट टीका है, जो साहित्य संमेलनद्वारा पुरस्कृत हुई है। आपकी भाषाशैली उर्दू-हिंदी-मिश्रित हुआ करती थी; आपने अधिकतर हिंदी के 'हिंदुस्तानी' स्वरूप को स्वीकृत किया था। आप एक असाधारण काव्य-मर्मज्ञ थे, और प्रतिष्ठा-प्राप्त साहित्यज्ञ थे। देव और बिहारी की तुलना में आपने बिहारी को उत्कृष्ट सिद्ध किया है।

इस संबंध में इस संकलन की 'गद्यगाथा' का अंतिम भाग देख लेना चाहिये।

मुअर्रब = अर्बी किया गया।

मुफ़र्रस = फ़ारसी किया गया।

अलफ़ाज़ = शब्द।

गुरेज़ = भागना, परहेज़ करना।

मुस्तनद लुग़ात = माने हुए अर्थ।

इस्तलाहात = शब्दार्थ।

नौ-ब-नौ = नए नए।

तसन्नो = बनावट।

बसा औक़ात अलफ़ाज़ की नशिस्त = बहुधा शब्दों का बैठाव।

(अजमी) = अजमवाली अर्थात् फ़ारस से संबद्ध।

अफ़आल = क्रियाएँ।

फ़सीह उर्दू-ए मुअल्ला = सुसंस्कृत उर्दू।

दरम्यानी सूरत = बीच का समझौता।

सक़ील् = भद्दी।

ग़ैरमानूस = जो रोज़ के प्रयोग में न आती हो।

खुतबे = भाषणों।

महदूद = सीमित।

इस्तलाहें = परिणाम।

रीता = ख़ाली।

सियासी ताल्लुक़ात = राजनैतिक संबंध।

अमले = बाबू और हाकिम लोग।

'शुद्धि' = दूसरी भाषा में संमिलित हो जाते हैं।

पं० रामचंद्र शुक्ल—

शुक्ल जी का जन्म संवत् १९४१ में हुआ था। आप बचपन से ही विद्या-व्यसनी हैं। आप वर्तमान जगत् में एक उत्कृष्ट और पांडित्य-पूर्ण साहित्य-निर्माणक हैं। आपने हिंदी में गहन-विषयों की मीमांसा की है, गंभीर निबंध-रचना की है, और प्रतिभापूर्ण समालोचना की है। आपने भाषा और साहित्य का इतिहास लिखा है; तथा प्राचीन हिंदी कवियों की अपूर्व समीक्षा की है। 'तुलसी-ग्रंथावली' आपकी प्रतिष्ठित रचना है। सूर, तुलसी और जायसी पर लिखी हुई आपकी समालोचनायें बेजोड़ समझी जाती हैं। हिंदी-शब्द-सागर के निर्माणकों में आप भी हैं।

आप काशी-निवासी हैं, और हिंदू-विश्व-विद्यालय काशी में हिंदी के प्रोफ़ेसर हैं। विशेष विवरण के लिये भूमिका देखिए।

काव्य-पद्धति = कविता करने की प्रणाली।
अनुकृत = Imitative.
प्रकृत = Realistic.
अतिरंजित = Exaggerative.
प्रगीत = Lyrical.
पौराणिक = Mythological.
प्रस्तुत = उपमेय।
अप्रस्तुत = उपमान।
'विश्वामित्र' शब्द में लेखक का उभयार्थी चमत्कार स्पष्ट है।
प्रेमाख्यानी रंग = Romantic turn.
प्रेषणीयता = Communicability.
स्वानुभूतिनिरूपणी = Subjective.
वाह्यार्थनिरूपणी = Objective.

राय कृष्णदास—

बनारस-निवासी राय कृष्णदास वर्तमान हिंदी-साहित्य के एक जग-मग रत्न हैं। आप एक बड़े भावुक और सहृदय व्यक्ति हैं। 'कलाविद्' के गौरव से आप विभूषित हैं। आपके छोटे छोटे गद्य-काव्य अनुपम सरसता और काव्योपम मर्म लिए होते हैं। बनारस के साहित्य-मंडल में आप विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त हैं।

क—यह गद्यखंड अन्योक्तिमय है। इसका अभिप्राय आध्यात्मिक है। ध्वन्यार्थ में लेखक का संकेत यह मालूम होता है कि भगवान् मनुष्य से स्वयं उचित समय पर उचित काम करा लेता है।

ख—चंद्र और चकोर की उक्ति केवल कवि-प्रौढ़ोक्ति है। यह भी एक आध्यात्मिक अन्योक्ति है। मनुष्य व्यर्थ में बाहरी परिस्थितियों में आनंद खोजता है। वह तो उसी के पास है।

ग—यह भी एक सुंदर आध्यात्मिक अन्योक्ति है। आत्मविज्ञापन करनेवाले को भगवान् नहीं मिलते यही इसका अभिप्राय है।

घ—अभिमान की निस्सारता प्रदर्शित करने के लिये यह एक अन्योक्ति है। इसका प्रसङ्ग भी आध्यात्मिक है।

विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक—

कौशिक जी कानपुर के एक पुराने और संभ्रांत नागरिक हैं। आप बड़े ही सहृदय और एक सहज कृपालु-मित्र हैं। मुझे उनके संपर्क का सौभाग्य है। आपके मित्रों का भी एक मंडल बन गया है। श्री बालकृष्ण शर्मा, भगवतीचरण वर्मा, रमाशंकर अवस्थी, चंडिका-प्रसाद मिश्र आदि साहित्यिक सज्जन कौशिक-मंडल के प्रमुख सदस्य हैं। कौशिक जी, अँगरेज़ी, फ़ारसी, बँगला, गुजराती आदि कई भाषाओं के अच्छे ज्ञाता हैं। आप कई वर्ष तक 'हिंदी-मनोरंजन' निकालते रहे,

जो अपने ढंग का अनूठा कहानी-मासिक पत्र था। पहले आप भी उर्दू में लिखा करते थे; अब आप पूर्ण-रूप से हिंदी-सेवी हैं।

विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक पर प्रतापनारायण मिश्र की पूरी छाप है। मूर्तिपूजा का दिखावटी पाखंड हिंदुओं में बहुत प्रचलित है। इस पत्र में लेखक ने तीखे व्यंगों द्वारा इस भावना पर आक्रमण किया है। विजयानंद एक उपनाम-मात्र है। विजया में आनंद लेने-वाला व्यक्ति बे-फ़िक्री से खरी खरी बातें कह भी सकता है। विजया-नंद जी के ऐसे पत्र 'चाँद' में निकले हैं।

आम के आम और गुठलियों के दाम = दोहरा काम निकालना।

ईश्वरी = देवी के अर्थ में प्रयोग किया गया है।

नापास = अस्वीकृत।

'हमारे शहर' से अभिप्राय कानपुर।

कंपाउंड = क्षेत्र।

पतियाते = विश्वास करते हैं।

अल्लम गल्लम = सब प्रकार की वस्तुएँ।

तमादी = अतिकाल हो रहा था।

तवल्लुद = प्रकट।

टँह्याँ से = नेत्र खोले हुए।

पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी—

बख़्शी जी पहले इलाहाबाद में रहते थे; अब आप सी० पी० में रहते हैं। आचार्य्य द्विवेदी जी के बाद आपने 'सरस्वती' का संपादन-भार ग्रहण किया और आपने उसे सर्वांग-सुंदर बनाने में कोई क़सर न रक्खी। आप आलोचनात्मक विषयों के गंभीर और सुंदर प्रबंध-लेखक हैं। आपका साहित्य का अध्ययन गहरा और विस्तृत है। आपकी आलोचना-पद्धति में रामचंद्र शुक्ल की कोटि का प्राच्य और

पाश्चात्य आलोचना-आदर्श का संमिश्रण है। आपमें यह एक विशेषता है कि आपकी विवेचना-प्रणाली शुक्ल जी की अपेक्षा सरल है। उल्लिखित लेख में आपने नाटक क्या वस्तु है, इसकी अच्छी मीमांसा की है।

क्लाउन = Clown.

बफून = Buffoon.

पाणिनि = संस्कृत के प्राचीन व्याकरण-रचयिता।

संयोगांत = सुखांत, Comedy. वियोगांत=दुःखांत, Tragedy.

'नाट्यं भिन्न······समाराधनम्'।

भिन्न रुचिवालों का नाटक एक समभाव से आकृष्ट करनेवाला है।

जयशंकरप्रसाद—

प्रसाद जी का जन्म माघ शुक्ल दशमी संवत् १९४६ को काशी में हुआ था। आपके पिता देवीप्रसाद जी (सुंघनी साहु) बनारस के प्रसिद्ध व्यवसायी थे। प्रसाद जी ने बाल्यावस्था में अधिकांश शिक्षा घर में ही ग्रहण की है। नवयौवन में पदार्पण करते ही आपके पिता और ज्येष्ठ भ्राता की मृत्यु के परिणाम-स्वरूप आपको गृहस्थी के जंजाल में फँसना पड़ा। किंतु आप संस्कृत, फ़ारसी, अँगरेज़ी आदि की शिक्षा पा रहे थे ही, अतः आपने शिक्षा और अध्ययन का क्रम जारी रक्खा। आपने हिंदी में उत्कृष्ट नाटक-रचना की है, और आप एक महान् कवि हैं। आपकी कृतियों में पारलौकिक भाव का चमत्कार रहता है। आपने अनेक कहानियाँ और एक सुंदर उपन्यास भी लिखा है। प्रसाद जी निरभिमानी और मिलनसार व्यक्ति हैं। सरस, सहृदय और मस्त रहनेवाले प्रसाद जी बनारस के एक ज़िंदा-दिल साहित्य-सेवी हैं। 'एक घूँट' आपकी अपने ढंग की सर्वोत्कृष्ट कृति है।

इस पद्य में प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय कथानक के वास्तविक स्वरूप की ओर संकेत करता है।

टीस=वेदना।

छोटी छोटी कल्पना के उपासक=खंडित कल्पना-खंड को संचित करनेवाले कवि।

स्वरविन्यास=संगीत की स्पष्टता।

मुक्त प्रेरणा=अनवरुद्ध स्फूर्ति।

गुर्राने लगते हैं=आनंद-प्रवाह में व्याघात उपस्थित करते हैं।

इस एकांकी नाटक के पात्र—

बनलता=कवि रसाल की पत्नी जिसका पति कविता में लगा रहता है और पत्नी के प्रेम का उचित मात्रा में प्रत्युत्तर नहीं देता।

रसाल=बनलता का पति—आश्रम का कवि।

प्रेमलता=आश्रम की क्वारी कन्या।

आनंद=आनंद का संदेश लेकर घूमनेवाला स्वच्छंद प्रेम का प्रचारक नवयुवक दार्शनिक।

कुंज
मुकुल } =दो पुरुष पात्र आश्रमवासी।

रामदास गौड़—

पं० रामदास गौड़ पहले 'विज्ञान' के संपादक थे। आपने प्रयाग में जो विज्ञान-मंडल स्थापित किया था, उसके द्वारा आपने हिंदी-साहित्य में विज्ञान-विषयक बहुत सामग्री उपस्थित की है। आप इस मंडल के सर्वेसर्वा थे। आप प्रयाग-विश्वविद्यालय में विज्ञान विभाग के प्रोफ़ेसर थे। आप हिंदी में विज्ञान-विषयक अत्यंत उत्कृष्ट लेखक हैं। विशेष परिचय के लिये भूमिका देखिए।

चार्वाकों की नाईं=नास्तिकों की भाँति।

चार्वाक एक ऋषि थे जिन्होंने लोकांतर और जन्मांतर के विश्वासों का खंडन किया है, और जीवन की सारी इयत्ता इसी वर्तमान जीवन में ही सीमित मानी है। ये घोर जड़-वादी थे और इन्होंने वेदों की अलौकिकता और ईश्वर की स्थिति को भी स्वीकार नहीं किया है।

हस्तामलकवत् = हाथ में लिए हुए आँवले के सदृश स्पष्ट।

ज़िब्रईल = एक फ़रिश्ता, बाइबिल के कथानक की ओर संकेत है।

योगक्षेम = अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति-साधन का नाम 'योग' है और प्राप्त वस्तु की यथोचित रक्षा को 'क्षेम' कहते हैं।

योग्यतमावशेष = Survival of the fittest.

श्लोक का अर्थ—

आपत्ति काल के लिये धन की रक्षा करनी चाहिये और धन से स्त्रियों (को अधिक समझकर उनकी) रक्षा करनी चाहिये, परंतु अपनी रक्षा हमेशा करनी चाहिये, धन से भी और स्त्री से भी।

डारविन = विकासवादी दार्शनिक।

'पर' = संस्कृत में शत्रु को कहते हैं।

उपस्त्री = रखैली स्त्री।

युयुत्सा=युद्ध की इच्छा।

हक्सले = एक योरपीय दार्शनिक।

श्लोक—धर्म्म से ऊर्ध्वगमन होता है और अधर्म्म से निम्नगमन होता है।

माखनलाल चतुर्वेदी—

पं० माखनलाल चतुर्वेदी अभी अपनी ४२ वर्ष की आयु में एक विचित्र प्रतिभा लेकर गद्य और पद्य लिखने में अग्रसर हुए। वे एक नवीन शैली के ही उद्घाटक नहीं हैं वरन् एक नवीन युग के तरुण अरुण हैं। उनका नेतृत्व साहित्य-क्षेत्र के नये प्रांगण में बे-जाने

स्वीकृत है। जिस प्रतिनिधि-भावना का संकेत साहित्य-देवता की अंतिम पंक्तियों में लेखक ने दिया है वह आत्मनिदर्शन न होकर तथ्य-निरूपण है। आज के कवि और लेखक उन्हें चाहे पढ़ें भी नहीं परंतु साहित्य का इतिहास उन्हें प्रतिनिधि अवश्य मानेगा। माखनलाल जी में हिंदी, उर्दू और अँगरेज़ी सभी शब्द धड़ल्ले से प्रयुक्त मिलते हैं फिर भी आज-कल की 'हिंदुस्तानी' कहलानेवाली उनकी भाषा नहीं है। इस पुस्तक के उनके दोनों पाठ गद्य में रहस्यवाद के अच्छे उदाहरण हैं। लेखक की भावना ससीम और प्रत्यक्ष से उठकर असीम और परोक्ष की ओर खींच ले जाती है। आज-कल कर्मवीर का संपादन करते हुए मध्यप्रांत की साहित्यिक सेवा कर रहे हैं। उनके सब लेख पद्यमय और कला-परिपूर्ण होते हैं।

(क) साहित्य-देवता

इस पाठ में लेखक ने 'साहित्य-देवता' के अभिधान से साहित्य को मूर्त्त स्वरूप देकर अपनी साहित्य-विषयक प्रतिभा को पाठकों के समक्ष रखा है। कलाकार कहता है 'तसवीर खींचना चाहता हूँ' साहित्य के स्वरूप को यथातथ्य अंकित करना चाहता हूँ। इसी रूपक में पूर्ण निबंध को समझने का प्रयास करना चाहिये। कलाकार और कला-विषय का परस्पर संबंध क्या है इसको ही आरंभिक पंक्तियों में दिखलाया गया है।

आइने = दर्पण, दूसरे के आँके हुए मूल्य।

क़लम के घाट उतरने के समय = निरूपण किए जाने के समय।

'पत्थर' = जिसकी प्रतिमा बनती है, अर्थात् साहित्य विषय।

अड़चनों = अभावों।

कौन सा आकार हूँ = इस वाक्य के आरंभ के पैरेग्राफ़ के पूर्व ही साहित्य और कलाकार का कथोपकथन समाप्त हो जाता है।

मुग्ध = कसमसाते हुए भी प्रशांत।

तुम तो, वाणी......जगमगाहट=तुम बोलती हुई मुक्ति के भीतर से झाँकते हुए दैवी आलोक के मोती की झिलमिलाहट हो।

लहरों......हुए=सबसे पृथक् रहकर भी सबको आलोकित करते हुए।

ज़मीन से मिलानेवाले आसमान के ज़ीने=स्वर्ग और मर्त्य का सोहाग।

लाँगफ़ैलो=एक अँगरेज़ी कवि।

'शंभु'=कानपुर-निवासी एक भक्त कवि हैं। पं० माखनलाल इन की कविता बहुत पसंद करते हैं।

नगाधिराज=हिमालय। निम्नगाओं=सरिताओं।

देवत्व को मानवत्व की चुनौती है। साहित्य के बल पर मनुष्य मृत्युलोक को स्वर्ग बनाकर देवताओं की भाँति सुखी रह सकता है इसका यह भी संकेत हो सकता है कि 'साहित्य' की अलौकिकता मनुष्य को देवताओं की सिहानेवाली वस्तु बना देती है।

किंतु हे अनंत......भरते होते=साहित्य ही मनुष्य और निम्न सृष्टि का भेद निर्धारित करता है।

तरल तूलिकायें=चंचल परिस्थितियाँ।

अराजक=किसी नियम को न माननेवाला। क्रांति का उपासक, अर्थात् साहित्य किसी उपादान में बँध नहीं सकता।

बृहस्पति=देवगुरु।

'उतरन' से संकेत अनुवाद से है।

भिखारिन=संस्कृत की ओर संकेत है।

'बेतार का तार'=हमारे साहित्य में विज्ञान-साहित्य का कितना अभाव है यह इस स्थल पर संकेत किया गया है।

पितृतर्पण करनेवाले अल्हड़ों को लेकर युग=पूर्वजों को गौरव देनेवाले नये खेवे के लापरवाह साहित्य-सेवी।

'कलियाँ' नितांत नवयुवक कवियों की ओर संकेत है।

'अशेष, शेष का खिलवाड़'=ससीम और असीम का अनूठा समन्वय। नवयुवक कवियों के प्रति युग परिवर्तन की आशा दिखाई गई है।

अंतिम पंक्तियों में नये निर्माणकों के आशा की अभिव्यक्ति है।

(ख) मुरलीधर

'मुरलीधर' कृष्ण को केवल एक प्रतीक मान कर लेखक ने अखंड सत्ता की परोक्ष परिस्थिति की ओर अपने भाव अभिव्यक्त किये हैं।

इस पाठ के अधिकांश शब्द संकेतात्मक हैं।

छिद्र पर उंगलियाँ रखना=दोष निकालना।

सद्गुरुशरण अवस्थी—

रहस्यवाद—

सर्वभूतेषु······सात्विक

सात्विक ज्ञान वह है जो सर्वभूतों में एक अविनाशी भाव देखता है तथा विभिन्न तथा विभक्त स्वरूपों में अविभिन्नता और अविभक्तता देखता है।

यक 'करनी' का भेद है—इत्यादि।

इस पद में 'करनी' शब्द का अर्थ समझ लेने की आवश्यकता है। यहाँ ज्ञान-कांड और कर्म-कांड की सापेक्षित विवेचना नहीं है। 'करनी' शब्द वेदोक्त कर्म-कांड के लिये नहीं आया है। संत लोग वास्तव में ऐसे कर्म-कांड-विरोधी रहे हैं। करनी से यहाँ 'सुरत-शब्द' अभ्यास से तात्पर्य है। यह एक विशेष प्रकार का साधन है, जिसके द्वारा आध्यात्मिक निरूपण का विधान विवक्षित किया गया है। अर्थात्

'करनी' शब्द से संत उस दैनिक अभ्यास की ओर इंगित करता है, जिसके द्वारा अखंड ज्योति का साक्षात्कार होता है।

'न जायते म्रियते'=न कभी जन्मता है और न कभी मरता है।

न हन्यते···शरीरे—शरीर के विनाश के साथ उसका विनाश नहीं होता।

कबीर ने स्वयं अपने जन्मांतर के लिये लिखा है—

पुरब जनम हम बाँम्हन होते ओछ करम तप-हीना।
रामदेव की सेवा चूकी, पकरि जुलाहा कीना॥

दिवाने मन, भजन बिना दुख पैहो।
पहले जनम भूत का पैहो, सात जनम पछितैहो;
काँटा पर के पानी पैहो, प्यासन ही मरिजैहो।
दूजा जनम सुआ का पैहो, बाग बसेरा लैहो;
टूटे पंख, बाज मँड़राने, अधफड़ प्राण गँवैहो।
बाजीगर के बानर होइहो, लरिकन नाच नचैहो;
ऊँच-नीच के हाथ पसरिहो, माँगे भीख न पैहो।
तेली के घर बैला होइहो, आँखिन ढाँप ढँपैहो;
कोस पचास घरै में चलिहो, बाहर होन न पैहो।
पँचवाँ जनम ऊँट का पैहो, बिन तोले बोझ लदैहो;
बैठे से तो उठन न पैहो, घुरुचि घुरुचि मरि जैहो।
धोबी के घर गदहा होइहो, कटो घास ना पैहो;
लादि लादि आपहु चढ़ि बैठी लै घाटे पहुँचैहो।
पंछी माँ तो कौवा होइहो करर-करर गुहरैहो;
उड़ि के जाय बैठि मैले थल गहरे चोंच लगैहो।

संत नाम की टेर न करिहो मन-ही-मन पछितैहो ;
कहैं कबीर सुनो भाई साधो नरक निसानी पैहो।

अँगरेज़ी कवि वर्ड्सवर्थ कहता है—

Our birth is but a sleep and forgetting.
The Soul that rises with us, our life star,
Hath had elsewhere its setting.
But like hailing clouds of glory.
Do we come.

अर्थ—हमारा जन्म एक प्रकार की निद्रा और विस्मरण है। जो आत्मा हमारे साथ उठती है वही हमारा जीवन-नक्षत्र है—वह अन्यत्र कहीं अवश्य डूबा होगा। हम दैवत्व के प्रकाश से लिपटे हुए जन्म लेते हैं।

पूर्व तद्रूप, तद्रूप, प्राक् तद्रूप = अँगरेज़ी में इन अवस्थाओं को Becoming, being and more than being कह सकते हैं।

गणेशशंकर विद्यार्थी—

श्रद्धेय गणेशशंकर विद्यार्थी का जन्म सन् १८९० में हुआ था। आपका जीवन त्याग और तपस्या की एक अपूर्व आहुति थी। आप हिंदी के श्रेष्ठ साप्ताहिक पत्र 'प्रताप' के जन्मदाता और संपादक थे। आपने कुछ काल तक 'प्रभा' (मासिक) का भी संपादन किया। आप एक कुशल संपादक और राजनैतिक योद्धा थे। कानपुर के नागरिक जीवन के आप प्राण थे। आप हिंदी के एक उद्भट लेखक थे; और अखिल भारतवर्षीय हिंदी-साहित्य-संमेलन गोरखपुर के आप सभापति थे। गत २५ मार्च सन् १९३१ को कानपुर के भीषण हिंदू-मुस्लिम दंगे में आहतों और पीड़ितों की सेवा करते हुए आपने प्राण दे दिए। आपने बहुत-सी अँगरेज़ी पुस्तकों का अनुवाद किया है; और

सहस्रों मौलिक लेख लिखे हैं। उल्लिखित-निबंध आपकी ज्वलंत राष्ट्रीय भावना का प्रतिनिधि स्वरूप है।

विभीषण = अनादर, देशद्रोही-सूचक संबोधन।

रसद = भोजन-सामग्री।

सामा और कोदों = दो प्रकार के चावल (धान)।

घी के दीपकों को जलाना = प्रसन्न होना।

हरिश्चंद्र = सत्यवादी हरिश्चंद्र की डोम के घर की सेवा की ओर संकेत है।

चेतक = राणा प्रताप का प्रसिद्ध घोड़ा।

रा० ब० हीरालाल—

स्वयं इस लेख से आपके विषय में बहुत कुछ ज्ञात हो जाता है।

रा० ब० हीरालाल सी० पी० निवासी हैं। पहले आप बिलासपुर में इंसपेक्टर आफ़ स्कूल्स थे। आपने वहाँ रह कर कई सरकारी ओहदों पर काम किया है। आपने जार्ज ग्रियर्सन साहब को भारतीय भाषाओं के निरूपण में बड़ी सहायता दी है। पुरातत्त्व और इतिहास आपके प्रमुख विषय हैं। उल्लिखित लेख "लंका की स्थिति" में आपने एक बड़े रोचक विषय पर प्रकाश डाला है।

इसी विषय पर ग्वालियर के मि० कीबे ने कई विद्वत्तापूर्ण लेख लिखे हैं।

सागर सरदार = कदाचित् सेतुबंध के समय रामचंद्र का बाण मार कर सागर को क्षुब्ध करने की कथा की ओर संकेत है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय—

हिंदी गद्य और पद्य के अद्वितीय लेखक पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय वैशाख कृष्ण तृतीया संवत् १९२२ में निज़ामाबाद (आज़मगढ़)

में पैदा हुए। इन्होंने हिंदी, उर्दू और अँगरेज़ी का अच्छा अध्ययन किया है। क़ानूनगो के पद से पृथक् होकर इस समय आप हिंदू-विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग के प्रोफ़ेसर हैं। गद्य और पद्य आप दोनों ही लिखते हैं और दोनों में ही आपका उच्च स्थान है। आपकी गद्य की शैलियाँ दो प्रकार की हैं—कहीं कहीं पर तत्सम शब्दों से गर्वित बड़े बड़े वाक्यों से समन्वित आपकी रचना-प्रणाली बोझीले ढंग से चलती है और कहीं-कहीं पर चलते हुए महावरों के छोटे-छोटे फुर्तीले वाक्य दिखाई पड़ते हैं। आपने बहुत-से प्रबंध लिखे हैं, वे आलोचनात्मक और वर्णनात्मक भी हैं। कबीरदास के संबंध में कबीर-वचनावली की भूमिका स्वरूप एक अच्छा प्रबंध लिखा है। कबीरदासजी की कविता पर प्रत्येक पहलू से प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत पाठ उसी का एक अंश है।

मौलाना रूम = फ़ारसी का एक सूफ़ी कवि।

व्यापक भाव = सर्वत्र।

भावापन्न = विचारों से भरी हुई।

अस्फुट रूप से = दबी हुई ज़बान से।

कतिपय = कुछ।

पंथ = संप्रदाय।

तमविदूरित = अंधकार नष्ट होते हैं।

भ्रांत हो जाना = धोखे में पड़ जाना।

अकांड तांडव = व्यर्थ के कार्य्य।

शमन = नष्ट।

प्रतीक उपासना = मूर्तिपूजा।

बुतपरस्ती = मूर्तिपूजा।

बाँग देना = सुबह के समय मुसलमानों का ईश्वर की याद में आवाज़ लगाना।

विप्लव = क्रांति ।

मेक्समूलर = एक योरपीय संस्कृत विद्वान् ।

विकृत होना = बिगड़ जाना ।

वियोगी हरि—

आप एक प्रतिभा-संपन्न गद्य-लेखक हैं। आपका गद्य सरस पद्य होता है। आपका जन्म संवत् १९५३ छत्रपुर बुंदेलखंड में हुआ है। आप ऊँचे भक्त और सरस काव्य-मर्मज्ञ है, आपका असली नाम हरिप्रसाद द्विवेदी है। आपकी शैली मधुर, आकर्षक और चुटीली होती है। पद्य की सरस उक्तियों को गद्य की लड़ी में पहनाकर गद्य और पद्य के भेद को नष्ट करनेवाली आपकी शैलो बड़ी मार्मिक और आकर्षक होती है। छद्मयोगिनी, प्रबुद्धयायुन आपके दो अभिनय हैं। ब्रजमाधुरी सार, संक्षिप्त सूरसागर, सूरपदावली, बिहारीसंग्रह, मीरा सहजो और दाराबाई का पद-संग्रह, भजनमाला आदि इनके अच्छे ग्रंथ हैं। "प्रेमयोग और भक्तियोग", साहित्य-बिहार, तरंगिणी, अंतर्नाद, पगली इनके अन्य ग्रंथ हैं। वीरसतसई इनका प्रसिद्ध काव्य-ग्रंथ है।

लागिरहा ततजीव = प्राण तत् स्वरूप से चिपके हुए हैं।

पुट = हलका आवरण।

उसमान = एक प्रसिद्ध मुसलमान हिंदी कवि है।

मौलाना रूम = फ़ारसी के एक प्रसिद्ध रहस्यवादी कवि हैं।

दादूदयाल = एक प्रसिद्ध भक्त संतकवि हैं।

चरणदास = भी एक रामभक्त संतकवि हैं।

मीर = उर्दू के एक कवि।

घनानंद = ब्रजभाषा के एक प्रसिद्ध कवि हैं।

'हसरते दीदार' = दर्शन की इच्छा।

गालिब = उर्दू के प्रसिद्ध कवि।

आलम = एक कृष्णभक्त मुसलमान कवि थे।

कामुका = इच्छुक।

फ़ना = लय।

देवीप्रसाद पूर्ण = कानपुर के एक प्रसिद्ध वकील थे। इनको ब्रजभाषा की कविता लिखने में बड़ा अनुराग था। इन्होंने मौलिक और अनुवाद दोनों रचनायें की हैं।

इंशाअल्लाहख़ाँ—

इनके संबंध में यह प्रसिद्ध है कि हिंदी गद्य के चार उन्नायकों में इनका स्थान है। वास्तव में ये प्रसिद्ध आदि-मौलिक लेखक हैं। उर्दू वाले इन्हें उर्दू का आदि-लेखक मानते हैं। इनके संबंध में अधिक विवेचना भूमिका में की गई है। इनकी जीती जागती शैली में प्राण फूँक देने की क्षमता थी। उसमें नागरिकता चाहे उतनी न हो परंतु चुटीलापन बहुत था।

यह कहानी भारतीय जनश्रुति पर आश्रित होते हुए भी मौलिक है। कहानी का अंतिम भाग निकाल दिया गया है।

छुट = छोड़कर।

पुट = आवरण।

आतियाँ-जातियाँ = 'आती', 'जाति' का बहुवचन।

कल का पुतला = मनुष्य।

सकत = शक्ति।

पहले खुदा की इबादत है और फिर रसूल की।

डाँग = पलता बूढ़ा व्यक्ति।

घाग = चंट।

खटराग लाए = बहाना किया।

थुथाकर = फुलाकर।

भाषापन = गँवारू बोली ।
डौल = स्वरूप ।
ढब = ढंग ।
कुट करती हूँ = 'खुट्टी' करती हूँ, असहयोग करती हूँ ।
नोची खसोटी उजड़ी = सौंदर्य का खंडहर लिये हुए ।
चाहत = प्रेम ।
बेडौल = निरुद्देश्य ।
बिनसपत्ती = बनस्पति ।
तावभाव = नखड़ा और संकोच ।
पानी डाल दो = भुला दो ।
ढलाव = झुकाव ।
मुरकवाकर = मरोड़कर ।
टुक = थोड़ा-सा ।
लटके = विधान ।
छालें = छलाँगें ।